ओ३म्

आत्मविज्ञान

(SCIENCE OF SOUL)

अर्थात्

आत्म-साक्षात्कार के पुरातन भारतीय विज्ञान
को पुनरावृत्ति

प्रणेता

राजयोगाचार्य

बाल-ब्रह्मचारी श्री स्वामी व्यासदेव जी महाराज

प्रकाशक :—

योग निकेतन ट्रस्ट

गङ्गोत्तरी

उत्तरकाशी (हिमालय),

स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (उत्तराखण्ड)

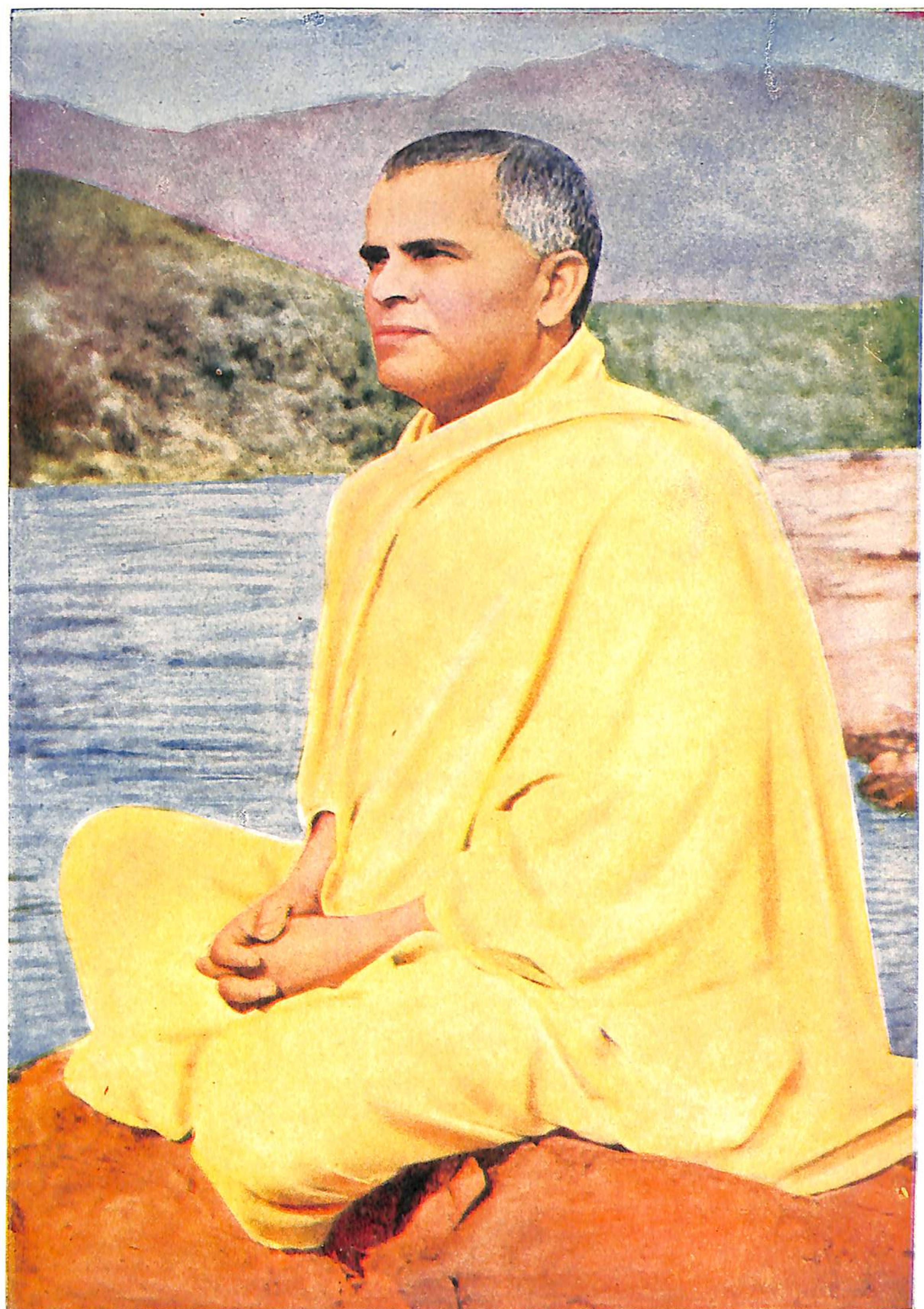
(भारत)

पुस्तक मिलने काता :—
योग निकेतन ट्रस्ट,
डाकखाना स्वर्गाश्रम
रेलवे स्टेशन ऋषिकेश
(ज़िला - देहरादून)—भारत

प्रथम संस्करण (हिन्दी)
१९५९ (विक्रम सं० २०१६
द्वितीय संस्करण (हिन्दी)
१९६४ (विक्रमी सं० २०२१)

मूल्य ।
बढ़िया पन्द्रह रुपए १५)रु०
साधारण दस रुपए १०) रु
संस्करण अंग्रेजी
मूल्य बारह रु पए१२) रु०

मुद्रक
रामा प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली-६



राजयोगाचार्य बाल-ब्रह्मचारी श्री स्वामी व्यासदेव जी महाराज

ओ३म्

प्रकाशक की ओर से निवेदन

योग साधना भारत की, संसार को श्रेष्ठतम देन है। सृष्टि के आदिकल्प से लेकर आजतक इस पुण्य भारत वसुन्धरा ने कई योगनिष्ठ महान् आत्माओं को उत्पन्न किया जिन्होंने समय-समय पर इस पवित्रतम योगमार्ग पर प्रकाश डाला है। भगवान् ने स्वयं अपने अमृत पुत्रों--जीवों के कल्याणार्थ, अपनी कल्याणी वेदवाणी द्वारा इस परमपवित्र योगविद्या का संकेत—

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतोऽधियादिवम्।
बृहज्ज्योतिःकरिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥

यजु०अ०११ मं०३

आदि मंत्रों द्वारा कई स्थलों पर किया है। भगवान के परम्पद—मोक्ष पद को प्राप्त करना ही जीव का परम लक्ष्य है।

योग साधना ही एकमात्र एसा राजमार्ग है, जिस पर चल कर जीव उस विष्णु के परंपद को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण समय-समय पर बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों ने इस अनुपम विद्या पर प्रकाश डाला।

यद्यपि हमारे साहित्य में महर्षि हिरण्यगर्भ को इस योग विद्या का आदि आचार्य माना गया है, परन्तु इस समय उपलब्ध ग्रन्थों में केवल महर्षि पतञ्जलि का योगसूत्र ही एक ऐसा प्रामाणिक शास्त्र है जिसमें कुछ विस्तार से इस पावन योग विद्या का वर्णन मिलता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी सूत्रों में ही इस विद्या का दिग्दर्शन कराया है —

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

योग०पाद १। सू०२

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

योग० पाद १। सू० ३

इस स्थित का तो उन्होंने संकेत कर दिया परन्तु साधक, साधना किस प्रकार से करे, किन-किन चित्त की भूमियों को दृढ़ करता हुआ, किस प्रकार भिन्न-भिन्न अभ्यास की अवस्थाओं को पार करता हुआ उस 'स्वरूपावस्थिति' को प्राप्त हो इसका विशद् उल्लेख कहीं दृष्टिगोचर न होता था। इसके अभाव में साधक को तड़प-तड़प कर रह जाना पड़ता था।

हमारा बड़ा सौभाग्य है कि कृपालु भगवान् ने इस युग के महान् तपस्वी, आत्मदर्शी, योग के गूढ़तम रहस्यों के साक्षात्कार करने वाले योगीराज महाराज बाल-ब्रह्मचारी श्री व्यासदेव जी महाराज को प्रेरणा की कि वे एक ऐसे **योग-शास्त्र** की

रचना कर साधकों की आत्म-पिपासा को मिटायें और ऋषियों की अनुपम देन, इस योग विद्या का पुनरुत्थान करें। समाधिस्थ अवस्था में प्राप्त इस प्रेरणा द्वारा ही महाराज जी ने अपने कर कमलों में लेखनी को गतिशील किया और अपने ब्रह्मनिष्ठ एवं योगनिष्ठ समूचे जीवन के निष्कर्ष 'आत्मविज्ञान' रूपी अमृत को, अध्यात्म-गङ्गा के रूप में गङ्गोत्तरी में बैठ कर प्रवाहित किया।

जिस प्रकार से स्वयं भगवान्

"परिप्रासिष्यदत् कविः'

सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।

कारूं बिभ्रत् पुरू-स्पृहम्.........॥"

ऋग्० म० ६। सू० १४। मं० १।

सिन्धु की लहरियों पर अधिश्रित्, स्वयं भगवान् कवि बनकर, लोकप्रेम की वीणा लेकर चहुं ओर फैल गया। इसी प्रकार महाराज ने चित्तरूपी सागर की वृत्तियों का निरोध कर, सारी आयु योग की साधना कर, गङ्गोत्तरी से मानसरोवर और कैलाशादि तक घूम-घूम कर और एक ही रात में योगनिष्ठ महात्मा से योग विद्या के गूढ़तम विज्ञान के रहस्यों को स्वयं सीख कर पुनः धारणा, ध्यान समाधि द्वारा उन आन्तरिक गूढ़ तत्त्वों का साक्षात् दर्शन तथा अनुभव करके, लोक कल्याण की पवित्र भावना से प्रेरित हो इन सब निजी अनुभवों का आध्यात्मिक रहस्यों का इस प्रस्तुत 'आत्मविज्ञान' रूपी वीणा द्वारा गान किया है।

प्रकाशन संस्था के अधिकारियों को इस अनुपम ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हुए जो हर्ष और गर्व हो रहा है वह तो 'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।' वाली बात है।

हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं जिन से महाराज योगीराज बाल ब्रह्मचारी श्री व्यासदेव जी के चरणों का हम धन्यवाद कर सकें जिन्हों ने समाधि-आनन्द से अमूल्य समय निकाल कर, हमारी प्रार्थना स्वीकार कर यह अनुपम ग्रन्थ लिखा। हमें पूर्ण आशा है कि भारत ही नहीं अपितु संसार भर के भटकते हुए मानव समाज को इस महान् ग्रन्थ से प्रकाश मिलेगा और संसार योगनिष्ठ हो कर सच्ची शान्ति तथा परम आनन्द को प्राप्त कर सकेगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः।

सर्वे सन्तु सुयोगिनः॥

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु।

मा कश्चिद्दुःख-भाग्भवेत्॥

—योग निकेतन ट्रस्ट।

ॐ

आत्म-विज्ञान

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

॥ ॐ ॥

उपोद्‌घात

ॐ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

(ऋ० ८-९८-११)

हे सर्वशक्तिमन् ! आप सब को अपने अन्दर वास देने वाले हमारे पिता तथा सैकड़ों उपकार करने वाली माता हैं; इसलिए मैं पवित्र और विनम्र मन से आपको नमस्कार करता हूँ । हे पतित पावन, अन्तर्यामिन् जगत्पते ! मैं अध्यात्मविज्ञान के जिज्ञासु मुमुक्षुजनों की कल्याण-कामना से यह लेखनी उठा रहा हूँ, जिस से मनुष्यमात्र आत्मसाक्षात्कार के द्वारा कृतकृत्य हो सके । आशीर्वाद दीजिए कि मैं ऐसा करने में समर्थ हो सकूँ ।

प्राचीनकाल में लौकिक कर्त्तव्यों से निवृत्त गृहस्थ एवं बालब्रह्मचारी महानुभाव लोककल्याण-कामना से तथा आध्यात्मिक उन्नति की इच्छा से अरण्यखण्डों में जाकर बस जाते थे । वहाँ अपनी आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ जाति की उत्कृष्टता बनाए रखने के लिये 'आध्यात्मिक पुट' द्वारा जाति के बालकों का 'लौकिक-शिक्षण' करते थे । जनता ही नहीं वरन् राजा-महाराजों को भी यह विश्वास होता था कि जिन आचार्यों के पास देश के बालक शिक्षा पाने जाते हैं वे देश, जाति, समाज के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में से ही हैं । वे वनस्थ-आचार्य जहाँ लौकिक विद्याओं में निष्णात होते थे वहाँ 'परा-विद्या' में भी पारङ्गत होते थे । वे परम-विरक्त, संयमी, जितेन्द्रिय, सदाचार की प्रतिमा, आत्मदर्शी, भूतदया से आप्लावित हृदय वाले, सूक्ष्मदर्शी, पंचकोश-युक्त व्यष्टि तथा समष्टि-योग विज्ञान में परिपूर्ण, ब्राह्मीस्थिति-प्राप्त और ब्रह्मचर्यव्रत-निष्ठ होते थे । वे अपने विनयशील शिष्यों में गुह्य 'दहर-विद्या' आत्म-विज्ञान का आधान करने में भी पूर्ण समर्थ होते थे । 'विद्या ददाति विनयम्' इस वचन के अनुसार, वे महान् आत्मायें 'अतिमानवता' का पद प्राप्त करके भी—दुरभिमान शून्य, आत्मश्लाघा विहीन, विनम्र एवं सरल होते थे । ऐसे महानुभावों के समीप जाकर, उनके अन्तेवासी बनकर, आर्यजाति के बालक ही नहीं, वरन् युवा, वृद्ध, नर-नारियाँ, श्रेष्ठी, राजे-महाराजे सभी मुमुक्षुगण, आत्म-जिज्ञासा की पिपासा को बुझाकर संतृप्त होते रहते थे ।

उस समय का जातिगत-चरित्र अत्यन्त ऊँचा था । अतः सब मुख्य संस्कारों से सुसंस्कृत गृहस्थों के बालक भी—नचिकेता, सत्यकाम जैसे सत्यमूर्त्ति होते थे, जिन्हें आत्मदर्शन तथा ब्रह्मप्राप्ति के अतिरिक्त अन्य कोई कामना नहीं होती थी । उन के

जीवन की उच्चता के वृत्तान्तों को पढ़ कर विद्वानों को भी उनसे स्पर्द्धा-सी होती है। मुमुक्षु-जनों को उन का अनुकरण करते हुये निज को विनयशील, गुरुसेवा-परायण, सत्यवादी, धर्मात्मा, पुरुषार्थी, सदाचारी, जितेन्द्रिय, तितिक्षु तथा सन्तोषी बनना चाहिए, क्योंकि दुर्गुणी और दुर्व्यसनी, कटुभाषी व्यक्ति 'आत्मविज्ञान' जैसी उच्चशिक्षा के अधिकारी कदापि नहीं हो सकते।

सच्चरित्र, विनयी, मधुर, प्रियभाषी शिष्यों को लेकर आचार्य उन्हें उपनीत करके वेदारम्भ पूर्वक लौकिक शिक्षा के साथ-साथ आध्यात्मिक शिक्षा का भी शिक्षण (ओंकार, गायत्री आदि के जपानुष्ठान के द्वारा) प्रारम्भ करा देते थे। ब्रह्मचर्य का पालन तो सब के लिए अनिवार्य होता ही था; किन्तु जो प्रौढ़ व्यक्ति आत्म-जिज्ञासा लेकर आते थे उन्हें भी ब्रह्मचर्यव्रत-अनुष्ठान-पूर्वक 'अन्तेवासी' के रूप में रक्खा जाता था और उन्हें जप, तप, स्वाध्याय पूर्वक, अष्टाङ्गयोग में दीक्षित कर के आसन तथा प्राणायामों के अभ्यास से शारीरिक-शुद्धि तथा यम-नियमों के पालन सहित धारणा, ध्यानादि द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि कराते थे। उपनिषद्-ग्रन्थों में सर्वत्र ही अन्तेवासी बनकर गुरुजनों के समीप ब्रह्मचर्यपूर्वक श्रद्धा से 'सेवारूप' तपश्चरण के द्वारा अपनी 'चित्त-भूमि' को सुसंस्कृत करते हुये आचरण करने की परम्परा स्पष्ट दीखती है। शिष्यगण तन, मन तथा धन, भिक्षा, समिधा तथा गोसेवा द्वारा आचार्य की सेवा कर के प्रसन्नता का अनुभव करते थे, और गुरुजनों को अपनी सेवा तथा सदाचार से सन्तुष्ट कर लेने के पश्चात् अपने को आत्म-विज्ञान का अधिकारी समझते थे। इस प्रकार, जिज्ञासुओं का निर्मल-कोमल बना हुआ अन्तःकरण सूक्ष्म 'पराविद्या' को ग्रहण करने के योग्य बन जाता था। तब समाधिगम्य 'आत्मसाक्षात्कार' का विज्ञान अपने उन विनीतप्रिय शिष्यों के अन्तःकरणों में वे ऐसे बरसा देते थे जैसे गौ अपने बछड़े पर 'दुग्धामृत' को बरसा देती है। भगवन् ! क्या वे सुदिन अब भी इस भारत में उदित होंगे ? हाँ उदित हो सकते हैं यदि जनता के सुकर्म उदित हो जाएँ और तुम्हारे वात्सल्य की वृष्टि हो जाये तो 'वर्तमान-भारत' संसार के गगन में पुनरपि भास्कर बन कर संसार को आध्यात्मिक-विज्ञान के प्रकाश के दान से आलोकित कर सकता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।)

अब भी जिन मुमुक्षुजनों ने अपने सांसारिक जीवन में यम-नियमों को चरितार्थ किया हो, श्रद्धा से शास्त्रों के पठन-पाठन रूप स्वाध्याय, सत्संग के पश्चात् विषयी गृहस्थ-जीवन से 'विरक्त' होकर जिनमें 'आत्मजिज्ञासा' जाग उठी हो और उसके फलस्वरूप जिनके सांसारिक सब कर्त्तव्य परिसमाप्त हो चुके हों ; और अब दिन-रात आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार की साधना में निरत रहकर जो 'दैवी-सम्पत्-सम्पन्न' शम, दम, तितिक्षा, उपरति तथा श्रद्धा-संवलित होकर अपना शेष जीवन आध्यात्मिक-पथ में ही उत्सर्ग कर देना चाहते हों, वे सब नर-नारी इस 'आत्मविज्ञान' को पाने के अधिकारी हैं; और वे ही, गुरुजनों के अन्तेवासी बन कर अपनी तपस्या और सेवा द्वारा 'गुरुप्रसाद' तथा 'भगवद्-दया' से अनुगृहीत होकर आत्मविज्ञान की ज्योति से कृतकृत्य हुए परमसुखधाम 'भगवान्' को अवश्य पा लेंगे।

आत्म-विज्ञान साधना से अधिक लाभ वे ही जिज्ञासु उठा सकते हैं जो सुपठित अर्थात् दार्शनिक-सिद्धान्तों का ज्ञान रखते हों, और साथ ही यम, नियम, आसन,

प्राणायाम की साधना से अपने जीवनस्तर में कुछ उत्कर्ष ला चुके हों । ये साधन गृहस्थजीवन में भी साध्य हैं । कठिनाई तो प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि तथा संयम से सम्बन्धित सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, आन्तरिक, गुह्यविज्ञान के साक्षात्कार में पड़ती है । वहाँ ही साधक प्राय: भ्रान्त हो जाते हैं, वर्षों ही उलझे रहते हैं, फिर भी कुछ प्राप्त नहीं होता । कठिनाई से जो प्राप्त भी होता है वह प्राय: अधूरा होने के कारण साधक के हृदय को तृप्त नहीं कर पाता । यह 'आत्म-साक्षात्कार' के विज्ञान का पथ साधारण नहीं है, इस लिये पूर्वोक्त गुणों से युक्त होना प्रत्येक जिज्ञासु के लिए अत्यावश्यक है । वैराग्यवान, सद्गुणी, पठित, और तीव्र-संवेगी जिज्ञासु यह 'आत्म-विज्ञान' निम्न क्रम से तीन वर्ष में कर सकता है :—

प्रथम वर्ष

कम-से-कम दो घंटे की आसन की दृढ़ता तथा प्राणायाम की सिद्धि के पश्चात् :—

१. **प्रत्याहार साधना**—इसमें इन्द्रियों को अपने विषयों से तथा 'मन' को अपने संकल्प-विकल्पों से रोककर 'सर्वथा-विषयशून्य' वा 'एकाग्र' करने का अभ्यास ।

२. **धारणा-साधना**—बाह्य तथा आन्तरिक भेद से अनेक प्रकार की बाह्य एवं देहगत आन्तरिक-चक्र आदिकों पर 'धारणा' का परिपक्व करना । इस से ध्यान-साधना में सहायता मिलती है ।

३ **ध्यान-साधना**—ध्यान द्वारा स्थूल-शरीर के स्थूल-भाग 'अन्नमयकोश' में प्रवेश कर सवितर्क समाधि का अभ्यास करना ।

४. **ध्यान से**—कुण्डलिनी-जागरण द्वारा 'षट्चक्र-वेधन' करते हुए 'सवितर्क-समाधि' के द्वारा आन्तरिक विज्ञान प्राप्त करना ।

५ **प्राणमयकोश-विज्ञान**—'सवितर्क समाधि' के द्वारा प्राण-सम्बन्धी सब विज्ञान और दोनों अन्नमय, प्राणमय कोशों के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रत्यक्ष-दर्शन करना ।

द्वितीय वर्ष

१. **ब्रह्मरन्ध्र-प्रवेश**—सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करके 'मनोमयकोश' तथा 'विज्ञानमय कोश' के पदार्थों का उभय कोशों के पारस्परिक सम्बन्धों का विज्ञान प्राप्त करना । इसके आगे ब्रह्मरन्ध्र के प्रथम भाग :—

२. **मनोमयकोश में**—मन, 'ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों' का व्यापार ; तथा उभय-इन्द्रियों के साथ मिलकर 'मन' के आदान-प्रदान व्यापार का विज्ञान 'सम्प्रज्ञात समाधि' के द्वारा करना ।

३. **विज्ञानमयकोश में**—सविचार समाधि द्वारा 'बुद्धितत्त्व' के साथ 'मन' का निर्णयात्मक व्यापार का दर्शन करना । इसमें स्थूल सूक्ष्म भूतों का एवं तन्मात्राओं का साक्षात्कार भी सम्मलित है ।

४. **सूक्ष्मशरीर का विज्ञान**—'मनोमयकोश' 'विज्ञानमयकोश' तथा पंचतन्मात्रिक मण्डल के संगठन से बने ब्रह्मरन्ध्र-वासी 'सूक्ष्म-शरीर' विषयक विज्ञान की प्राप्ति; अर्थात् सूक्ष्म शरीर क्या-क्या करता है, इस पर अधिकार कैसे प्राप्त होता है, और साधक इस शरीर से क्या कार्य ले सकता है।

५. **स्थूल लोक-लोकान्तरों का**—प्रत्यक्ष-ज्ञान। यह विज्ञान कैसे या किस विधि से होता है तथा सूक्ष्मशरीर के परलोक-गमन का दर्शन एवं तत्सम्बन्धी विज्ञान।

तृतीय वर्ष—

इसमें 'आनन्दमयकोश' अथवा 'कारणशरीर गत' विज्ञान, जिसमें आत्मा तथा उसके निवास का स्थान, दोनों का साक्षात्कार और ब्रह्मदर्शन भी (सम्मिलित है) हो जाता है। इसका क्रम यह है—

१. **हृदय प्रवेश**—'आनन्दमयकोश' या 'कारण-शरीर' जो हृदय में है, उसके ६ पदार्थ सूक्ष्म प्राण, अहंकार, चित्त, जीव, प्रकृति, ब्रह्म का सविचार एवं निर्विचार समाधि द्वारा साक्षात्कार।

२. **कारण-शरीर के पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से उत्पन्न विज्ञान का साक्षात्कार करना**—जीवात्मा और ब्रह्म का साक्षात्कार क्योंकि कारण-शरीर में ही होता है इसलिए इनको कारण-शरीर के पदार्थों में गिनाया गया है। किन्तु इनका कारण-शरीर में अंगाङ्गी भाव शेष पदार्थों की भाँति नहीं है किन्तु आधार आधेय भाव सम्बन्ध है।

३. **असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा**—संस्कारों को कारण में विलय करना, वा क्षीण कर देना।

४. पर-वैराग्य प्राप्ति एवं त्रिगुण से वितृष्ण होना।

५. स्वरूप-प्रतिष्ठा तथा ब्राह्मीस्थिति की प्राप्ति।

उपरिलिखित कार्य-क्रम उत्तम अधिकारी के लिए है, मध्यम-अधिकारी प्रतिवर्ष एक-एक कोश के विज्ञान को प्राप्त करता हुआ ५ वर्ष में इस विज्ञान को सम्पन्न कर सकता है। शेष साधकों के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की जा सकती। इस उपरोक्त विज्ञान का प्रशिक्षण स्वर्गाश्रम उत्तरकाशी गंगोत्तरी के योगा-निकेतन में दिया जाता है।

गङ्गोत्तरी —व्यास देव

—:o:—

मुझे यह विज्ञान कैसे मिला ?

यह 'आत्मविज्ञान' मुझे कैसे मिला ? इसके सम्बन्ध में मैं अपने जीवन की मुख्य तीन घटनाएं उपस्थित करता हूँ, जो प्रत्येक आस्तिक को धैर्य बंधाने के साथ ईश्वर में श्रद्धा को दृढ़ करेंगी । ये घटनायें हैं—जीवनी नहीं, अतः संक्षेप में ही लिखूँगा ।

१ **गृहत्याग**—शास्त्राध्ययन तथा आध्यात्मिक विज्ञान की प्राप्ति के लिए 'ब्रह्मचारी बनना परम आवश्यक है; और ये दोनों कार्य नगरों में सिद्ध नहीं हो सकते, ऐसी भावना दृढ़ बनाने में पूज्य गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्दजी गिरि का सत्संग ही कारण बना । जब मैं १४-१५ वर्ष की आयु का बालक छठी श्रेणी में पढ़ता था, उस समय की प्रथा के अनुसार मैं उर्दू तथा अंग्रेजी पढ़ता था । ये महात्मा हमारे नगर से बाहर बगीचे में आकर ठहरा करते थे और इससे कुछ वर्ष पूर्व इनका सत्संग भी प्राप्त हुआ था । आज से लगभग ५६ वर्ष पूर्व की यह घटना है । पिताजी इन दोनों ही बातों के विरुद्ध थे । अति संघर्ष से बचने के लिए और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये मैंने घर से कम्बल तथा कुछ रुपये लिए और रात के १२ बजे के लगभग घर से निकल पड़ा । यह सन् १९०३ अथवा सम्वत् १९६०, वैशाख मास की बात है । अब भी मैं इन महात्माओं का बड़ा कृतज्ञ हूँ । घर से निकल कर जंगल के मार्ग से मैं हरिद्वार की ओर पैदल ही चल पड़ा । वहाँ पहुँच कर 'सप्तसरोवर' पार के 'कजली-वन' में एक समवयस्क ब्रह्मचारी के साथ केवल 'बेलों' पर निर्वाह करते हुये कई मास बिता दिए । यद्यपि कई वर्ष 'मोहन आश्रम' में अध्ययन करते हुए योगियों की खोज में व्यतीत हो गए तथापि कोई योगी अपने मतलब का न मिला । तब हताश होकर हम दोनों दिल्ली चले आये और कई वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन करते रहे । फिर 'सिद्धान्त कौमुदी' से आगे 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' पढ़ने के विचार की प्रबलता से हम दोनों रावलपिंडी नगर में पहुँच कर 'कश्मीर' के लिए चल पड़े; और २०० मील लम्बी हिमाच्छादित पर्वतमाला की यह पद-यात्रा माघ मास में पूर्ण करके हम 'श्री नगर' में जा पहुँचे ।

२. **गुरुदेव की प्राप्ति**—वैशाख मास का अन्तिम सप्ताह था । हम दोनों प्रातः ९ बजे के लगभग हजूरी-बाग में बैठे अपने ग्रन्थों को दोहरा रहे थे, कि कानों ने सुना—'ब्रह्मचारियों, क्या पढ़ते हो ?' यह सुन कर हमने इधर-उधर देखा और उठ कर खड़े हो गए । प्रणाम किया । ध्यान से देखा तो कौपीन मात्र पहने ४०-४५ वर्ष की आयु के एक अति तेजस्वी जटाधारी महात्मा सामने खड़े थे । वस्त्रों में उनके पास आधे कम्बल का आसन था जो दूसरी कौपीन में लिपटा था । बस और कुछ नहीं था उनके पास ।

मैंने उत्तर दिया, 'व्याकरण पढ़ रहे हैं।'

'क्या करोगे इसे पढ़कर ?'

'वेद पढ़ेंगे, जिससे ग्रात्मज्ञान हो जाए।'

'ग्रात्मज्ञान प्राप्ति का तो एक छोटा मार्ग भी है जिसके द्वारा ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता ग्रादि कुमारों को ग्रात्मज्ञान हुग्रा था।'

'महाराज यदि हमें भी कोई ऐसे योगी-महात्मा मिल जायें तो हम भी पढ़ना छोड़ कर उधर लग जायेंगे।'

बस इतने से वार्तालाप से ही हम उनसे ग्रत्यन्त प्रभावित हो गए।

ग्रनन्तर उन्होंने बड़े वात्सल्यपूर्ण शब्दों में कहा—ग्रच्छा हमारे साथ ग्राग्रो हम ग्रात्मज्ञान प्राप्ति के साधन करायेंगे।'

हम मन्त्रमुग्ध की भाँति उनके पीछे चल दिए। वे हमें 'गाँधरबल' से ग्रागे 'सुन्मर्ग' की ग्रोर सिन्धु नदी के तीर पर एक मनोरम स्थान में ले गए, ग्रौर एक गुफा को साफ करके उसमें तो हम दोनों को रख दिया; ग्रौर गुफा के सामने नदी-तीर पर ग्रपना ग्रासन जमा लिया। हमें यह समझा दिया कि इन साधना के दिनों में केवल दोपहर में ही चावल, माखन, नमक भोजन में मिला करेगा। वे महात्मा ६ मील की दूरी पर, एक काश्मीरी पंडित की दूकान से नित्य ही १० छटाँक चावल, २ छटाँक माखन ग्रौर नमक हमें ला देते थे। हम इन्हें हाँडी में पका कर 'महाराज' को परोसने के बाद स्वयं खाते थे। हम लोग भोजन पत्थरों पर ही करते थे। हम में से एक व्यक्ति के भोजन से ग्राधा ग्राहार उनका था। इस प्रकार हम दोनों ब्रह्मचारी उस गुफा में धूनी जला कर एक मास तक योग साधना करते रहे; ग्रौर हमारी दिनचर्या ७-७ दिन के पश्चात् निम्न क्रम से बदलती रही :—

प्रथम सप्ताह—

६ घन्टे निद्रा;

६ घन्टे निरन्तर एक ग्रासन से बैठकर गायत्री जाप; (जिस में दो बार टाँगें बदल लेने की ग्राज्ञा थी)।

२ घन्टे योगदर्शन पढ़ना,

२ घन्टे पाठ कण्ठस्थ करना;

२ घन्टे ग्रासन-प्राणायाम ग्रादि हठयोग की क्रियायें करना।

२ घन्टे शौच स्नान ग्रादि निवृत्ति;

२ घन्टे समीप में ही सायंकालीन भ्रमण;

२ घन्टे भोजन-विश्राम।

दूसरा सप्ताह—इसमें केवल तीन महाव्याहृतियों का जप ग्राठ घन्टे लगातार एक ग्रासन से बैठ कर करना जिसमें केवल एक बार टांगें बदल सकते थे। ग्रब घूमने

का समय निकाल दिया गया, शेष पूर्ववत् रहा ।

तीसरा सप्ताह—१० घन्टे लगातार केवल ओंकार-जप बिना टाँग बदले करना। इस काल में जप कई बार बन्द हो जाता और एक अपूर्व शून्यता-सी छा जाती थी। कई घन्टों तक कुछ भी पता न रहता था।

चौथा सप्ताह—अब केवल संकल्प-विकल्पों का अभाव करते हुए विचार-शून्य अवस्था १२ घन्टे लगातार बैठने का अभ्यास करा दिया गया। रात के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक बैठा करते और ४ घन्टे निद्रा के लिए थे। शेष समय अन्य सब कार्यों में लग जाता था।

यह समाधि ऐसी थी जिसमें न तो अपना कुछ भान होता था न जगत् के अस्तित्त्व का। इस प्रकार, इस एक मास में ४० प्रकार के प्राणायाम, १८४ आसन, नेती, धोती आदि 'षट्कर्म' सीखने के साथ व्याख्या सहित योग सूत्र कण्ठ कर लिया। १२ घन्टे के अचल आसन के साथ १०-१२ घन्टे की शून्य समाधि का अभ्यास भी होता गया। यह उनकी कृपा का ही फल था। मैं उन बालब्रह्मचारी, तेजोमूर्ति, पूर्ण विरक्त श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ महायोगी के जीवन की कुछ विभूतियों में से केवल तीन विभूतियाँ आपके समक्ष रखता हूँ :—

१. वन-भ्रमण की हमारी प्रार्थना पर वे हमारे साथ समीप के पर्वत पर चल पड़े। उनकी साधारण गति के साथ हमें दौड़ना पड़ रहा था। थोड़ी दूर जाकर हमारे हाथों में डण्डे देख कर वे हँस पड़े। पूछा—'ये क्यों उठाए हैं?' हमने कहा—हिंसक वन्य पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए।' इतने में ही समीप की झाड़ी से एक रीछ निकल कर हम पर झपटा। तब उन्होंने हम से डण्डे फिंकवा दिये और रीछ को हाथ से इशारा करते हुए कहा—'जाओ बेटा,' वह हमें छोड़ कर नाचता-कूदता दूसरी ओर चला गया। यह अहिंसा की सिद्धि देखी।

२. एक बार जब मिठाई खाने की इच्छा प्रकट की तब भी वात्सल्य से कहा, 'अच्छा सायंकाल को उपाय कर देंगे'। सायं समय जब हम गुफा में धूनी पर बैठे थे, आकर कहा, 'कौन सी मिठाई खाओगे'? मैंने कहा, 'दिल्ली के चाँदनी चौक में घन्टे वाले की मिठाई बढ़िया है', (संस्कृत का अध्ययन करते समय, दिल्ली में रहते हुये इस दुकान की मिठाई कई बार खाई थी) तब वह मुस्करा कर बैठ गये और हमें नदी से आचमन कर आने को कहा। उस समय गुफा से निकलते ही हमने एक भालू को घूमते देखा। अतः शीघ्रता से आचमन करके लौट आये। देखा, 'महाराज' के हाथ पर ताज़ी मिठाई का भरा एक सुन्दर थाल रखा है। उन्होंने उसमें से मिठाई निकाल कर हमें भर पेट खाने को कहा, किन्तु मुझे आँखें मलते और भौंचक्का देख कर बोले, 'जाग रहे हो, लो मिठाई खाओ।' हमने पेट भर मिठाई खाई। यथार्थ यही है कि वह मिठाई ठीक घन्टे वाले की दुकान जैसी थी। यह थाल मिठाई खाते समय तक उन्हीं के हाथ में रहा। खा लेने के बाद फिर हमें नदी पर जाकर मुँह धोने का आदेश मिला। हम कुछ ठिठके, तब उन्होंने पूछा, 'भय की क्या बात है, जाओ।' तब हम नदी की ओर बढ़ गए। अब न तो वहाँ भालू दीखा और न गुफा में आने पर थाल दीखा। केवल 'महाराज' बैठे थे—यह स्थूल-भूतों की सिद्धि देखी।

वे दिन धन्य थे। उनके सत्सङ्ग का सुख अपूर्व था; यद्यपि उन्होंने अपने श्रीमुख से तो हमें कुछ बताया नहीं फिर भी वार्तालाप से अनुमान होता था कि वे पंजाबी, उदासी सन्त परमपूज्य 'परमानन्द' अवधूत नाम के महात्मा थे।

३. उनकी एक अन्य विभूति भी देखी थी।

जलसमाधि—यह २५वें दिन की घटना है। जंगलात के एक ऊँचे अधिकारी उस दुकानदार के गाँव में आकर ठहरे। उस पण्डित से 'महाराज' की प्रशंसा सुनकर हम सबको वे भोजन के लिये निमन्त्रित कर गये। अगले दिन वे लोग हमें ११ बजे ही बुलाने आ गये, भोजन करने में अभी एक घन्टे का समय शेष था। हम 'महाराज' के साथ स्नान करने गये। 'महाराज' तो समीप ही गहरे जल में उतर गये और हम स्नान करके पास ही बैठ गये। जब वे लगभग १ घन्टे तक बाहर न निकले तब उनके डूब जाने की आशंका से सभी चिन्तित हो उठे। अन्त में गोताखोरों ने जब उन्हें बाहर निकाला तो वे बद्धपद्मासन अवस्था में थे। थोड़े समय पीछे उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर जब नेत्र खोले तो ऐसा लगा मानो दो अँगारे निकल आये हैं। देखते ही सभी भयभीत हो उठे। इस समय सब चुप थे। उन्होंने हम से कहा—'तुमने मुझे क्यों निकलवाया जब कि तुम्हें मालूम था कि मैं स्वयं ही आ जाता। चलो, आज भोजन नहीं मिलेगा।' उन पण्डितों ने बड़ी अनुनय-विनय की किन्तु 'महाराज' न माने, तब वे भी लौट गये। उन्होंने हमें ४ दिन निराहार रक्खा और साथ ही वे भी निराहार रहे। हम सब ४ दिन तक ध्यान-रत रहे। तब ३१वें दिन रात्रि के समय अपने सामने बिठा कर ११ से २ बचे तक उपदेशों की वर्षा करते रहे। पश्चात् विश्राम करने का आदेश मिला। हम आकर लेट तो गये पर निद्रा न आई। एकाध घन्टे के बाद भजन करने का समय जान कर उठे और नदी पर हाथ-मुख धोने गये तो देखा 'महाराज' अपने आसन पर नहीं हैं। हम गुफा में चले आये, किन्तु भजन में मन नहीं लगा। प्रातः भी जब 'महाराज' को नहीं देखा तब तो हम बेहाल हो गए और तीन मास तक उन्हें खोजते रहे। लाचार हम वहाँ से नीचे उतर आए। वर्षों पीछे ऋषिकेश में वसुधारा पर कुछ मिनिट के लिये दर्शन हो सके, फिर वे नहीं मिले।

३. **सदगुरु की प्राप्ति**—इस शून्य समाधि के अभ्यास से किसी प्रकार के आन्तरिक-विज्ञान की प्राप्ति होते न देख अन्य योगी की खोज में मैं हरिद्वार की अर्ध-कुम्भी में आ पहुँचा। इसी खोज में भीमगोडे को जाते हुए, भीमगोडे के समीप एक सन्त ने मुझे आवाज दी। उनकी वेषभूषा तो अच्छी न थी। उन्होंने कुछ पैसों की इच्छा प्रकट की। मैं उनके समीप बैठ गया। वार्त्तालाप में उन्होंने मानों आदेश-सा दिया, 'सीधे गङ्गोतरी चले जाओ तुम्हारा कल्याण हो जाएगा।' मैं उनका यथायोग्य सम्मान करके उचित प्रबन्ध के साथ तुरन्त उत्तरकाशी चला आया। यहां ऊपर जाकर एक वैरागी-सन्त ने कृपा करके बताया कि आजकल 'तीर्थापुरी' की ओर से एक महान् योगी इस ओर आए हुये हैं। वे प्रायः तिब्बत में रहते हैं। 'हरसिल' से इधर बहती नदी श्याम गङ्गा के चढ़ाव की ओर चले जाना। मार्ग कठिन है; यदि वे मिल गये और कृपा कर दी तब कल्याण हो जाएगा। मैं पहले इधर घूमा-फिरा था, ४-५ दिन का भोजन साथ लेकर उसी ओर चल दिया। 'हरसिल' पहुँच नदी के चढ़ाव को चढ़ने लगा, यह स्थान अनदेखा था। दो-दिन पीछे नदी तीर को त्याग कर पर्वत पर चढ़ते हुए मुझे

एक मैदान मिला। उसमें एक जलस्रोत था। समीपवर्ती एक गुफा से थोड़ा-सा धुआं निकलता देखा। उधर जाने पर एक छोटी-सी गुफा दीख पड़ी। वहाँ मन्द-मन्द अग्नि जल रही थी। भोजपत्र और काठ से बनाए आसन पर दिव्य तेजः-पूर्ण, विशाल-मस्तक, कृशतनु एक महात्मा समाधिस्थ थे। पास ही जलपात्र, चिमटा और एक छोटी-सी कुल्हाड़ी पड़ी थी। मैं बहुत देर तक खड़ा उनके मुखमण्डल को आशा भरे नेत्रों से देखता रहा पर नेत्र न खुले। तब मैं जलस्रोत पर लौट आया और स्नान आदि से निवृत्त हो कर गुफा के द्वार पर जा बैठा। लगभग १२ बजे उनकी समाधि खुली। मुझे सन्मुख बैठा देख संस्कृत में उन्होंने मेरे वहाँ पहुँचने का कारण पूछा। वार्तालाप के परिणाम स्वरूप मुझे वहाँ ठहरने की आज्ञा मिल गई। मैंने अपने बनाये लड्डू भेंट में रक्खे। वे तो उन्होंने स्वीकार नहीं किए प्रत्युत अपनी धूनी में से भुने कुछ कन्द मुझे देकर समीप की एक गुफा में विश्राम करने को कहा, और अगले दिन तीसरे पहर मिलने का निर्देश किया, मैंने वैसा ही किया। दूसरे दिन भूख ही मुझे नहीं लगी। प्यास लगने पर पानी पीता रहा, और निर्दिष्ट समय पर जा पहुँचा। उनके निर्दश के अनुसार मैं उनके सन्मुख अपने अभ्यस्त आसन में बैठ गया। शान्तभाव से उनकी ओर कुछ देर तक देखता रहा। उन्होंने अपना कृपा हस्त मेरे 'ब्रह्मरन्ध्र' कपाल पर रख दिया। मेरे नेत्र मुँद गए। मैं एक अज्ञात दशा में पहुँच गया। समस्त देह विद्युत की सी ज्योति से भर गया, और मेरे सन्मुख, मेरे ही शरीर की सब आन्तरिक दशा इस ज्योति से प्रकाशित हो उठी और मैं बैठा वही कुछ देखता रहा जो आप इस समस्त ग्रन्थ में पढ़ेंगे और योग द्वारा साक्षात्कार करेंगे। तब से आज तक २८ वर्ष होते हैं। मेरी जिज्ञासायें समाप्त हो गईं और अन्य किसी महापुरुष के समीप कोई जिज्ञासा लेकर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इस ज्ञान-तृप्ति का कारण उन योगेश्वर का आशीर्वाद सहित १५ घण्टों में साक्षात् कराया गया यह विज्ञान है। सायं ७ बजे से बैठा कर उन्होंने अगले दिन १० बजे मुझे समाधि से उठाया था। मैंने आनन्द भरे हृदय से साश्रु उनके चरण पकड़ लिए। तब उन्होंने मुझे कहा था, 'अच्छा अब जाओ, विज्ञान इतना ही था। वह तुम्हें साक्षात् करा दिया, इसे दृढ़ भूमि करते रहना।' मैंने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करके वर्षों तक मौन रह कर एकान्तवास करते हुए इस विज्ञान को पुष्पित और फलान्वित कर लिया है। इस काल में साथ-साथ जिज्ञासुओं को अभ्यास भी कराता रहा। अब भगवत् कृपा से इस विज्ञान को ग्रन्थ के रूप में आबद्ध करके 'आत्म-साक्षात्कार-परम्परा' को स्थिर रखने के लिये जनता-जनार्दन के समक्ष उपस्थित हो रहा हूँ; और अपने इन गुरुजनों के चरणारविन्दों में कृतज्ञता की भावना से प्रणिपात पूर्वक नतमस्तक हूँ।

आमुख

(शरीर-त्रयी या पंचकोश)

शरीर-त्रय के संघात से परिवेष्टित शरीरी 'जीवात्मा' का साक्षात्कार कैसे होता है ? इस ग्रन्थ का यही विषय है । इसलिए 'शरीर' और 'शरीरी' दोनों का वर्णन करना आवश्यक है। 'हम' वा 'हमारे' शब्द से कहे जाने वाला 'पदार्थ' वस्तुतः दो तत्त्वों का संघात वा संगठन है; और वे दो तत्त्व—'जड़' तथा 'चेतन' हैं । जड़ के अन्दर चेतन रहता है वा छिपा हुआ है, इसलिए हमें पहले 'सिंहद्वार' से ही इस दुर्ग में प्रवेश करना होगा; अर्थात् जड़ तत्त्व से बना चेतनतत्त्व 'आत्मा' का निवास-स्थान यह शरीर एक दुर्ग के समान है। इसके मुख्य तीन भाग हैं।

१. **स्थूल शरीर**-'जीवात्मा' के समीप तक जाने के लिए मुख्य-द्वार वा सिंह-द्वार रूप सदृश पञ्चभौतिक प्रत्यक्ष दीखने वाला यह 'स्थूल शरीर' है। इसके 'काया' 'देह' 'शरीर' आदि अनेक नाम हैं; किन्तु इस 'काया' के भी दो भाग हैं। उनमें से स्थूल भाग का नाम 'अन्नमय कोश', तथा दूसरे भाग का नाम 'प्राणमयकोश' है। ये दोनों मिलकर इस दुर्ग के स्वामी 'जीवात्मा' की मोटी-मोटी—स्थूल सेवा करते हैं। इस 'काया' में 'जीवात्मा' की सेवा करने की अपनी शक्ति विद्यमान नहीं है। वह 'शक्ति' इसमें बसे एक और 'शरीर' की है, और उसका नाम है—सूक्ष्मशरीर।

२-**सूक्ष्म शरीर**—नस नाड़ी, माँस-अस्थि रहित, वाष्प जैसे अत्यन्त चमकीले तत्त्व से बना, प्रत्यंगों से रहित, काया में व्यापक तत्त्व है; यही स्थूल देह का संचालक है। अर्थात् यह 'काया' जो कुछ कार्य करती है वह सब क्रियामात्र इसी सूक्ष्मशरीर की प्रेरणा वा शक्ति द्वारा करती है; किन्तु इस प्रेरणा में 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' ये दो शक्तियाँ मिली रहती हैं। इन दोनों शक्तियों के मिल जाने से जो शक्ति उत्पन्न होती है उस शक्ति का नाम 'जीवन' है। इसी 'जीवन' से यह 'स्थूल शरीर' जीवित रहकर सब कार्य-कलाप करता रहता है। इस 'सूक्ष्म शरीर' के भी दो भाग हैं :—

१—क्रियाप्रधान भाग—जिसका नाम 'मनोमय कोश' है।

२—ज्ञानप्रधान भाग—जिसका नाम 'विज्ञानमय कोश' है।

आश्चर्य यह है कि यह 'जीवनीशक्ति' सूक्ष्म शरीर की भी अपनी नहीं है। इसे भी यह 'जीवनीशक्ति' प्रदान करने वाला, इसमें व्यापक वा वास करने वाला एक अन्य शरीर—प्राकृतशरीर है, जिसका नाम 'कारणशरीर' है।

३—**कारणशरीर**—इस के लिंगशरीर, अव्यक्तशरीर आदि नाम हैं । यह 'कारणशरीर' 'सूक्ष्मशरीर' से भी अति सूक्ष्म है, इसे शक्ति देने वाला हो कर भी वह

रहता पृथक् है। इस का नाम 'आनन्दमय कोश' भी है। यह स्वयं प्रकाश का पुंज होकर भी 'जड़' है। इस में भी जीवन-प्रदान करने की अपनी कोई शक्ति नहीं है।

इस प्रकार जीवात्मा के शरीर रूपी 'दुर्ग' के ये तीनों ही खण्ड चेतन आत्मा की अपेक्षा सर्वथा तथा सर्वदा 'जड़' हैं। स्पष्टतया हम नित्य प्रायः देखते हैं कि यह चलती फिरती, सर्व कार्य करती हुई देह 'एकदम' निश्चेष्ट हो जाती है और जनसाधारण कहते हैं कि इसमें से 'जीवात्मा' निकल गया। यही प्रत्यक्ष 'प्रमाण' सिद्ध कर रहा है कि—चेतन जीवात्मा के संयोग से यह पंचकोशीय-संघात भी 'चेतन' सा प्रतीत होता है; और इस 'चेतनतत्त्व' का 'आनन्दमय कोश' के ज्ञानप्रधान भाग 'चित्त' में संयोग होते ही इस में तुरन्त ही 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' उत्पन्न होने लगते हैं। 'क्रिया' तथा ज्ञान' को आनन्दमय कोश' का क्रिया प्रधान भाग 'अहंकार' इन दोनों शक्तियों के प्रसार से 'सूक्ष्मप्राण' के रूप में 'आनन्दमय कोश' से अन्यकोशों में प्रसारित कर देता है। यह प्रसार एक 'धक्के' —अघात के रूप में 'सूक्ष्मशरीर' में प्रविष्ट हो जाता है। 'सूक्ष्मशरीर' इसी जीवनी शक्ति से अनु-प्राणित होकर पुनः स्थूल देह को 'जीवनदान' देकर कार्य कराने लगता है, और यावज्जीवन यह 'प्रक्रिया' चलती रहती है। इस प्रकार अचेतन 'प्रक्रिया' से परिवेष्टित 'चेतन' को, इसके 'दुर्ग' के अन्दर प्रविष्ट होकर देखने की 'प्रक्रिया' वा 'विधि' का नाम ही 'आत्म विज्ञान' वा 'आत्मसाक्षात्कार' है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी विज्ञान का विस्तृत वर्णन करना अपेक्षित है।

इसी दुर्ग में विश्व-नियन्ता 'ईश्वर' भी विद्यमान है। ऐसा अनुभव सब आत्म-दर्शी तथा ब्रह्मदर्शियों का होता है। फिर भी इस जगत्वासी मानव समाज का अत्य-धिक भाग उस भगवान् को—यत्र-तत्र मंदिर, मस्जिद, गिरजे, गुरुद्वारे, हरिद्वार, काशी केदारनाथ, बद्रीनाथ पुरी आदि तीर्थों तथा मक्का, मदीना आदि प्रदेशों में, जो सर्वथा बाहर ही के साधन हैं, ढूँढता फिरता है। यह विषय सभी को भ्रम में डाल देता है कि दोनों में से यथार्थ-तथ्य क्या है ? आइए, इस पर कुछ विचार कर लें।

इस विषय में लोक प्रमाणित उपनिषद् वचन उद्धृत करते हैं—

'संत्यज्यहृदयगुहेशानं देवमन्यम् प्रयान्ति ये,

ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थ कौस्तुभाः,

महोपनिषद् अ ६। मं० २०।

अर्थात् जो मनुष्य हृदय-रूपी गुहा में विराजमान ईश को छोड़ कर दूसरे देवता को ढूँढते फिरते हैं (देखने के लिए दूसरे स्थलों में जाते हैं) वे मानो मुट्ठी में पकड़ी हुई मणि को त्याग कर कांच के टुकड़े को इधर-उधर ढूँढते फिरते हैं। इतना समीपतम होते हुए भी मानव इस आत्मा-परमात्मा को प्राप्त करने में असमर्थ क्यों है ? क्योंकि ये दोनों ही—

'अणोरणीयान् महतोमहीयान्

आत्मास्यजन्तो निऽहितोगुहायाम्

कठ. अ. १।व.२।मं०२०।

इस साक्षात्कार बोधक वाक्य के आधार पर 'अणु' जीवात्मा तथा महान् 'ईश' ये दोनों ही हृदय-गुहा में स्थित हैं। उपनिषद् के इन दो प्रमाणों से इतना तो

स्पष्ट हो ही जाता है कि—

१ जीवात्मा अणु है।

२. ब्रह्म वा ईश्वर महान् है।

३. निश्चय से ये दोनों मानव-हृदय की गुफा में विराजते हैं। तब फिर स्वयं ही निश्चय कर लीजिए कि 'सत्य-पथ'—सन्मार्ग कौन सा है। तथा आचार्य 'यम' आगे भी कहते हैं कि—

'तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्'

कठ. अ. १। व. १। मं. १२।

अर्थात् ये दोनों ही, अतिसूक्ष्म होने से साधारण दृष्टि से दिखाई नहीं देते ये बुद्धि रूप गुहा के अन्तरतम भाग के कोने में—स्तर में छिपे हुए हैं; तथा ये दोनों इतने पुरातन हैं कि इनके 'आदि' का पता नहीं चलता। कितनी सुन्दरता से 'आचार्य प्रवर' ने थोड़े से शब्दों में महान् सत्य निहित करके रख दिया है। आगे इनके दर्शन का फल भी कह दिया है कि—

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा,

धीरो हर्ष शोकौ जहाति।

कठ. अ.१।व०२।मं०१२।

अध्यात्मयोग द्वारा जानने योग्य देव को जो महानुभाव जान लेते हैं वे हर्ष-शोक रूपी सभी द्वन्द्वों से छूट जाते हैं।

इस प्रकार हृदय देशावच्छिन्न चेतनतत्त्वों में से 'जीवात्मा' तो 'अणु' है, और 'ईश' महान् है सर्वत्र ओतप्रोत है। और ये दोनों ही पाँच कोशों से युक्त एक बड़े कोश 'शरीर' में निहित हैं। पंचमहाभूतों से निर्मित कठिनतम 'देहदुर्ग' में घुसने के लिए यद्यपि हमें प्रत्यक्ष रूप से ९ द्वार दीखते हैं, तथापि ये सभी द्वार कुछ ही अन्दर जाकर बन्द हो जाते हैं। और अन्दर घुसने का कोई मार्ग नहीं मिलता, और इस दुर्ग में प्रविष्ट हुए बिना हमारा काम भी नहीं बनता है। वह सिंह-द्वार भी ऊपर से स्पष्ट नहीं दीखता है, गुप्त है। हम इस दुर्ग में प्रविष्ट भी सिंहद्वार से ही हो सकते हैं। इसी दृष्टि से हमारा साधनापथ 'अन्नमयकोश' से ही प्रारम्भ होता है। यही मुख्य आवरण 'जीवात्मा' के बन्धन का मुख्य हेतु बना हुआ है। जब तक इस 'कोश' का बाह्य तथा आन्तरिक रूप से साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक हम आगे बढ़ ही नहीं सकते। इसकी वास्तविक स्थिति को जान कर इससे 'वैराग्य' हो जाना ही मुख्य प्रयोजन है। श्रेयपथ में यह स्थूलदेह 'सहकारी' भी इस रूप में बन जाता है कि इसकी अपावन, और क्षणभंगुर स्थिति का प्रत्यक्ष कर लेने पर काया में बना मोह वा अनुराग नष्ट हो जाता है। इस मोहवश देहानुराग में फंसा प्राणी जन्म-मरण की चक्की में पिसता हुआ कष्टों को भोग रहा है। इस घोर कष्ट से बचने तथा बचाने के लिए हमारे पूर्वज महायोगियों ने योग साधना का आश्रय लेकर इस तत्त्व को जाना कि बिना योग-साधना के न तो प्रकृति के रहस्यों को जाना जा सकता है, न अपने चेतन-स्वरूप को और न उस महती-चेतना को कि जिसकी मुट्ठी में यह सब दृश्यादृश्य बन्द है।

जैसे कि—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः (योग० २। २८)।

योग के अङ्गों का अनुष्ठान अर्थात् साधना करने से प्रकृति तथा ब्रह्म एवं अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होता है।

इसी दृष्टि से सब पद्धतियों तथा नाना-मार्गों में श्रेष्ठतम यही राजपथ 'अष्टाङ्गयोग' है। इसके अनुष्ठान से हमारे आन्तरिक-दिव्यनेत्र खुल जाते हैं। विशेषतः इसके उत्तर के ४ अंग—प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि योगाधिकृत की साधना से हमें क्रमशः—अन्नमय,प्राणमय कोशों पर वशित्व की प्राप्ति हो कर आगे सूक्ष्मभूत वा पंचतन्मात्राओं से निर्मित सूक्ष्म शरीर पर तथा सूक्ष्म शरीर के उपभोग में आने वाले सूक्ष्म द्विव्य-विषयों पर भी आधिपत्य प्राप्त हो जाता है। पूर्वोक्त चारों अङ्गों की साधना सिद्ध होने पर प्राप्त 'संयमजय' की शक्ति से योगी को दिव्य इन्द्रियों का उपयोग तथा सूक्ष्म दिव्य भोगों का उपभोग करने का भी सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

'तज्जयात्प्रज्ञालोकः'

(योग० पा० २। सू०५।)

इन दिव्य-इन्द्रियों में से, योगी के 'दिव्यनेत्र' उस समस्त आन्तरिक अतीन्द्रिय व्यापार का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाते हैं जो कि हमारे 'मनोमयकोश' 'विज्ञान मयकोश' तथा 'आनन्दमयकोश' निरन्तर कर रहे हैं। उन्हीं व्यापारों पर मानव-जीवन आधारित है। योगिवर पतंजलि का ऐसा आदेश है कि—

'तस्य भूमिषु विनियोगः'

(योग० पा० ३।सू०६।)

योगी अपनी 'संयमजय' की शक्ति को योग की 'उच्चभूमियों' में लगाए, अर्थात् उत्तर के तीनों कोशों के दिव्य-पदार्थों, दिव्य-विषयों, दिव्य-व्यापारों को साक्षात् करता चला जाए जब तक कि योगी की 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' से 'स्वरूपस्थिति' की उच्चतम-भूमि प्राप्त न हो जाए।

अष्टाङ्गयोग—हम अष्टाङ्गयोग पद्धति से चलने वाले उपासक हैं। अतः सर्वतन्त्र-सम्मत पातंजलयोग के द्वारा अष्टाङ्गों में से प्रथम ४ अंगों का संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्रऔर अगले ४ अंगों का स्पष्टतया विस्तृत वर्णन करते हुए इस रूप में समझा देते हैं जिससे कि साधकगण 'आत्मसाक्षात्कार' कर सकें।

'अष्टाङ्गयोग'—यह सर्वतन्त्र प्रसिद्ध सिद्धान्त माना जाता है कि प्रकृति-पुरुष-विवेक का सर्वोत्तम साधन महर्षि पतंजलि द्वारा अनुशासित 'अष्टाङ्गयोग' पद्धति का अनुष्ठान ही है। उत्तम तथा मध्यम अधिकारियों के लिए तो योगदर्शन का प्रथम-पाद ही पर्याप्त है, जिसमें।

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः,'

(योग० पा० १। सू१२।)

इसके द्वारा उत्तम और मध्यमाधिकारियों के लिए अभ्यास एवं वैराग्य दो

पूरे विवरण के लिये 'वहिरंग योग देखो

ही साधनों का प्रतिपादन किया है, और जिसमें योग का स्वरूप—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

(योग० पा० १ ।सू०२ ।)

तथा फल

'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्'

(योग० पा० १ सू०३ ।)

इन सूत्रों के द्वारा योग की एक प्रकार से समाप्ति कर दी गई है । क्लिष्ट कर्मवासना से वासित अन्तःकरण वाले मानव भी आत्मदर्शन से वंचित न रहें, इस भूतदया से प्रेरित होकर मुनिवर ने आगे अष्टाङ्गयोग पद्धति का भी निर्माण किया है, और बताया कि इस योगपद्धति से कैसे क्रमशः समाधि का प्रादुर्भाव और क्लेशों का विनाश हो जाता है । क्लेशों का मूल कारण अविद्या है—आत्मा का इस अन्तःकरण के प्रति ममत्व, अर्थात्, आत्मभाव भावना का दृढ़ हों जाना अविद्या है; और विद्या व विवेक का स्वरूप है—इस भावना का नष्ट हो जाना । यह अन्तःकरण, जो प्रकृति का एक निर्मल सूक्ष्मकार्य हैं, इससे भिन्न आत्मा अपने स्वरूप का साक्षात्कार प्रकृति पुरुष का विवेक करके स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है, इसी को मुनिवर ने अपवर्ग कहा है—

"पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं,

स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"

(योग० पा०४। सू०३४)

इस सूत्र में अपवर्ग का स्पष्ट लक्षण किया है । कणाद ऋषि ने भी मोक्ष का ऐसा ही लक्षण किया है—

'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः'

(वैशेषिक० अ०५।आ०२।सू०१८।)

धर्माधर्म अदृष्ट-रूप कर्मों का अभाव होने पर आत्मा और अन्तःकरण के संयोग का अभाव हो जाता है—फिर इसका प्रादुर्भाव नहीं होता ।

'योगाङ्गानुष्ठादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'

(योग० पा २।सू०२८।)

यह सूत्र स्पष्टतः कह रहा है कि योगोक्त अंगों के यथावत् अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होकर ज्ञान की दीप्ति होती चली जाती है जब तक कि प्रकृति-पुरुष-विवेक रूप आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता । यह विवेक समाधियों में भी अन्तिम समाधि द्वारा होता है, इसलिए समाधि भावनार्थ ये निश्चित उपाय हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ये चारों तो मूलभूत हैं, जिनके आश्रय पर प्रत्याहार सिद्ध होता है, जब प्रत्याहार सिद्ध होने लगता है तब संयम के अङ्गों की सिद्धि होने लगती है, जिसके धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन अंग हैं । पूर्वोक्त चार अङ्गों का साधन अन्तः-

कारण के स्थूलमलों का प्रक्षालन करके चित्त को इस योग्य बना देता है कि यह अविद्यादि क्लेशों के सूक्ष्म रूप को देख सके। इनके दीखने पर,

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः,

(योग० पा०२। सू०११।)

सूत्र के अनुसार क्लेशों का सूक्ष्मरूप वासना एवं उसकी वृत्तियों को, जो कि उदाररूप को त्याग कर 'तनु' और 'प्रसुप्त' रूप से अन्तःकरण में छिपी बैठी हैं, प्रसंख्यान-प्रकृति-पुरुष-विवेक-ख्याति द्वारा 'दग्धबीज' बना दिया जाता है।

प्राथमिक यम आदि अङ्गों तथा उनका कार्य

१. **'यम'**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहः;

२. **'नियम'**—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान हैं।

इनकी व्याख्या से प्रायः सभी परिचित हैं। विशेष ध्यान देने योग्य यहाँ इतनी बात है कि इनका अनुष्ठान मन, वचन, कर्म में एकता लाकर करना चाहिए।

३. **आसन**—इन साधनों का 'आसन' आधार है। जब तक कि साधक का आसन कम से कम ३ घन्टे तक निश्चल, अथक रूप से बैठने का न बन जाए, तब तक ध्यान, समाधि अन्तरंग साधना में प्रगति नहीं हो सकती है। आसन की स्थिरता से मन स्थिर एवं आसन की अस्थिरता से मन विक्षिप्त होकर अपने लक्ष्य से विचलित होकर संकल्प-विकल्प के व्यापार में लग जाता है। इसलिए,

'स्थिरसुखमासनम्'

(योगा० पा०२। सू०४६।)

सूत्र से निर्देश किया है कि समाधि में स्थिरता से, बिना थके, सुखपूर्वक, अभीष्ट समय तक बैठे रहने का नाम 'आसन' है। प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त की समापत्ति से आसन की स्थिरता बढ़ती जाती है, और आसन सुखद बन जाता है। प्रायः यही देखा जाता है कि जब मन स्थिरता से ध्यानमग्न हो जाता है तब २-३ घन्टे का समय भी कुछ मिनिटों जैसा प्रतीत होने लगता है। आसन की सुखद स्थिति से शीतोष्णादि की प्रतीति नहीं होती है तथा संकल्प-विकल्प भी कम उठते हैं। इस साधन के लिए स्वस्तिक, सिद्ध, पद्म, वीर, वज्र आसन उपयोगी सिद्ध होते हैं। आसन को पहले जांच लें कि इतने समय तक हम स्थिरता एवं स्वस्थता से बैठ सकते हैं, उससे आगे १-१ मिनिट नित्य बढ़ाते रहें और जब ५ मिनिट बढ़ा लें तब एक सप्ताह तक इसे दृढ़ करें; फिर २-२ मिनिट नित्य बढ़ाते जायें और १० मिनिट पर आकर १५ दिवस इसी को स्थिर करें। इस प्रकार ३ घन्टे तक बिना किसी कष्ट के सुखपूर्वक बैठे रहने योग्य बना लें। अन्य अनेक प्रकार के साधन करने से काया स्वस्थ, लचकीली, सुडौल, बन कर, 'आसनजय' में सहायक बनती है, और स्थूलदेह पर अधिकार हो जाता है।

४. **प्राणायाम**—अगला अंग 'प्राणायाम' है। शास्त्रों में इस की बड़ी प्रशंसा है। योग दर्शन स्वयं कहता है कि—

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'

(योग० पा०२।सू०५२।)

तथा

'धारणास च योग्यता मनसः'

(योग० पा०२।सू०५३।)

ये सूत्र प्रणायाम पर प्रकाश डालते हैं जिसके द्वारा देहगत तम की, जो कि अतीन्द्रिय-पदार्थों के देखने में आवरण रूप बना हुआ है, उसका विनाश करके मन को धारणा में स्थित रखने की शक्ति देता है; किन्तु प्राणायाम भी किसी उत्तम प्राणायाम के ज्ञाता, अनुभवी योगी का अन्तेवासी बनकर सीखना चाहिये। केवल मात्र उनके नामादि के विषय में पुस्तक में लिखे को पढ़ लेने मात्र से कार्य-सिद्धि नहीं होती। प्राणायाम से प्राण पर अधिकार हो जाने के साथ स्थूल देह तथा मन पर भी अधिकार हो जाता है। प्राणायाम से यह एक विशेष लाभ होता है कि श्वास-प्रश्वास की गति सम होकर ध्यान और समाधियों में विघ्न नहीं पड़ने देती तथा उत्तरोत्तर स्थिरता दृढ़ होती रहती है।

५. 'प्रत्याहार'—का सामान्य अर्थ है, इन्द्रियों पर अधिकार वा विजय पा लेना। विषय के उपस्थित होने पर भी, मन की बिना प्रेरणा के इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण ही न करें। प्रत्याहार दशा में मन तो बाह्य विषयों से विमुख-विरक्त सा होकर अन्तर्मुख हो जाता है और इन्द्रियाँ भी बाह्य विषयों की ओर न जाकर शान्त हो जाती हैं, जैसे मधुकर रानी के अनुकूल अन्य मक्षिकायें दौड़ती हैं वैसे ही प्रत्याहार से मन के अनुकूल हुई से इन्द्रियाँ भी बाह्य विषयों से शान्त हो जाती हैं।

'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्'

(योग० पा०२ ।सू०५५।)

सूत्र के अनुसार 'इन्द्रिजय' की प्राप्ति हो जाती है।

६. 'धारणा'

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'

(योग० पा० ३ ।सू०१ ।)

इस योग सूत्र के अनुसार मन को किसी देश विशेष में बाँध देना ही 'धारणा' है। धारणा से वस्तु के बाह्यरूप का दर्शन मात्र होता है, विज्ञान नहीं होता। क्योंकि धारणा में मन की वृत्ति शान्त नहीं होती। यह धारणा अन्तः तथा बाह्य दो प्रकार की होती है, और बाह्यधारणा के भी मुख्य ५ स्वरूप हैं' जैसे—

क. पार्थिवधारणा—जैसे ॐ अक्षर, काला विन्दु, पुष्प, अथवा किसी महपुरुष का चित्र, एवं स्वर्ण, रजत, पाषाण आदि की बनी देवमूर्ति को लक्ष्य करके मन को स्थिर करना।

ख. जलीय धारणा—जैसे किसी नदी-तीर पर, सरोवर-कूल पर, एवं समुद्रतट पर बैठ कर निस्तरंग जल को निरन्तर स्थिर दृष्टि से देखते रहना।

ग. आग्नेय धारणा—जैसे दीपक वा मोमबत्ती की शिखा, लघुप्रकाश वाले हरे-नीले से बल्ब, वा होमकुण्ड की अग्नि आदि तैजस पदार्थ पर दृष्टि स्थिर बनाना।

घ. वायवीय धारणा—जैसे किसी वस्तु के निरन्तरस्पर्श को वा श्वासप्रश्वास की गति को, वा वायु और प्राण के वा शीतोष्ण के निरन्तर स्पर्श को अनुभव करते हुए मन को स्थिर कर देना।

ङ. शाब्दिक धारणा—जैसे उच्च वा उपाँशु जप के शब्द पर, गंगा आदि के कल-कल निनाद पर, अथवा भ्रामरी प्राणायाम के शब्द गुँजार वा अनहद पर मन को बाँधने या स्थिर कर देने से धारणा बलवती होती है। आगे ध्यान में प्रवेश करने के लिए धारणा को बलवत्तर करना आवश्यक है।

७. **'ध्यान'**—धारणा को दृढ़ करते-करते कुछ काल के पीछे एक ऐसी भी अवस्था धारणा काल में स्वतः आजाया करती है जब साधक को लक्षित वस्तु के अतिरिक्त देश, काल आदि का बोध नहीं रहता—यही ध्यान का स्वरूप है। इसी अवस्था को सूत्र ने कहा है;

'तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्'

(योग० पा०३। सू०२।)

अर्थात् लक्षित वस्तु में स्थित मन क्षणमात्र के लिए भी विचलित न होकर तदाकार हुआ धारावत् प्रवाह बना रहे। इसी धारावाहिता को 'ध्यान' कहा जाता है। इस प्रवाह का अन्तिम परिणाम होता है।

८. **'समाधि'**—

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'

(योग० पा०३। सू०३।)

अर्थात्, अपनी स्थिति को भूलकर, वह लक्षितपदार्थ मात्र ही दर्शन का विषय बना रहे। इस अवस्था में पदार्थ का विज्ञान ही होता है। ध्याता को और कुछ नहीं भासता। आगे समाधियों के अन्य भेदों से स्थूल, सूक्ष्म पदार्थों का विज्ञान प्राप्त करते हुए प्रकृति-पुरुष का साक्षात्कार समाधि द्वारा ही होता है। किन्तु मनोमयकोश से अगले विज्ञान के लिए समाधियां अति आवश्यक या अनिवार्य साधन हैं इसलिए 'समाधि' के विषय को संक्षेप से समझ लेने की आवश्यकता है।

अष्टाङ्गयोग के प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान अङ्ग भी, समाधियों की एक वर्णमाला के समान हैं जैसे क ख ग आदि व्यंजन और अ इ आदि स्वरों से मिलकर पद, और पदों से भाषा बनती है, ऐसे ही प्राणायाम आदि अङ्गों की साधना से समाधि, और धारणा, ध्यान, समाधि से मिलकर 'संयम' शक्ति उत्पन्न होती है। धारणा तथा ध्यान की साधना इसलिए की जाती है कि, 'मन' को स्थूल से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम विषय वा विज्ञान में प्रविष्ट करके 'आत्मसाक्षात्कार' के द्वार को खोला जा सके। प्रकृतिपर्यन्त, प्राकृतिक मुख्य विकार वा पदार्थ निर्माणों के विज्ञान-

प्राप्ति का केन्द्र एवं प्रयोगशाला हमारा 'विज्ञानमय कोश' ही है। 'मनस्तत्त्व' इस कोश की सूक्ष्म गति-विधियों को पूर्णरूपेण तभी ग्रहण करने में समर्थ हो पाता है जब कि मन की चंचलता का नियमन करके इसको साधकर धारणा ध्याम के मार्ग से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर विषयों में क्रमशः प्रवेश कराते हुये, निरन्तर अभ्यास के द्वारा समाधि में प्रविष्ट हो जाने की सामर्थ्य युक्त बना दिया जाता है। धारणा तथा ध्यान की पूर्वावस्था में प्राप्त हुआ ज्ञान अधूरा तथा स्थूल होता है। समाधियों द्वारा पदार्थ का सूक्ष्म एवं पूर्ण विज्ञान प्राप्त होता है। अतः मनोमयकोश और विज्ञानमय कोशों का समस्त विज्ञान अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय, एवं गहन होने के कारण समाधियों द्वारा ही अवगत होना सम्भव है; क्योंकि समाधियों द्वारा ही साधक में दिव्यदर्शन की सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है, इसलिए समाधियों के विषय को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि प्रायः सभी कोशों का आनुक्रमिक विज्ञान विना समाधियों के हो ही नहीं पाता है, इन कोशों में भी विज्ञानमय कोश का विज्ञान सूक्ष्मतर और आनन्दमयकोश का विज्ञान सूक्ष्मतम है।

धारणा, ध्यान में तो विज्ञान का कोई ऐसा विषय नहीं होता जो 'आत्म-साक्षात्कारक' वा मोक्षसाधक हो; किन्तु समाधियों द्वारा प्राप्त किया जाने वाला विज्ञान 'आत्मसाक्षात्कारक' तथा 'मोक्षसाधक' होता है। क्योंकि अज्ञान के कारण ही तो जीवात्मा का अनुराग तथा आसक्ति प्रकृति के 'कार्य' 'कारण शरीर,' 'सूक्ष्म-शरीर' तथा 'स्थूलशरीर' इन तीनों शरीरों में हो गई है। समाधि द्वारा जब यह 'पुरुष' इस बन्धन का साक्षात्कार कर लेता है, तब इनको बन्धन का हेतु समझ कर इस प्रकृति-पुरुष-विवेक द्वारा 'विवेकख्याति' में साक्षात् रूप से 'तत्त्वज्ञान' प्राप्त कर लेता है। उस समय परमवैराग्य के उदय से इन बन्धनों को त्याग देता है। परमवैराग्य ही मोक्ष का मुख्य हेतु है क्योंकि **'ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्'**—योगदर्शन के १-१६ सूत्र पर भाष्य करते हुए श्री व्यास ने ऐसा ही कहा है।

समाधि क्या है ?—यह समाधि, चित्त तथा बुद्धितत्त्व की एक ऐसी सूक्ष्म अवस्था है जो पदार्थों के तत्त्वों का विश्लेषण करके, पदार्थ के सूक्ष्म स्वरूप का साक्षात्कार करा देती है—उसे खोल देती है; जिसके पीछे पदार्थ की वास्तविकता के विषय में पुनः सन्देह, संशय, विपर्यय, विकल्प आदि अज्ञान या मिथ्याज्ञान के प्रवेश के लिए अवकाश ही नहीं रहता। वेद शास्त्र एवं विज्ञजनों के व्याख्यानों से तो पदार्थ का सामान्य ज्ञान ही होता है; परन्तु विशेषज्ञान—विज्ञान नहीं होता। परन्तु समाधियों द्वारा प्राप्त विशेषज्ञान-अतीन्द्रिय पदार्थों का हुआ साक्षात्कार, ही है जो कि 'आत्मविज्ञान' तथा मोक्ष में हेतु है। समाधियां इन्हीं अतीन्द्रिय भावों का दर्शन कराकर, मोक्ष के द्वार पर लाकर खड़ा कर देती हैं। समाधियों की संख्या वा श्रेणियों के विषय में आचार्यों के मतभेद हैं, किन्तु योग के प्रामाणिक ग्रन्थ पातंजल योगसूत्र के अनुसार समाधियों के प्रमुख छः भेद हैं।

सांख्य और योग दोनों ही अलिंग प्रकृति को त्रिगुणों की साम्यावस्था मानते हैं। ऐसी दशा में प्रकृति के रचे सभी पदार्थ तथा अवस्थायें त्रिगुणात्मक हैं। निश्चय ही इनका विज्ञान भी त्रिगुणात्मक होता हैं अतः त्रिगुणात्मक चित्त और बुद्धि भी अपने त्रिगुणात्मक कार्य और कारणों को प्रत्यक्ष कराने में तो समर्थ होते हैं; किन्तु साक्षात् रूप से चेतन-आत्मतत्त्व को साक्षात् कराने में असमर्थ हैं। इस प्रकार ये समाधियां भी

त्रिगुणात्मक होती हैं, क्योंकि सभी समाधियां, त्रिगुणात्मक चित्त और त्रिगुणात्मक की अवस्था विशेष ही तो हैं। अतः स्वभावतः 'चित्त' व 'बुद्धि' जब जिस गुण से अभिभूत होंगे, समाधि भी उसी गुण से युक्त होगी। इस प्रकार त्रिगुण सम्बद्ध समाधि के तीन भेद हैं।

१. **तमः प्रधान समाधि**—में तमस् की प्रधानता से, 'चित्त' भी जड़वत् शून्य-सा हो जाएगा; इस समय चित्त की स्थिति २,४,८,१०,१२ घन्टे वा अभ्यास सामर्थ्य के अनुसार जितने काल तक भी रहेगी, उसमें शून्य भाव का ही अवलम्बन होगा; अन्य किसी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान तथा सम्वेदन नहीं होगा, जैसा कि तामस निद्रा में होता है। तामसिक समाधि के पीछे व्युत्थान होने पर 'शून्य' के अतिरिक्त अन्य किसी भाव वा ज्ञान की स्मृति भी नहीं होती; क्योंकि वहां 'शून्य' के अतिरिक्त कोई अन्य अनुभूति होती ही नहीं। कई साधक भ्रम से इसी शून्य समाधि को 'निर्बीज' वा 'निर्विकल्प' समाधि समझ लेने की भूल कर बैठते हैं। जनसाधारण इसी भ्रम में ग्रस्त हैं, वे समाधि की सभी अवस्थाओं को सात्त्विक समाधि की उच्च अवस्था ही समझ बैठते हैं; किन्तु सदा ऐसा नहीं होता। जब कि चित्त वा बुद्धि को समाहित ही करना है तो किसी भी पदार्थ वा गुण में इन्हें समाहित किया जा सकता है; और संकल्प बल से इस बुद्धि और चित्त को रजस्-तमस् के प्रभाव से निकाल कर किसी सात्त्विक अवस्था में से कोई भी यथेष्ट अवस्था बनाई जा सकती है। हां, मन पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। जब योगी का बुद्धि तथा चित्त पर 'वशित्व' हो जाता है तब वह क्या कुछ नहीं कर लेता।

नास्तिसांख्यसमं ज्ञानम्, नास्ति योगसमं बलम्।

(शान्तिपर्व, महाभारत)

योगी की इतनी शक्ति बढ़ जाती है कि सब कुछ करने में समर्थ हो जाता है।

अभ्यास की शक्ति—निश्चय से अभ्यास भी एक विशेष शक्ति रखता है। नित्य नियम से निश्चित समय पर अभ्यास वा आत्म-चिन्तन में प्रवृत्त होने पर चित्त को ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि चिन्तन का निश्चित समय आने पर चित्त स्वतः उधर प्रवृत्त हो जाता है। अभ्यासी को फिर कठिनाई नहीं पड़ती तथा धीरे-धीरे प्रधानता भी सत्त्वगुण की होने लगती है, शेष दोनों गुण न्यून मात्रा में बने हुए सह-कारी होते हैं। '**स्थितिशीलं तमः**' के अनुसार, तमोमयी अवस्था में होने वाली अनुभूति कुछ 'निद्रावृत्ति' से मिलती-जुलती है; किन्तु कुछ विलक्षण होगी। गुरु के सत्संग के अभाव में जो साधक संकल्प-विकल्प का अभाव करते रहते हैं उन्हें प्रथम यही शून्य अवस्था प्राप्त होती है। मैंने भी अभ्यास की पूर्वावस्था में वर्षों ही इसी शून्य समाधि में बिताए हैं। दैनिक अभ्यास काल को थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते हुए इस शून्य समाधि को कई दिनों तक बढ़ा लिया था; किन्तु १०-१५ दिन लगातार बैठने पर भी कोई ज्ञान-विज्ञान उन दिनों नहीं होता था। देह के अन्यान्य अंग तथा इन्द्रियां काष्ठवत् जड़ हो जाते थे; संकल्प से व्युत्थान होने पर भी लगभग घन्टे भर में देह तथा इन्द्रियों की स्थिति ठीक हो पाती थी। जब इस प्रकार कई दिनों तक बैठने का विचार होता था, तब उससे कई दिन पूर्व नेति, धौति वस्ति, वज्रौली आदि हठयोग की क्रियाओं से

शरीर शोधन करके ही बैठा करता था और बैठना भी ऐसे ही चाहिए । आज से ३०-३२ वर्ष पूर्व की इस अवस्था में रहते और अभ्यास करते हुए कोई ज्ञानोपलब्धि होती न देखकर अमृतसर से चलकर हिमालय के आंचल में गङ्गोतरी को जाते हुए मार्ग में अनायास मिले एक महापुरुष के सत्संग से ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण हुई । इस प्रकार ज्ञानपिपासा बुझाने के लिए तो साधक को विज्ञान प्राप्त कराने वाली समाधियों का आश्रय लेना उचित है ।

२. **रजः प्रधान समाधि**—में विज्ञान प्राप्ति के लिए प्रवृत्त रजो गुण की सहायता 'सत्त्व' करता है; और ये दोनों मिलकर 'तम' को इतना दबा देते हैं कि तमोगुण विज्ञान प्राप्ति में बाधक नहीं बन सकता । रजः प्रधान समाधियों में सर्व प्रथम समाधि—'सविकल्प' है । किसी स्थूल पदार्थ का पूर्वापर रूप से साक्षात्कार करने के लिये अभ्यासी जब बुद्धि को समाहित करता है तब सर्वप्रथम उस पदार्थ के स्थूल अंग, रंग, रूप, नाम आदि सन्मुख आते हैं । फिर इनके विषय में—पारस्परिक कार्य शैली के विषय में, जिज्ञासा उत्पन्न होती है, पश्चात् इन सब के कार्यक्रम का साक्षात् विज्ञान होता है । जैसे-अभ्यासी जब मूलाधार चक्र के साक्षात्कार की कामना से समाहित होकर बैठता है तब 'मन' मूलाधार में अपनी रश्मियां डालकर इस स्थान को प्रदीप्त कर देता है, तब मानो वहां पर अग्नि-कुण्ड का दर्शन, फिर इसकी लम्बाई चौड़ाई आदि का ज्ञान; पश्चात् यहां पर होने वाली क्रियाओं का परिज्ञान होता है । यहां पर तीन बातें स्पष्ट होती हैं ।

१. वस्तु का दर्शन—अर्थ ।
२. वस्तु का नाम ।
३. वस्तु तथा नाम के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान ।

नाम, अर्थ और ज्ञान; इन सब को देखते हुए यह भी ज्ञान रहता है कि—
मैं देख रहा हूँ (ध्याता) ;
वस्तु को देखने की प्रक्रिया (ध्यान) ;
वस्तु या पदार्थ के रंग, रूप, आकार, प्रकार का ज्ञान (ध्येय) ;
इन तीनों-ध्याता, ध्यान, ध्येय का संगठित रूप 'त्रिपुटी' इस अवस्था में बनी रहती है ।

सवितर्क समाधि—इसी कारण पदार्थ का पूर्वापर रूप से साक्षात विज्ञान हो पाता है; इस प्रकार स्थूल पदार्थों के स्थूल रूपों को स्थूल रूप से दर्शाने वाली समाधि की यह संज्ञा है ।

सविचार समाधि—आगे इन स्थूल पदार्थों को बनाने वाले सूक्ष्म तत्त्वों, तथा स्वतंत्र तत्त्वों का साक्षात् करने के लिए बुद्धि तत्त्व को ब्रह्मरन्ध्र में समाहित किया जाता है । तब वहाँ के दिव्य पदार्थों को देखकर इन ध्येय पदार्थों के विषय में तर्क-वितर्क, ऊहापोह उठता है; इस ऊहापोह रूपी रजोगुण से प्रेरित बुद्धि मन के द्वारा उन पदार्थों के विषय में निर्णय करती है । यहां के दिव्य दृश्यों को 'दिव्यनेत्र' ही देख रहे होते हैं और 'मन' इस दर्शन-व्यापार को बुद्धि के लिये समर्पित करता

जाता है। तब बुद्धि ऐसे सब निर्णय देती है कि यह पदार्थ इतना लम्बा-चौड़ा, मोटा पतला, ऊंचा-नीचा, गोल-त्रिकोण आदि आकृति का, लाल-पीले आदि रंग का, स्थिर व गतिशील, अणु-महत् वा मध्यमपरिणामी, किन तत्त्वों से, किस कार्य-सिद्धि के लिए बना है ? ब्रह्मरन्ध्रगत हमारी सूक्ष्मेन्द्रियां, मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व पंचतन्मात्रिक मण्डल इनके रंग रूप, आकार, इनके व्यापार आदि का निश्चयात्मक-क्रमिकज्ञान, अतीन्द्रिय एवं सूक्ष्मतर विज्ञान। इसका समस्त विज्ञान जिस समाहित अवस्था के द्वारा होता है उसकी संज्ञा—'सविचार-समाधि' है। सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय तत्त्वों वा पदार्थों के दर्शन के उपरान्त, इन पदार्थों की चेष्टा-क्रिया-गति आदि को देखने के विचार की पूर्ति इसी 'सविचार समाधि' में होती है। अतः इसका यह सार्थक नाम है। और इन सूक्ष्मतत्त्वों वा पदार्थों की सीमाओं की।

सूक्ष्म-विषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्

(योग० पा० १। सू० ४५)

इस सूत्र ने निर्धारित कर दिया है अर्थात् पदार्थों की सूक्ष्मता की सीमा अलिङ्ग प्रकृति तक है। फलतः—'सविचार समाधि' द्वारा प्रकृति तक के सब पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है। इस विज्ञानप्राप्ति में रजोगुण की सहायता सत्त्व गुण करता है अर्थात्' सत्त्व गुण के प्रकाश में रजोगुणी सब क्रियाएं दीखा करती हैं—**क्रियाशीलं-हि रजः**'; और बुद्धि इनका निर्णय करती जाती है।

समाधि की सविचार अवस्था—में स्थिति दृढ़ हो जाने पर प्रत्येक मण्डल, चाहे वह ब्रह्मरन्ध्र का हो अथवा हृदय का हो, अपने दिव्य स्वरूप को प्रकट करने लगता है। तब ये दिव्य विषय भी स्फुटित—प्रकट होने लगते हैं; जैसे—दिव्य श्रोत्रेन्द्रिय दिव्य शब्दों को—दूरदेश के शब्दों को, स्पर्शेन्द्रिय दिव्य स्पर्श को, इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के दिव्य विषय प्रकट होने लगते हैं। जैसे स्थूल इन्द्रियों के गोलक स्थूल शब्दादि के ग्रहण करने और प्रत्यक्ष करने में कारण वा हेतु हैं, ऐसे ही ज्योतिर्मयी सूक्ष्म दिव्य इन्द्रियाँ भी दिव्य रूप-रसादि विषयों को प्रत्यक्ष कराती हैं। इससे आगे ब्रह्मरन्ध्रगत समस्त ज्ञान-विज्ञान का विषय, जो कि आगे ग्रन्थ में आयगा, इस 'सविचार समाधि' का ही विषय है।

इस प्रकार—तर्क-वितर्क, ऊहापोह आदि युक्त स्थूल-सूक्ष्म-विज्ञान, 'सवितर्क' तथा 'सविचार' समाधियों में समाप्त हो जाता है। आगे जब ये सब तर्क-वितर्क बन्द हो जाते हैं।

अ. तब स्वतः ही केवल वस्तु का दर्शनमात्र होता है।

ब. रजोगुण की तीव्रता मिट कर सत्त्वप्रधान समाधि की अवस्था आने लगती है।

३ सत्त्व प्रधान समाधि—

इसमें रजस्-तमस् इतने दब जाते हैं कि सत्त्व के प्रकाश से प्रकाशित वस्तुमात्र ही 'ध्येयाकार वृत्ति' से 'अस्ति' (है) इस रूप में ही भासती रहती है।

निर्विचार समाधि—सत्त्वप्रधान समाधि है। 'यह है' इतना ही ज्ञान होता है; अन्य कोई विकल्प उठता ही नहीं। 'चित्त' इसमें ध्येयाकार रूप से धारा प्रवाह से बहता रहता है जिससे आनन्द विशेष की उपलब्धि होती है। सत्त्व का प्राबल्य कोई तर्क-वितर्क उठने ही नहीं देता। 'निर्विचार' की एक अवस्था विशेष ही 'आनन्दानुगत-समाधि' है।

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्;
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'

(मैत्राण्युपनिषद्० प्रपाठक ४। मं०९)

ऐसा उपनिषत्कार उक्त समाधि के विषय में कहते हैं। इससे मिलती हुई 'अस्मितानुगत समाधि' है इसमें 'अहं अस्मि' वा 'अस्मि' मात्र का वोध ही होता है।

'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः'

(योग पा० १। सू० ४७)

इस सूत्र के अनुसार 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' की योग्यता चित्त में उत्पन्न होकर, ऋतम्भरा प्रज्ञा' के आलोक में 'विवेकख्याति' होकर 'आत्मसाक्षात्कार' हो जाता है। ये सभी समाधियाँ 'सबीज' कही जाती हैं, क्योंकि इन सब में 'चित्त' किसी न किसी वस्तु का सहारा लिए रहता है।

धर्ममेघ—जब ये सब सहारे छूट जाते हैं, और 'आत्मा' को 'चित्त' की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती तब परमवैराग्य रूप 'धर्ममेघ' की स्थिति में आत्मा स्वरुपस्थ रहनेलगता है। इस अवस्था में स्वरुप में स्थिति के कारण 'चित्त-विषयक' कोई ज्ञान नहीं होता।

असम्प्रज्ञात समाधि—यह सबसे अन्तिम अवस्था है, जिसका नाम 'असम्प्रज्ञात समाधि' है। यथा—

'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः'।

(योग० पा० १ सू० १८)

अन्य असम्प्रज्ञात समाधि में सर्ववृत्ति-निरोध होने पर केवल संस्कार शेष रह जाते हैं।

निर्बीज-समाधि—यही वास्तव में आत्मा की स्वरूप स्थिति है

'तस्यापि निरोधे सर्व-निरोधान्निर्बीजः समाधिः'।

(योग० पा० १ सू० ५१।)

परम वैराग्य द्वारा असंप्रज्ञात समाधि में संस्कारों का निरोध होता है और आत्मा स्वरूप में स्थित हो जाता है।

इस प्रकार इन समस्त समाधियों द्वारा प्राप्त किए विवेक-ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। यही 'व्यष्टियोग' है; सृष्टि-विज्ञान आदि 'समष्टि योग' ब्रह्मविज्ञान * का विषय है, जो कि आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् अन्तिम दशा में 'आकाश मण्डल' में ही साक्षात्कार करने योग्य है। यह संक्षिप्त रूप से समाधियों का आवश्यक तथा आंशिक वर्णन कर दिया है। इसी के अनुसार अगले सब विषयों का विज्ञान करते चले जायें।

—:o:—

* पूर्ण विवरण के लिये हमारा 'ब्रह्म विज्ञान' देखिये।

ॐ

आत्म-विज्ञान

अध्याय : : १

अन्नमयकोश

और उसका विज्ञान

जीवन का मौलिक प्रश्न—बुद्धि के थोड़ा विकसित होते ही जब मनुष्य अपने सन्मुख एक विशाल और विचित्रताओं से परिपूर्ण चराचर जगत् को फैला देखता है तब वह आश्चर्य-चकित रह जाता है। उस समय बुद्धि और वाणी का पूर्ण विकास न होने से यद्यपि मनुष्य कुछ भी कथन नहीं कर सकता, तथापि जब वाणी और बुद्धि का कुछ विकास हो जाता है, तब उसके अन्दर स्वाभाविक और सहज-रूप से कुछ-एक प्रश्न उठा करते हैं; और वे मौलिक-प्रश्न होते हैं जिन को लेकर 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का प्रारम्भ हुआ है। जैसे—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति। किं-कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाता,
जीवामः केन, क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन, सुखेतरेषु वर्तामहे,
ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

(श्वेताश्वतर. अ० १। म०१)

अर्थात्, भौतिक-विज्ञान में निपुण, तपोधन कुछ ऋषिजन जब भौतिक-विज्ञान से भी इस सृष्टिरचना का रहस्य न जान पाए कि—

१—इस सृष्टि का निर्माता ब्रह्म है, वा अन्य कोई है? हम कौन हैं? कहां से अथवा कैसे उत्पन्न हो गए हैं? हमारा इस जगत् से क्या सम्बन्ध है? और किसके नियन्त्रण में बंधे हुए ये अनन्त जीव सुख-दुःख भोग रहे हैं? तब उन्होंने 'पराविद्या-ध्यानयोग' का आश्रय लिया।

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्,
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि,
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः"

(श्वेताश्वतर० अ०१। म०३)

2500 - 35

वे जान गए कि—'अज' नामक अदृश्यमान महान् चेतन ने काल-स्वभाव-नियति-यदृच्छा-पंचमहाभूत-योनि-जीव और इन सब के संयोग को भी व्याप्त और आच्छादित किया हुआ है, किन्तु फिर भी वह अन्य द्रव्योंवत् प्रत्यक्ष दीखता नहीं है। उसी 'अज' ने 'अजा' नामक एक महान् जड़तत्त्व से पारावार रहित एक देवालय बनाया, और वह महान् अज 'भगवान्' अपने आश्रित देवगणों के साथ इस सृष्टि के देवालय में निवास करने लगा। ऋषियों ने अपनी 'दिव्यदृष्टि' से आगे देखा कि इस सर्वाधार 'अज' को अपने निवास के लिये न तो किसी आधार वा स्थान की आवश्यकता है और न इस सर्वसमर्थ परिपूर्ण को अपनी किसी इच्छापूर्ति के लिए किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है, तब यह सृष्टि क्यों रची गई ?

जीवात्मा का भोग और मोक्ष—फिर ध्यान द्वारा देखा कि,

'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'

(योग० पा०२। सू०१८)

अर्थात् यह समस्त स्थूल और सूक्ष्म-जगत् अमृतपुत्र 'अज' जीवात्मा के भोग और अपवर्ग-सिद्धि के लिए रचा गया है। अमृतपुत्र 'जीवात्मा' के लिए भी विश्वपिता 'भगवान्' ने अपने महान् विशाल 'पुर' से मिलती-जुलती एक अति सुन्दर 'देवपुरी' बनाई और उसमें 'जीवात्मा' को प्रतिष्ठित कर दिया। श्रुति ने उस 'अयोध्या नगरी' का स्वयं वर्णन किया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानांपूरऽयोध्या,

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः

(अथर्व० १०-२-३१)।

यह 'देवपुरी' मानव का स्थूलदेह ही है।

मुक्ति के लिए देह की अनिवार्यता—'जीवात्मा' के भोगों का सम्पादन करता हुआ यह स्थूलदेह, मोक्षरूप 'धर्म' के उपार्जन का भी मुख्यतम साधन है; क्योंकि मोक्ष-साधक अन्य 'सूक्ष्मशरीर' और 'कारणशरीरों' का भी यही आधारभूत आवास-स्थान है। किसी मनीषि की उक्ति है—

'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि, धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।

विना देहऽपि योगेन, न मोक्षं लभते विधे ॥'

अर्थात् हे विधे ! बिना इस मानव देह में अधिकृत योग के ज्ञानी, विरक्त, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, भी मोक्ष नहीं पा सकता। अर्थात् इस मानव देह में ही योग का अभ्यास हो सकता है। अन्य किसी योनि में नहीं।

२—**आत्मपुरी विषयक अज्ञान, देह-ज्ञान की आवश्यकता, १० केन्द्र, अन्नमयकोश**—इस प्रकार हमने देखा कि, यह मानवदेह केवल भोगविलास के द्वारा अपवित्र करने के लिए नहीं मिला है, वरन् इसका मुख्य प्रयोजन मनुष्य को मोक्षधाम तक ले जाना है।

'आत्मपुरी' विषयक अज्ञान—यह कैसे आश्चर्य की बात है कि सभी सांसारिक स्त्री-पुरुष अपनी तथा पैतृक सम्पत्ति का अधिकांश ज्ञान तो रखते हैं, किन्तु प्रतिशत एक व्यक्ति को भी अपनी आत्मा के निवास-स्थान इस 'आत्मपुरी-अयोध्या' का साधारण-सा भी ज्ञान नहीं है तो फिर अन्य 'सूक्ष्म' और 'कारण शरीरों' का विज्ञान होना तो दूर की बात है। स्थूलदेह के विषय में कम-से-कम साधारण मोटा सा ज्ञान तो सर्वसाधारण को भी होना चाहिए, जिसका कि सर्वथा अभाव है। किन्तु एक मुमुक्षु को योगसाधना के लिये स्थूल देह की रचना का आवश्यक ज्ञान इसलिये प्राप्त करना चाहिये कि वह इसमें स्थित आत्मा-परमात्मा के दर्शन करके मोक्ष लाभ कर सके।

स्थूल देह के ज्ञान की आवश्यकता—'जैवीजगत्' की रचना से पूर्व की सब सृष्टि-रचना जो पंचमहाभूतों से होती है, वह जड़ात्मक होने से 'ब्राह्मी-सृष्टि' कहलाती है; और जैवीजगत् की पूर्वावस्था में तो 'अमैथुनी', अर्थात् नर-नारी के मिथुन के संयोग के बिना प्राणि-जगत् की उत्पत्ति होती है, पश्चात् मिथुन-संयोग से 'जैवीजगत्' बनता चला आ रहा है। मोक्ष-साधनों में योगी को अपने ही देहों से कार्य लेना होता है, अतः उन देहों में सब से पहली यह 'स्थूल-काया' है। इसी में अगले दोनों देहों का अधिवास है। इन तीनों शरीरों का परस्पर घनिष्ठतम सम्बन्ध भी है। इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध के बिना न तो जीव का 'भोग' सिद्ध होता है, न 'योग' न 'मोक्ष'। अतः, अब हम स्थूल शरीर का विस्तार से वर्णन करते हैं।

स्थूल देह के मुख्य अङ्ग—(क) शिर (ख) ग्रीवा (ग) वक्षःस्थल (घ) उदर (ड) कटि (च) उरु जंघा हैं। पादों से युक्त, ६ फुट ऊँचे, सुडौल, मांसल सुगठित शरीर को देख कर कौन मुग्ध नहीं हो जाता ? जिस आत्मपुरी का ब्रह्मरूप ऐसा सुन्दर हो उसके अन्दर रहने वाले अन्य शरीर कैसे मोहक होंगे यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। किन्तु इसके अन्दर कुछ अन्य स्थूल वस्तुएँ भी हैं जो बाहर से नहीं दीखतीं, और इन आन्तरिक पदार्थों को परस्पर जोड़ कर रखने वाले पदार्थ भी हैं। यथा—अस्थियाँ, मांस, स्नायुजाल-आदि। इस काया को स्थिर और सशक्त रखने के लिये हमें आहार लेना पड़ता है जिससे देह पुष्ट रहता है। उस भोजन से त्वचा, माँस, रुधिर, रस, मेद, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र तथा ओज बनता है। तथा यह देह इन द्रव्यों के संयोग से पुष्ट और कार्य-सामर्थ्ययुक्त बना रहता है।

(क) शिर-इसमें नेत्र, नासिका, कान, मुख, खोपड़ी, भ्रू, ललाट, कपोल, दो ओष्ठ, हनु दन्त, श्मश्रु, मसूढ़े, तालु, कठिन तालु,काक-शुण्डिका, जीभ, कण्ठ, और कण्ठ के ऊपर कोमल तालु में दोनों नासा-छिद्र आ मिले हैं। दोनों कनपटियाँ, शिर को ग्रीवा से जोड़ने वाला भाग मन्या वा गुद्दी, शिखा रखने का स्थान शीर्ष भी है। अन्दर शिर में अगली ओर बड़ा और पिछली ओर लघुमस्तिष्क है। कण्ठ के नीचे जीभ की जड़ में पिछली ओर स्वरयन्त्र तथा स्वरयन्त्र पर एक ढकना लगा है। स्वरयन्त्र के पीछे होकर भोजन की नली जाती है।

(ख) ग्रीवा—यह शिर और वक्ष को मिलाने वाला मुख्य भाग है। ठोडी के नीचे सामने की ओर जो उठी हुई कड़ी-सी वस्तु दीख पड़ती है वह 'स्वरयन्त्र' है। हँसली नामक अस्थि के पीछे 'टेंटुआ' है। ठोड़ी को ऊपर उठाने पर सन्मुख जो कठोर-

सी वस्तु प्रतीत होती है वह कन्ठास्थि है । भोजन निगलते समय जो ऊपर-नीचे को उठता-गिरता है, वही स्वरयन्त्र है । स्वरयन्त्र तथा टेंटुये में से होकर प्राणवायु फुप्फुसों में जाता है । टेंटुए के पीछे से होकर भोजन की नाली ग्रामाशय में जाती है जिसे हम न तो बाहर से टटोल सकते हैं न देख सकते हैं । टेंटुए के दोनों ग्रोर एक तिरछा कोमल-सा डण्डा होता है जो शिर को दाईं ग्रोर घुमाने पर बाईं ग्रोर का तथा बाईं ग्रोर घुमाने पर दाईं ग्रोर का उभरता हुग्रा स्पष्ट दीख पड़ता है । ये ग्रीवा की दो माँस-पेशियाँ हैं । ग्रीवा के पिछले भाग को कृकाटिका भी कहते हैं; यहां मध्यरेखा में टटोलने पर कड़ी-कड़ी- सी प्रतीत होने वाली गुटिकाएँ—रीढ़ के 'कशेरु' हैं ।

(ग) वक्षःस्थल—यह ग्रीवा के साथ मिला हँसली से निचला भाग है । वक्ष के दाईं-बाईं ग्रोर हँसली से मिली 'भुजाएँ' हैं । हँसली से दाईं-बाईं ग्रोर स्कन्धों की ग्रोर जाती हुई दोनों ग्रस्थियाँ 'ग्रक्षक' कहलाती हैं । दुबले-पतले देहों में ये स्पष्ट दीख पड़ती हैं । छाती पर उभरी दो मांस की ग्रन्थियाँ 'स्तन' हैं । नारी में ये स्तन बड़े ग्रौर दूध देने वाले होते हैं । वक्ष के सामने मध्य रेखा में लगी चौड़ी-सी ग्रस्थि 'वक्षास्थि' है । इस ग्रस्थि के साथ जुड़ी वक्ष को बनाने वाली १२ 'पसलियां हैं । ये भी दुबले-देहों में स्पष्ट उभरी हुई दीखती हैं । वक्ष का पिछला भाग (पीठ) है । पीठ में कन्धों से जुड़े दाएँ-बाएँ 'खव्वे' हैं । पीठ के मध्य में टटोलने पर ऊपर से नीचे तक प्रतीत होने वाली गाँठें रीढ़ की ग्रस्थियाँ 'कशेरु' हैं । इनसे बने दण्डे को 'पृष्ठवंश' या 'मेरूदण्ड' भी कहते हैं । वक्ष के भीतर दाईं-बाईं ग्रोर एक-एक फुप्फुस है, ग्रौर दोनों फुप्फुसों के मध्य में वामस्तन की ग्रोर 'हृदय' है । दाईं ग्रोर ४-५ पसलियों के नीचे 'यकृत्' है । इसके ग्रतिरिक्त वक्ष में रक्त की नलिकाएँ, भोजन प्रणाली, टेंटुग्रा, श्वास-नलिका, वातसूत्र, सुषुम्ना हैं । हँसली के दाएँ-बाएँ एक-एक भुजा; प्रत्येक भुजा में कोहनी, कलाई, ५ ग्रंगुलियाँ ग्रौर प्रत्येक ग्रंगुलि में ३-३ पोरे हैं ।

(घ) उदर—वक्ष, उदर, कटि ग्रौर नितम्बों को मिलाकर 'कबन्ध' कहलाता है । इसे 'धड़' भी कहते हैं । पसलियों का निचला भाग 'उदर' है । निचली पसलियों के निम्न भाग के मध्य में दीखने वाला गढ़ा 'कौड़ी' है । कौड़ीप्रदेश से लगता हुग्रा ग्रन्दर 'ग्रामाशय' भोजन पड़ने का स्थान है । ग्रामाशय के दाईं ग्रोर 'यकृत्', वाम ग्रोर 'प्लीहा' ग्रौर मध्य में 'क्लोम-ग्रन्थि' है । ग्रामाशय के निचले किनारे से निकली पतली नली को 'छोटी ग्रांतें' कहते हैं । छोटी ग्राँतों में सामने दीखने वाला गढ़ा 'नाभि' है । छोटी ग्राँतों के गुच्छे के निचले भाग से, दाईं ग्रोर से 'बड़ी ग्राँत' प्रारम्भ होकर यकृत् तथा प्लीहा के निचले भाग को स्पर्श करती हुई बाईं ग्रोर को नीचे पृष्ट की ग्रोर उतरती हुई 'गुद्द्वार' पर समाप्त हो जाती है ।

(ङ) कटिप्रदेश—उदर के पिछले भाग पीठ से मिला 'कटिप्रदेश' (कमर) है । यहाँ पर मध्य रेखा में टटोलने पर मेरुदण्ड के कशेरु उभरे प्रतीत होते हैं । पृष्ठवंश के साथ, उदर के पिछले भाग में मूत्र बनाने के लिए दाएँ-बाएँ एक-एक 'वृक्क' (गुर्दा) एवं वृक्कों के सिर पर एक-एक 'उप-वृक्क' जुड़ा है । उदर के निचले सन्मुखी भाग—'पेडू' में, कटोरा जैसा स्थान 'मूत्राशय' है । पेडू के दाईं-बाईं ग्रोर जो मोटी ग्रस्थियाँ पृष्ठवंश से जा जुड़ी हैं, वहाँ पर पुरुषों में मूत्राशय तथा नारियों में वहाँ पर गर्भाशय

होता है। पेड़ू के निम्न सन्मुखी भाग में मूत्रेन्द्रिय और उसके नीचे थैली में बन्द लटकते हुए दो अण्डकोष हैं। पेड़ू में भीतर स्थित मसाने को 'वस्ति-गह्वर' कहते हैं।

(च) उरु-जांघ—कटि से जुड़ी 'जाँघें' जाँघों से मिला निचला जोड़ 'जानु' वा 'घुटना' कहलाता है। जानु से गिट्टे तक का भाग 'जँघा' वा 'पिंडली' है; इसके नीचे 'गुल्फ़' वा 'गिट्टा' है। पैर का पिछला भाग 'एड़ी' वा 'पार्ष्णि' है। इस से पैर जुड़े हुये हैं। ये सब देह के मुख्य भाग हैं।

देहधारक केन्द्र—इस देह के धारक दस मुख्य केन्द्र हैं:—१. अस्थियाँ २. सन्धियाँ ३. मांस-पेशियाँ ४. रक्त एवं रक्तवाहक ५. श्वासोच्छ्वास ६. पाचन-पोषण ७. मूत्र तथा मूत्रवाहक ८. वातनाडियां ९. ज्ञानेन्द्रियाँ १० कर्मेन्द्रियाँ।

१. **अस्थियां**—त्वचा, वसा, मांस तथा सौत्रिक-जाल के नीचे जो कठोरतम अस्थियों से बना मानव-देह है उसे 'कंकाल' कहते हैं। यही 'अस्थिपँजर' भी कहलाता है। यह छोट-मोटी २०६ अस्थियों से मिलकर बना है। समस्त मानव-देह इसी अस्थि-पँजर के आधार पर मांस से सुगठित होकर इतना बड़ा और सुन्दर दीखता है। अन्यथा यह मांस का एक लोथड़ा-सा होता जिस से संसार का कोई भी कार्य-व्यवहार न हो पाता। धन्य है वह विश्वकर्मा, जिसने अपनी चतुरता से अस्थियों के पँजर में मस्तिष्क, मस्तिष्क में इन्द्रियां, मन, बुद्धि, ज्ञान और कर्म कराने के सूत्र, जीवन-संचालक हृदय, फेफड़े आदि अङ्ग ऐसी निपुणता और सावधानी से सुरक्षित तथा कार्य-व्यवस्थित करके सटा दिए हैं, जो उछलकूद और भाग-दौड़ से भी तो अव्यवस्थित नहीं होते। इस 'कंकाल' के सात विभागों की अस्थि-संख्या इस प्रकार है—

(१) कपाल वा 'करोटी' (खोपड़ी) २२ अस्थियों से बनी है;

(२) 'मेरुदण्ड' २६ कशेरुओं से;

(३) 'वक्षस्थल' २५ विभिन्न अस्थियों से;

(४) 'भुजाएँ' और दाएँ-बाएँ 'हस्त' ३२-३२ अस्थियों से;

(५) 'जांघ' से 'पैर' तक ३१ दाएँ, ३१ बाएँ में;

(६) 'कण्ठास्थि' में १;

(७) प्रत्येक दाएँ-बाएँ 'कर्ण' में ३-३ छोटी अस्थिताँ हैं। चित्र सं० ३ कंकाल को देखें।

कंकाल को देखते ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी अस्थियां विभिन्न आकृति की हैं। प्रायः सभी अस्थियां 'नल' के समान अन्दर से पोली हैं, इस आन्तरिक पोल में गुलाबी तथा पीले से रंग का चिकना (वैज़लीन-सा) एक पदार्थ भरा होता है, यही 'मज्जा' है। ये अस्थियां ऊपर से कठोर तथा भीतर से स्पंजी (सछिद्र) होती हैं; 'पहुँचे' और 'टखने' की अस्थियाँ अन्दर से भी ठोस होती हैं।

योग में विशेष उपयोगी अङ्ग—इन सब में से स्थूल देह के तीन 'अङ्ग' योगसाधना—'आत्मविज्ञान' प्राप्ति में विशेष उपयोगी हैं; १. कपाल; २. मेरुदण्ड और ३. हृदय।

(१) **कपाल वा खोपड़ी**—इस में २२ अस्थियाँ हैं। 'फुटबाल' के समान गोलाकार यह कोष्ठ ८ अस्थियों से जुड़कर बना है। इसके अन्दर मस्तिष्क है। शेष १४ अस्थियों से नाक तथा मुखमण्डल बना है। इस ढाँचे में नेत्रों के लिए गढ़े, नासिका और जबड़े सम्मिलित हैं। गोलकोष्ठ 'कपाल' है। कपाल [के सन्मुखी-भाग की अस्थियों के नाम—एक ललाटास्थि; दो पार्श्विकास्थियाँ; एक पश्चादस्थि; दो शंखास्थियाँ; एक-एक जतूकास्थि; एक झर्झरास्थि है। शिशु के कपाल में जहां फड़कन प्रतीत होती है वह 'ब्रह्मरन्ध्र' है। इसे 'पूर्वविवर' भी कहते हैं। इसी प्रकार पश्चादस्थि तथा पार्श्विकास्थियों के संगम पर भी एक गढ़ा होता है जो छः मास के भीतर ही भर जाता है। इसे 'शिवरन्ध्र' वा अधिपतिविवर' भी कह देते हैं। झर्झरास्थि में स्पंज जैसे छिद्र होते हैं। ललाटास्थि में 'भ्रूमध्य' में 'ललाटकोटर' नामक दो छिद्र होते हैं। इसी स्थान में 'आज्ञाचक्र' है। यहीं कोमल-तालु में विलम्बित काक के पास एक 'महाछिद्र' है, जिसमें से होकर 'सुषुम्ना' कपाल में घुसी है तथा 'वातकेन्द्र' की नाड़ियाँ एवं 'रक्तवहा-नाड़ियाँ' भी बाहर जाती हैं। श्रवणेन्द्रिय सम्बन्धी छोटी-छोटी तीन अस्थियाँ शंखास्थि में भीतर की ओर होती हैं। कपाल की अस्थियाँ 'कागजी-बादाम' के छिलके के समान सछिद्र-सी होती हैं।

(२) **मेरुदण्ड**—मेरुदन्ड २६ विरूपास्थि खण्ड 'कशेरुओं' से मिलकर बना है। प्रत्येक कशेरु एक दूसरे पर रक्खा और 'सूत्रों से बंधा है। इसी कारण मेरुदण्ड लचकीला है। प्रत्येक दिशा में वह मुड़-तुड़ जाता है ग्रीवा में ७ कशेरु, पीठ में १२, कटि-प्रदेश में ५, कटि से निचले वस्ति-गह्वर में रहने वाले भाग 'त्रिक' में २ कशेरु हैं। परन्तु यह 'त्रिक' वस्तुतः ५ छोटी कशेरुकाओं से मिलकर बना है। इसके निचले भाग में स्थित और इसका निचला भाग 'पुच्छास्थि' वा 'गुदास्थि' (किंवा चँचु' नाम का कशेरु) भी ४ कशेरुकाओं से मिलकर बना है। इस प्रकार से यह सब मिलकर ३३ अस्थिखण्ड हैं। ग्रीवा के प्रथम कशेरु से त्रिकास्थि तक सब कशेरु अन्दर से पोले हैं। इस कारण ये सब एक दूसरे के ऊपर जमे पोले बांस के समान इन अस्थिखण्डों का एक पोला-दन्ड-सा बना देते हैं। इसी पोल में 'सुषुम्ना' रहती है। दो कशेरुओं की सन्धि पर कशेरु की गांठ के पिछले भाग में एक 'अर्ध-छिद्र' होता है। इन दो कशेरुओं के सम्मिलन से यह एक 'छिद्र' का मार्ग बन जाता है। जिसमें से होकर सुषुम्ना से बाहर निकलने वाली नाड़ियां 'कशेरु-नलिका' से बाहर आती हैं। चँचु-कशेरु' में छिद्र नहीं होता।'

ग्रीवा के प्रथम दो कशेरुओं को छोड़कर शेष कशेरु एक ही जैसे हैं, केवल छोटे-बड़े का भेद होता है। ग्रीवा से 'कटि' की ओर को जाने वाले कशेरु क्रमशः बड़े होते गए हैं। कटि-प्रदेश के कशेरु अति दृढ़ और मोटे होते हैं। त्रिक-देश में ५ कशेरुओं से बनी दो अस्थियाँ हैं। ऊपर की बड़ी और निचली अस्थि छोटी है। इनके परस्पर जुड़ जाने से बनी इस नलिका में नाड़ियाँ रहती हैं। इस अस्थि के अगले-पिछले भागों पर ८-८ छिद्र हैं, जिनमें से होकर सामान्य और रक्तवाह नाड़ियाँ बाहर आती-जाती हैं।

(३) तीसरे उपयोगी अङ्ग वक्षः स्थल का वर्णन पृष्ठ २७ और पृष्ठ ३६ पर दिया गया है।

तन्तु—इस समस्त देह को बांधकर रखने वाली वस्तु 'तन्तु-जाल' है। ये तन्तु, कोष्ठकों और तरल पदार्थ से बने हैं; कार्यभेद से ये कई प्रकार के हैं तथा सर्वत्र सभी अङ्गों में जाल के समान फैले हुए हैं। यह तीन प्रकार के हैं—

१. **मांस-तन्तु**—आवश्यकतानुसार सिकुड़ कर छोटे हो जाते हैं और फिर अपनी पूर्व अवस्था में आ जाने का विशेष गुण रखते हैं। इसी 'स्थिति-स्थापकता' गुण के कारण शरीर में सब गतियाँ होती हैं।

२. **वात-तन्तु**—मस्तिष्क से निचली नाड़ियाँ वा वातसूत्र इसी तन्तु से बने हैं। वातसूत्र, विद्युत् की तारों के समान कार्य करते हैं। वातसूत्र, मस्तिष्क की आज्ञा को विविध अङ्गों तक, तथा इन अङ्गों की सूचनाएँ मस्तिष्क तक ले जाते हैं। मस्तिष्क इन्हीं से सोचने-विचारने का कार्य करता है। यह गुण किसी अन्य तन्तु में नहीं है।

३. **बन्धक-तन्तु**—इन तन्तुओं द्वारा एक अङ्ग दूसरे से बँधा रहता है, और देह के कोमल भागों को इनसे सहारा भी मिलता है।

२. **सन्धियां**— चल और अचल दो प्रकार की सन्धियाँ देह में हैं।

(अ) चल सन्धियाँ—कन्धे, कोहनी, कलाई, अँगुलियाँ, कूल्हे, जानु, गुल्फ़, पादाँगुलियाँ, पृष्ठवंश, ठोडी और शंखास्थि की सन्धियाँ 'चल' हैं।

(ब) अचल सन्धियाँ—खोपड़ी में हैं। ये अस्थियाँ अटल रूप से एक-दूसरी से जुड़ी हैं। कहीं पर दांते परस्पर जुड़ गये हैं, कहीं पर एक-दूसरी पर चढ़ कर जुड़ गई हैं। जोड़ने वाली वस्तु तन्तु कहाती है।

३. **मांस**—कंकाल पर सर्वत्र माँस ही चढ़ा हुआ है। देह के भार का ४२-४३ प्रतिशत मांस है। देह की समस्त गतियाँ—चलना-फिरना, हाथ-पैर-हिलाना, मुख खोलना, श्वास-प्रश्वास लेना, भोजन परिपाक, आहार का आँतों में धीरे-धीरे सरकना, मैथुन करना, मल-सूत्र त्यागना, हृदय का स्पन्दन, भय वा शीत से रोमाँचित होना आदि सब गतियाँ मांस द्वारा ही होती हैं। मांस के छोटे-मोटे खण्डों को 'पेशियाँ' कहते हैं। पेशियां सौत्रिक तन्तुओं-द्वारा बँधी रहती हैं। प्रत्येक पेशी में तथा दो पेशियों के मध्यस्थल में रक्त की नालियाँ और वातसूत्र घुसे दीखते हैं। कंकाल से जुड़ा माँस तो पेशियों में विभक्त है; किन्तु आशयों, थैलियों, नलियों, मार्गों और हृदय में लगा मांस 'पेशियों' में विभक्त नहीं है। इन स्थानों में मांस की मोटी-पतली तहें आवश्कतानुसार लगी हैं। यथा अन्नमार्ग की दीवारों में लगा मांस 'पेशी' के रूप में विभक्त नहीं है। अपने 'स्थिति-स्थापकता' के गुण के कारण ये मांसपेशियाँ आवश्यकतानुसार छोटी मोटी, लम्बी-चौड़ी और पतली हो जाती हैं, और ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ हट जाती हैं। तभी सब प्रकार की चेष्टाएँ देह में हो पाती हैं। देह में 'मस्तिष्क' ही नाड़ियों के द्वारा पेशियों को गति करने की आज्ञा देता है।

(क) देह में दो प्रकार की मांसपेशियां—

(अ) ऐच्छिक, जैसे—चलना-फिरना, हाथ-पैर उठाना, बोलना, भोजन चबाना, मलमूत्र त्यागना आदि।

(ब) अनैच्छिक—इन पर हमारा अधिकार नहीं है। जैसे-हृत्-स्पन्दन, आन्त्र-क्रिया-द्वारा भोजन-पाचन, रक्त-मूत्र-मल-स्वेद- निर्माण आदि; जिन्हें हम इच्छानुसार न कर ही सकते हैं और न रोक सकते हैं।

इन गतियों को रोकने के लिए दोनों गुणों वाली मांसपेशियाँ यथास्थान लगी हैं। जैसे—

(अ) अनिच्छा प्रयोज्य मांसपेशियाँ--नेत्र के 'उपतारा' नामक भाग में; अन्न-मार्ग की दीवारों में जो कि अन्नप्रणाली के निचले भाग से प्रारम्भ होकर(आमाशय आँतों में से होती हुई) मल-द्वार तक चली गई हैं; टेंटुआ तथा इसकी दीवारों में; रक्त तथा लसीका-वाहिनी नालियों में; पाचक रसों की नलिकाओं में; हृदय तथा प्लीहा में; मूत्राशय, मूत्रप्रणाली, मूत्रमार्ग की दीवारों में; शुक्राशय, शुक्रप्रणाली, एवं प्रोस्टेट-ग्रन्थि में; योनि, गर्भाशय, तथा डिम्ब प्रणाली में; केश, रोम, और नखों की जड़ों में; स्वेदक-ग्रन्थियां, अन्डकोषों में; इन ११ स्थानों में अनिच्छा प्रयोज्य मांस प्रयुक्त है।

(ब) ऐच्छिकमांस पेशियां—कंकाल इन्हीं से जुड़ा है, पेशियाँ विभक्त हैं, प्रत्येक प्राणी स्वेच्छानुसार इनसे कार्य लेता है।

(ख) वसा—मांस के ऊपर और त्वचा के नीचे रहने वाली पीली चिकनी वस्तु 'वसा' (चरबी) समस्त देह में ही है। परन्तु पलक, अन्डकोष, शिश्न में वसा नहीं होती। नारी देहमें पुरुषों की अपेक्षा अधिक वसा होती है। अक्षिगोलकों के चतुर्दिक, वृक्क, हथेलियों, तलवों में तो वसा की गद्दियां हैं। देह के ताप-परिमाण को स्थिर रखने में वसा सहायक है, शीत और उष्ण दोनों से ही यह रक्षा करती है। श्रमिक-व्यक्ति इसी कारण स्थूल नहीं होते कि परिश्रम से उनकी वसा का अधिक व्यय हो जाता है।

अपरिश्रमी व्यक्तियों में वसा सब से पहले त्वचा के नीचे, फिर उदर के अन्दर, ठोडी के नीचे, गालों में और नितम्बों में भरने लगती है और देह बेडौल, कुरूप, भद्दा हो जाता है। हृदय जैसे मुख्यतम और कोमलतम अङ्ग में वसा की अधिकता हो जाने से किसी क्षरण मृत्यु भी हो सकती है।

(ग) मज्जा—मज्जा तथा वसा में अन्तर है। मज्जा तो लम्बी अस्थियों के खोखले गात्रों में पीले तथा लम्बी अस्थियों के सिरों पर, कलाई, टखने की छोटी अस्थियों में, वक्षः अस्थियों, पसलियों तथा कशेरुओं में गुलाबी रंग की होती है।

(घ) त्वचा—समस्त देह त्वचा से व्याप्त है। त्वचा के नीचे वसा है। त्वचा अपने से निचले पदार्थों की रक्षा करती है एवं त्वचा आवश्यक स्पर्शेन्द्रिय भी है। शीतोष्णादि का ज्ञान त्वचा से होता है। नख तथा रोम, स्वेद-ग्रन्थियाँ, रोमकूप त्वचा में ही हैं। स्वेद के रूप में देह के अनेक विष इनके द्वारा बाहर निकल जाते हैं जिससे स्वास्थ्य ठीक रहता है। एक प्रकार का स्नेह भी त्वचा से निकलता है जिससे त्वचा स्निग्ध रहा करती है, अन्यथा त्वचा रुक्ष पड़ जाए। त्वचा की मोटाई भी समस्त देह में समान नहीं है, हथेलियों, तलवों, पीठ, नितम्बों की त्वचा मोटी और पलक,

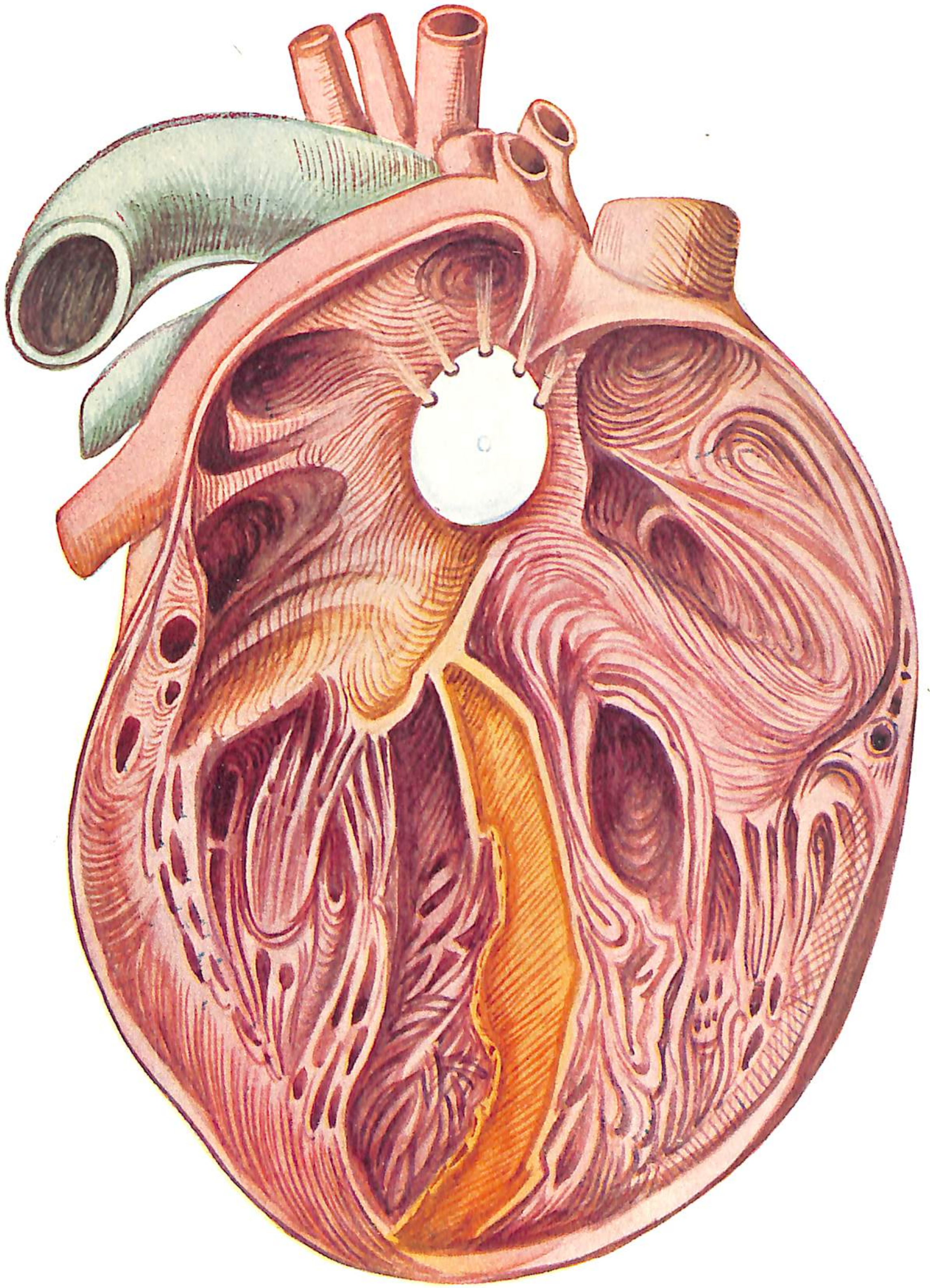
शिश्न, अन्डकोषों की त्वचा पतली होती है। नारियों की त्वचा स्वभावतः पुरुषों से पतली तथा कोमल भी होती है।

४. रक्त तथा रक्तवाहक केन्द्र—कहीं से थोड़ा कट-फट जाने पर देह में से जो लाल-द्रव निकल पड़ता है उसका नाम 'रक्त' है। समस्त देह का पोषण रक्त ही करता है। रुधिर अपारदर्शक, लवण-रस युक्त, देह में (९८.४° फ़ार्न हाईट) तापयुक्त होता है; ज्वरादि रोगों में यह ताप कभी १०७° पर पहुँच कर मृत्यु का कारण हो जाता है। सब प्राणियों के ताजे रक्त में विभिन्न प्रकार की गन्ध होती है। देह से बाहर आकर रक्त गाढ़ा पड़कर मांसवत् जमा-सा प्रतीत होता है, परन्तु माँस नहीं बन जाता। रुधिर में 'रक्त-वारि' और रक्त-कणों के साथ प्रोटीनें, वसा, अंगूरीशकर (द्राक्षौज), शर्कराजन, साधारण लवण, ओषजन, कार्बन-द्वि-ओषित, नत्रजन, यूरिकाम्ल और अनेक प्रकार के विषों के नाशक 'प्रतिविष' मिले रहते हैं। यदि किसी देह का भार १॥ मन (डेढ़ मन) हो तो उसमें इसका $\frac{1}{20}$ भाग—३ सेर रक्त होगा। रक्त में—श्वेत कण, लाल कण, तथा सूक्ष्म रक्तकण, ये तीन प्रकार के कण होते हैं। रक्ताणुओं की संख्या वा मात्रा श्वेताणुओं से अत्यधिक होती है। रक्ताणुओं के कारण ही रक्त का रंग लाल होता है। पृथक्-पृथक् रक्तकणों का रंग पीत-सा होता है, किन्तु बहुत से कण मिलाकर देखने पर लाल दीखते हैं। यह एक भौतिक घटना वा परिवर्तन है। बाल्यकाल में रक्त का रंग 'गुलाबी-लाल' तथा यौवन में 'सर्वथा लाल' होता है और वृद्धावस्था में उसमें कुछ कालिमा मिल जाती है।

(क) रक्त में लाली—लाल कणों में एक 'रक्तरंजक-रंग' होता है। जब लाल कण टूटते हैं तो यह रंग रक्तवारि में मिल जाता है। रक्तरञ्जक रंग में प्रोटीन कार्बन, ओषजन, उद्जन, नत्रजन, गन्धक, लोह आदि देह-पोषक तत्त्व मिले रहते हैं। मलेरिया, तृतीयक, चातुर्थिक आदि ज्वरों में मलेरिया उत्पादक कीटाणु रक्त-कणों में घुस कर लाल-कणों को नष्ट कर देते हैं। फलतः, 'रक्त' श्वेत पड़ जाता है; मुख, नख पीले पड़ जाते हैं। यह दुर्बलता का द्योतक चिह्न है। श्वेतकण वा श्वेताणुओं का रंग शुभ्र जलवत् होता है।

(ख) रक्तवाहक केन्द्र—रक्त-संवहन का मुख्य केन्द्र 'हृदय' ❀ है। यह अनिच्छा प्रयोज्य-मांस से बना हुआ दोनों फुप्फुसों के मध्य में वक्षःस्थल के अन्दर सुरक्षित है। एक युवक का हृदय लगभग ४॥ इंच लम्बा, ३॥ इंच चौड़ा, २॥ इंच मोटा एवं ३॥ छटाँक के लगभग भारी होता है। प्रत्येक मनुष्य का हृदय उसकी अपनी बन्द-मुट्ठी से मिलताजुलता है। अपनी बाईं मुट्ठी को छाती पर इस प्रकार

❀ चित्र संख्या १ का विवरण—हृदय में जीवात्मा का निवास स्थान है। रक्ताशर हृदय में विद्यमान यह छोटे अंगूर के समान रिक्त (पोल) है। इस पोल के मध्य में पोस्त के दाने के समान जीवात्मा विद्यमान है। जीवात्मा का कोई रंगरूप नहीं हे। केवल दिखाने के लिये चित्र में बीज का चिह्न समझें। पोल के ऊर्ध्व भाग में श्वेत ज्योतिर्मय रश्मियां निकल रही हैं। जिनका उपनिषदों में पञ्चसुषिः नाम से वर्णन है। इनके द्वारा ही सूक्ष्म प्राण का संचार होता है यथा छान्दोग्योपनिषद प्रपाठक ३ खन्ड १३ मन्त्र १ 'तस्यहवा एतस्यहृदयस्य पञ्चदेव सुषयः। सयोऽस्य प्रत्यङ्.सुषिः स प्राण इति'।



चित्र संख्या १

हृदय में आत्मा का स्थान

रखिये कि कलाई के पास वाला हथेली का भाग आपके वाम-स्तन से १। इंच नीचे रहे और शेष बँधी मुट्ठी दाएँ स्कन्ध की ओर वक्षःअस्थि पर रहे तो ठीक इस मुट्ठी के नीचे ही 'हृदय' स्थित है। आकार-प्रकार भी मुट्ठी से मिलता-जुलता है। हृदय का अधिकांश भाग मध्यरेखा के बाईं ओर अवस्थित है। सामने उरोस्थि और वाम-पार्श्व में प्रथम, दूसरी, तीसरी, चौथी, व पांचवीं पसलियाँ हैं। यह हृदय पृष्ठवंश के ५,६,७,८ कशेरुओं के मध्य से बृहद्-धमनी तथा अन्नप्रणाली के बीचों-बीच स्थित है। यह अनैच्छिक-माँस से निर्मित एक कोष्ठ है जो सौत्रिक-तन्तुओं से बनी थैली से ढका है। इसे 'हृत्-कोष' भी कहते हैं। इस थैलीनुमा आवरण का आन्तरिक भाग चिकना, चमकीला होता है। हृदय में मांस के पर्दों से बनी चार कोठरियाँ हैं। अशुद्धि रक्त को शिर, बाहु, तथा वक्ष से लाने के लिए दक्षिण-कोष्ठों के ऊपर के भाग में ऊर्ध्वमहाशिरा लगी है। यही देह के शेष भाग उदर, नितम्ब, और टाँगों से भी मलिन-रक्त को लाती है। ऊर्ध्व-कोष्ठ में आया हुआ मलिन रक्त दाईं ओर के निम्न-कोष्ठ में से होकर फेफड़ों में शुद्ध होने के लिए चला जाता है। फेफड़ों-द्वारा शुद्ध किया रक्त बाईं ओर के ऊर्ध्व-कोष्ठ में प्रविष्ठ होकर, निम्नकोष्ठ में से होकर महाधमनी-द्वारा शरीर में फैल जाता है। देह में यह रक्त नालियों में विभक्त होकर बहता है। शुद्ध-रक्तवहा 'धमनी' की दीवारें मोटी, और मलिन-रक्तवहा 'शिरा' की दीवारें पतली होती हैं।

(ग) हृदय के कार्य—हृदय एक क्षण भी सम दशा में नहीं रहता। क्रमशः आकुञ्चन (सिकुड़ना) और प्रसारण (फैलना) रूप व्यापार में रत रहता है जब महा-शिरा द्वारा लाये गये मलिन-रक्त से भरा दक्षिण-कोष्ठ सिकुड़ता है तब दक्षिण-निम्न-कोष्ठ में भरा मलिन-रक्त फुफुसिया-शिरा द्वारा फुप्फुस में चला जाता है। एवं, जब बाईं ओर का ऊर्ध्व-कोष्ठ सिकुड़ता है तब यहाँ पर भरा शुद्ध-रक्त निम्न-कोष्ठ के द्वारा धमनियों में होकर देह में चला जाता है। यह क्रम दिन-रात सारी आयु एक क्षण के लिए भी तो रुकता नहीं, चालू ही रहता है। हृदय नियमानुसार आकुञ्चन और प्रसारण का कार्य करता है; और १ मिनिट में ७२ बार आकुञ्चन और प्रसारण होता है। यही हमारी कलाई पर प्रतीत होने वाली 'नाड़ी' वा 'नब्ज' से ज्ञात होता है। यही हृदय के प्रसार के समय जब मलिन-रक्त इसमें प्रविष्ठ होता है तब तो 'डप' और आकुञ्चित होने पर जब शुद्ध-रक्त हृदय से बाहर जाता है तब 'लुप' शब्द होता है और सुना जा सकता है। इन दोनों ध्वनियों के मध्य में थोड़ी-सी निःशब्दता रहती है।

(घ) स्पन्दन—जन्मते ही शिशु-हृदय १४० बार प्रति मिनट धड़कता है। प्रौढ़ावस्था में ७०-७२ बार, वृद्धावस्था में ये धड़कनें कुछ बढ़ जाती हैं। ये धड़कनें काम, क्रोधादि मानस-विकारों से, भय, अतिहर्ष, तीव्रज्वर, खान-पान, व्यायाम और मैथुन के समय बढ़ जाया करती हैं, तथा क्लेश, अवसाद, उपवास; निर्बलता, आघात से घट जाती हैं। अतिहर्ष और शोकातिरेक, दोनों से हृदय सुन्न—स्तब्ध हो जाता है और कभी कभी मृत्यु तक हो जाती है।

(ङ) रक्त-परिभ्रमण—हृदय के आकुञ्चन के समय 'धमनी' उठती है और हृदय शुद्ध-रक्त को बाहर फेंकता है। हृदय-प्रसार के समय 'धमनी' पूर्वदशा में आ

जाती है; उसका यह उठना-बैठना ही धमनी का फड़कना--'स्पन्दन' वा 'नाड़ी' (नब्ज) का चलना कहा जाता है। हृदय के 'पम्प' के समान कार्य करने से, हृदय-कोष्ठ से धकेले गये तरल रक्त के प्रवाह से धमनियाँ फूल जाती हैं। इस समय यदि धमनी कहीं से कट-फट जाये तो रक्त इसमें से उछल-उछल कर निकलता है। हृदय द्वारा वेग से फेंका गया यह रक्त ऊर्ध्वगा और अधोगा धमनियों द्वारा तथा शाखा प्रशाखाओं द्वारा देह भर में घूमकर अपने साथ जहां-तहां से मलों को समेटता हुआ, अङ्ग-प्रतयङ्गों को तर्पण करता हुआ फिर हृदय में ही लौट आता है। रक्त किसी स्थान में स्थिर नहीं रहता। रक्त के इस चक्रवत् बहने को 'रक्त-परिभ्रमण' कहते हैं। इस रक्त-परिभ्रमण में अनुमानतः १५ सेकिन्ड लगते हैं। इतने समय में जो रक्त हृदय से निकला था वह लौट आता है।

(च) रक्त-रस (लसीका)—जब रक्त अति सूक्ष्म-नालियों—'केशिकाओं' में बहता है तब केशिकाओं की पतली दीवारों से रक्त का कुछ तरल भाग 'रक्त-रस' के रूप में चू-चू कर बाहर निकल आता है। यही रस 'लसीका' वा 'रक्त-रस' है। इसमें कोष्ठक-पोषक अनेक तत्त्व मिले रहते हैं, और ये 'रक्तवारि' में स्नान करते हुए पुष्ट बने रहते हैं। रक्त-रस रक्त से ही निकलता है और पुनः रक्त में ही जा समाता है। कोष्ठकों के कार्य करते समय जब यूरिकाम्ल आदि विष उत्पन्न होते हैं तब ये विष रक्तरस में घुलकर केशिकाओं द्वारा बाहर निकाल दिए जाते हैं।

(छ) योग के लिए उपयोगी हृदय का वर्णन— हृदय का इतना वर्णन देह की उपयोगिता के कारण दिया गया है; किन्तु 'योग' की दृष्टि से देवपुरी 'अयोध्या' का 'हिरण्यमय-कोश' आनन्द रस-भरी ज्योतियों का पुञ्ज, इस रक्ताशय-हृदय के अन्दर विद्यमान एक छोटे अंगूर के समान रिक्त-स्थान 'पोल' में ही है। इसी 'बीज-कोश' के दुर्ग में अमृतपुत्र 'आत्मा' अपने परमरक्षक, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, पूज्यपिता भगवान् के साथ निवास करता है। अतः योगी का देवालय हृदय में ही है, जहाँ इष्ट-देव के नित्य दर्शन करते हुए महाभाग योगी-उपासक, आनन्द-रस से परितृप्त रहते हैं। इसका विशेष वर्णन 'आनन्दमय कोश' में होगा।

५. श्वासोच्छ्वास-केन्द्र—देह के आन्तरिक कार्य-विधान में कोष्ठकों के टूटने-फूटने तथा कार्य करने के समय-समय पर विभिन्न प्रकार की रासायनिक-क्रियाओं के होने से अनेक मलिन-पदार्थ भी बनते रहते हैं। उन्हें देह से शीघ्रतिशीघ्र बाहर निकाल फेंकने का प्रबन्ध श्वासोच्छ्वास-क्रिया द्वारा किया गया है। अर्थात्, अनेक विषों से मलिन बना रक्त अतिशीघ्रता से शुद्ध होने के लिए फुप्फुस, वृक्क, त्वचा, प्लीहा आदि में घूमता है। तब प्रश्वास, मूत्र, स्वेदादि के द्वारा मलों को खींच कर बाहर फेंक देते हैं। विशेषतः फुप्फुसों-द्वारा कार्बन-गैस, उड़नशील हानिप्रद पदार्थ, जलीय वाष्प, ये वस्तुएँ बाहर फेंक दी जाती हैं, और 'ओषजन' (प्राणवायु) ग्रहण की जाती है।

फुप्फुस की बनावट और स्थिति—वक्ष में दाईं ओर का फेफड़ा बाएँ से बड़ा, भारी और चौड़ा है; यह दो दरारों द्वारा तीन भागों में विभक्त है। बायाँ फेफड़ा दाएँ से छोटा, हल्का, और एक ही दरार द्वारा दो भागों में विभक्त हो गया है। विभक्त होने पर भी ये फेफड़े अन्दर से जुड़े हैं। दोनों फेफड़ों के मध्य में हृदय है। गर्भ में फुप्फुस

का रंग लाल, नवजात-शिशु का गुलाबी और प्रौढ़मनुष्य का स्लेटी रंग का होता है। दोनों फेफड़े अन्दर से स्पंजी, ऊपर से चिकने चमकीले, चित्तीदार, स्पर्श में मृदुल होते हैं। प्रत्येक फुफ्फुस पर पतले सौत्रिक-तन्तुओं की बनी दोहरी थैली चढ़ी है—सुरक्षा के लिए।

श्वास-मार्ग—नासा-छिद्रों से लेकर फुफ्फुस पर्यन्त प्राणों के आने-जाने का मार्ग 'श्वाश-मार्ग' है। इसके ५ भागों के नाम हैं—१. नासागुहा, प्राण इन्हीं के द्वारा कन्ठ-गह में प्रविष्ट होता है; २. कण्ठ-गुहा से प्राण कण्ठ में; ३. कण्ठ से स्वरयन्त्र में; ४. स्वरयन्त्र से, टेंटुए में वा श्वसनी में, ५. श्वसनी से प्राणवहा-प्रणालियों द्वारा फुफ्फुस में फैल जाता है और 'फुफ्फुस-प्रकोष्ठों' में भर जाता है। दोनों फेफड़े प्राणवहा-प्रणालियों की शाखा-प्रशाखाओं से भरी एक झाड़ी के समान दीखते हैं।

(क) नासा गुहाएँ—१. नाक के दोनों छिद्र भृकुटी के अन्दर से होकर कण्ठ में विलम्बित काक के समीप जा मिले हैं। कण्ठ से स्वरयन्त्र पर जाकर इनकी एक ही नलिका बन जाती है। २. कण्ठ को सभी जानते हैं। ३. स्वरयन्त्र ठोड़ी से नीचे गले में भोजन-ग्रास को निगलने वाले भाग का ऊपरी मोटा-भाग 'स्वरयन्त्र' है। यह भाग चौड़ा और इसका निचला भाग पतला है। स्वरयन्त्र ६ उपास्थियों से बने छल्लों से और इसका निचला भाग टेंटुआ उसी प्रकार के ८ छल्लों से बना है। स्वरयन्त्र पर पीपल के पत्ते के समान उपास्थि-निर्मित एक 'स्वरयन्त्रच्छद' नामक ढकना खाद्य-पेय पदार्थों को श्वास-मार्ग में जाने से रोकने के लिए लगा है। इसलिए सब आहार इस पर से फिसलता हुआ अन्न प्रणाली-द्वारा आमाशय में चला जाता है। टेंटुये (श्वसनी) की लम्बाई ४॥ इंच के लगभग होती है, और इसमें पूर्वोक्त छल्ले १६-१७ होते हैं। चित्र सं० २ (क) (पृष्ठ ३६) में देखें।

(ख) सन्मुखी-ग्रीवा—में टेंटुए के पीछे 'अन्नप्रणाली', दाएँ-बाएँ ग्रीवा की धमनियाँ, और सामने 'चुल्लिका-ग्रन्थि' है। वक्ष में चौथे, पांचवें कशेरुओं के सामने श्वसनी (श्वसन मार्ग) दाएँ-बाएँ भागों में विभक्त होकर फुफ्फुसों से सम्बन्धित 'श्वास-प्रणालियों' से जा मिली है।

(ग) स्वर-रज्जु—स्वर-यन्त्र के अन्दर चुल्ली और त्रिकोण छल्लों के दाएँ-बाएँ श्लैष्मिककला के ऊपर नीचे दो झोल हैं। निचले झोल का स्वरयन्त्र से सम्बन्ध होने के कारण ही इन्हें 'स्वर-रज्जु' कहा जाता है; स्वररज्जु दो हैं। ये स्थिति-स्थापक होने के कारण गाते और चिल्लाते समय संमुख आकर तन जाते हैं, खड़े हो जाते हैं और साधारण अवस्था में श्वास लेते समय साधारण-सा ही अन्तर रह जाता है; परन्तु गहरा श्वास लेते समय यह अन्तर अधिक बढ़ जाता है। साधारण वार्तालाप के समय यह अन्तर घट जाता है।

(घ) स्वर—बोलते समय श्वास-प्रश्वास रूप वायु जब स्वरयन्त्र में से होकर बाहर आता है तब स्वर-रज्जु से टकराता है। इससे रज्जु में कम्पन होता है, इस उत्कम्पन से शब्द उत्पन्न होता है। अक्षर तथा वर्णोच्चारण में कण्ठ, तालु, जीभ, जिह्वामूल, दान्त, ओष्ठ, एवं नासिका सहायक बनते हैं। वीणा, सितार, सारँगी आदि

वाद्यों के ढीले वा तन जाने से और छोटे-बड़े होने से जैसे स्वरों में भेद आ जाता है, उसी प्रकार की क्रिया यहाँ भी होती है । नारी-स्वररज्जुएँ पुरुषों की अपेक्षा छोटी होने से नारी-स्वर कोमल और बारीक होता है । दन्तभग्नता, जीभ विकार, कण्ठप्रदाह भी स्वरों में भेद कर देते हैं ।

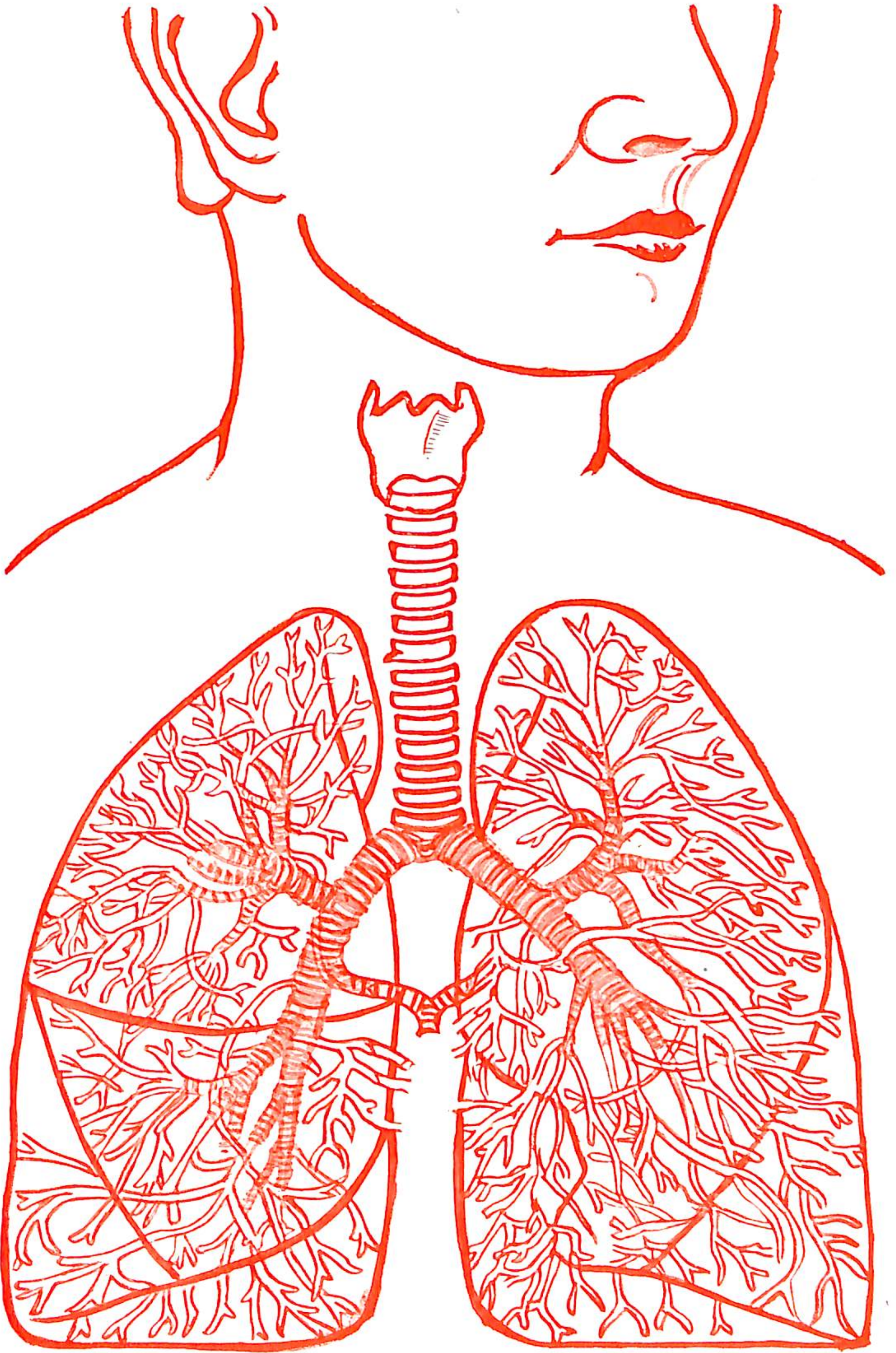
(ङ) **श्वास-प्रणाली का अन्त**—फुफ्फुसों के पिछले वर्णन के साथ यह और भी जान लें कि श्वास-प्रणाली की अनन्त शाखा-प्रशाखाओं का घर ही 'फुफ्फुस' है । फेफड़े में प्रत्येक श्वास-प्रणाली के साथ छोटे-छोटे 'प्रकोष्ठ' हैं । फुफ्फुसों के प्रत्येक भाग में रक्त, रक्त-रस की सूक्ष्मनालियाँ, केशिकाएँ और नाड़ी-सूत्र हैं । ऐसे अनन्त खण्ड फुफ्फुसों में भरे पड़े हैं इनसे फुफ्फुस अटे पड़े हैं । वायु कोष्ठकों का आकार-प्रकार छोटे शहतूत से बहुत मिलता है । अनुमानतः दोनों फुफ्फुसों में 'वायु-कोष्ठकों' की कुल संख्या १६ से १८ करोड़ तक आँकी गई है । चित्र संख्या २ (क)※ से स्पष्ट है ।

(च) **श्वसन-क्रिया**—नासिका-द्वारा फुफ्फुसों में वायु भरने से छाती फूल जाती है । यह अन्तःश्वसन तो 'उच्छ्वास' वा 'श्वास' है; तथा नासिका-द्वार से निकल जाने पर छाती पूर्ववत् हो जाती है । यह 'बहिश्वसन' वा निःश्वास' वा 'प्रश्वास' है । इस श्वास-प्रश्वास की क्रिया से सारा वक्ष और उदर का ऊपरी भाग क्रियाशील रहता है । एक स्वस्थ्य युवक साधारणतः १ मिनिट में १६-१७ श्वास-प्रश्वास लेता है, और एक बार श्वास लेने में हृदय ४-५ बार स्पन्दन कर लेता है । फुटबाल को पम्प से भरने के सदृश ही फुफ्फुसों में क्रिया होती है । अतः यथाशक्ति श्वास गहरा व दीर्घ ही लेना चाहिए, जिससे प्राण वायु फुफ्फुसों की अन्तिम कोठरी तक में पहुँच कर वहाँ के मल को बाहर निकाल फेंके । इसीलिए योग में प्राणायाम का विशेष विधान किया गया है ।

श्वास में यदि प्राण-तत्त्व १०००० भाग हो तो मलिन-प्राण ४ भाग होगा, और प्रश्वास में इस के विपरीत होता है । वायु में 'ओषजन' की विशेष मात्रा के मिलने से 'प्राणवायु' बनता है, यही जीवन-प्रद तत्त्व है और 'कार्बन द्वि-ओषित' व अपान-मारक तत्व है । अग्नि की दहन एवं प्रकाशक-क्रिया इसी ओषजन द्वारा सम्पन्न होती है; किन्तु वनस्पति वर्ग के लिए 'कार्बन-द्वि-ओषित' ही जीवन-प्रद तत्त्व है ।

(छ) **रक्तशोधन**—काया कोष्ठकों के टूटने-फूटने से तथा विभिन्न रासायनिक-क्रियाओं से 'कार्बन-द्वि-ओषित गैस' बनती रहती है । इस से रक्त काला पड़ जाता है; यह मलिन-रक्त देह के सब भागों से एकत्रित होकर हृदय के 'दाएँ-ग्राहक-कोष्ठ' में

चित्र संख्या २ (क)※—जो कि वृक्ष की शाखाओं के समान अथवा झाडी के समान दीख रहे हैं । इनको फुफ्फुस (फेफड़े) कहते हैं । मुख और नासिका से लिया हुआ श्वास कंठ से नीचे उतरकर इन फुफ्फुसों में फैल जाता है । इनमें छन-छनकर श्वास प्रश्वास का गमनागमन होता रहता है । इनके विकार युक्त होने पर कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं, यथा यक्ष्मा प्लूरसी, नमुनियां प्रतिश्य खांसी दमा इत्यादि । ये जो छल्ले से दीख रहे हैं यह श्वास प्रश्वास का यन्त्र है । बीच में जो नाड़ियां कटी हुई दिखाई गई हैं इनके द्वारा शुद्ध होकर रक्त का संचार अन्य नाड़ियों में चला जाता है ये फुफ्फुस ही प्राणियों के जीवन का आधार हैं ।



चित्र संख्या २ (क)

फुप्फुस (फेफड़ा)

ऊर्ध्व एवं अधोगा महाशिराओं द्वारा पहुँचा दिया जाता है। वहाँ से यह रक्त फुफ्फुसिया-शिरा द्वारा फेफड़ों में जाता है। वहाँ वायुकोष्ठकों में रहने वाली केशिकाओं में पहुँचता है, तब वहाँ पर इस काले रंग में ओषजन मिलकर इसे लाल बना देता है और कार्बन द्विओषित प्रश्वास द्वारा बाहर आ जाता है।

६. पाचन-पोषण केन्द्र—(क) **आहारपथ**—देह की सब नलिकाओं में आहार-पथ की नलिका सब से लम्बी है। यह मुख से प्रारम्भ होकर कण्ठ और उदर में मुड़ती हुई गुदा में जाकर समाप्त हो जाती है। प्रौढ़-व्यक्ति के मुख से लेकर गुदा तक 'आहार-पथ' की लम्बाई २८-२९ फुट के लगभग होती है। यह नलिका कहीं पर पतली, कहीं चौड़ी, कहीं थैलीवत् हो गई है और इस नलिका के विभिन्न-भाग पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं।

आहार-पथ के विभाग—(क) सर्व प्रथम 'मुख' है, जहाँ पर भोजन को चबा कर—पीस कर सूक्ष्म और पतला बनाया जाता है। जहाँ भोजन में 'लाला' मिलती है। (ख) कण्ठ—यहाँ से प्रारम्भ होने वाली 'अन्न-प्रणाली' नामक १० इंच लम्बी नलिका में से होकर अन्न, (ग) तीसरे भाग 'आमाशय' में चला जाता है; यह भाग थैले के समान है। इसे 'पाकस्थली' भी कहते हैं। (घ) आमाशय के अन्तिम भाग—मुख से जुड़ी हुई यही नलिका सर्पवत् कुण्डलित हुई पड़ी है; उदर का अधिक भाग इसी से घिरा है। इसी को 'अन्त्र' कहते हैं। इसकी लम्बाई २६-२७ फुट के लगभग है। इसका ५ फुट लम्बा निचला भाग ऊपर के मार्ग से अधिक चौड़ा होता है। २१-२२ फुट लम्बा कुन्डलित पतला भाग 'क्षुद्रअन्त्र' और चौड़ा भाग 'बृहद्-अन्त्र' कहलाता है। इस प्रकार मुख में डाला हुआ भोजन कण्ठ, अन्न-प्रणाली, आमाशय, अन्त्रों में से होता हुआ, विविध रूपों में बदल कर बचा हुआ भाग, गुदा से विष्ठा के रूप में बाहर निकल जाता है।

(ख) पाचक ग्रन्थियां—कई रसों के यथावत् सम्मिलन से यथार्थ-पाक होता है। इन रसों को बनाने वाले अङ्गों को 'पाचक-ग्रन्थियाँ' कहते हैं। इन में कुछ तो अति सूक्ष्म 'अणु-वीक्ष्य' ग्रन्थियाँ अन्न-मार्ग की दीवारों में लगी हैं। इनसे भिन्न दो बड़ी ग्रन्थियाँ 'यकृत्' और 'प्लीहा वा 'क्लोम' हैं। इन ग्रन्थियों के रस नलियों-द्वारा 'क्षुद्रअन्त्र' में जा मिलते हैं। इनके अतिरिक्त दाएँ-बाएँ तीन-तीन ग्रन्थियाँ मुख में हैं।

(ग) दन्त—मुख में आए स्थूल भोजन को पीसकर तरल और कोमल बनाने के लिए प्रत्येक युवक के मुख में ऊपर-नीचे १५-१६ अस्थिखण्ड (दन्त) हैं, जो ऊपर और नीचे के जबड़ों में जुड़े रहते हैं। ८-९ मास की आयु में दाँत निकलने लगते हैं। इन्हें दूध के दाँत कहते हैं। छठे वर्ष से ये दाँत गिरने लगते हैं और इनके स्थान में नए दाँत निकल आते हैं, जो शेष आयु भर साथ देते हैं।

(घ) लाला ग्रन्थियां—सबसे बड़ी एक-एक लाला-ग्रन्थि कर्णमूल में दाएँ-बाएँ है, एक-एक जीभ के दोनों ओर है, एक हनु में छिपी हुई और एक जबड़े के दूसरी ओर है।

लाला—'लाला' प्रथम पाचक-रस है। यह एक क्षारीयद्रव है जो भोजन में मिलकर भोजन को गीला करके कोमल बना कर, 'श्वेतसार' को 'शर्करा' में परिणत करता है। दुग्धपान करने वाले शिशु की लाला में श्वेतसार—परिवर्तक-रस के अभाव से ही शिशु अन्य भोजन नही पचा सकता। अतः, दाँत निकलने के बाद ही यह 'रस' बनता है। तभी 'अन्नप्राशन' कराया जाता है। अम्ल और क्षार-रस श्वेतसार-परिवर्तक-रस को शिथिल बनाते हैं। अतः भोजन के साथ अम्लप्रधान पदार्थों के खाने का निषेध है। आहार, मुख से कण्ठ में आता है, कन्ठ में स्वर-यन्त्र पर लगे एक ढकने (स्वरयन्त्र-च्छद) पर से फिसल कर अन्नप्रणाली में जा गिरता है। यहाँ न कोई रस उत्पन्न होता है और न भोजन में मिलता है।

(ड) आमाशय—लोक-भाषा में 'पेट' कहा जाने वाला अङ्ग 'आमाशय' वा 'पाकस्थली' है। यह अङ्ग पानी भरने वाली 'मशक' से समता रखता है और उदर के वाम-भाग में वक्षोदर मध्यपेशी के नीचे स्थित है। पेशी के ऊपर बक्ष में वाम-फुफ्फुस और हृदय इसके ऊपर पड़े होते हैं। आमाशय का वाम भाग चौड़ा, और दायाँ पतला-नोकीला-सा होता है। आमाशय की लम्बाई १२, १३ इंच और मोटाई ४ इंच के लगभग होती है। आमाशय के ऊपरी-भाग में भोजन पड़ने के लिए मुख है और नीचे की ओर भोजन-निकलने का द्वार है। आमाशय में डेढ़ सेर के लगभग न्यूनाधिक वस्तु समाती है। आमाशय के नीचे के द्वार को बन्द रखने के लिए मांस की मोटी 'तह' लगी है। भोजन यहाँ से जब 'पक्वाशय' में जाता है तब यह खुलकर स्वयं मुख को बन्द कर देती है। आमाशय में पड़ी सलवटें आहार को पीसकर पतला द्रव-सा बना देती हैं, तभी आहार इस पथ से निकलता और रुधिरादि बन जाता है।

आमाशयिक-रस—भोजन-पाचक आमाशय के रस की प्रतिक्रिया खट्टी होती है। इस रस में लवणाम्ल, पेप्सीन, रेनेट आदि अन्यान्व रसों के साथ अनेक लवण भी होते हैं। आमाशय में भोजन पड़ जाने पर ऊपर का मुख एक 'कपाटी 'से बन्द हो जाता है और भोजन के पच—पिसकर नीचेके द्वार से निकल जाने पर स्वतः खुल जाता है। आमाशयिक-मुख के बन्द हो जाने से आहार फिर ऊपर को लौट नहीं सकता आमाशय में भोजन को पचाने की क्रिया आटा गूँधने के समान होती है। घृतादि में तला हुआ अति स्निग्ध भोजन चिर-पाकी और दुष्पच होता है। सामान्यतया आमाशय में भोजन ४॥ घन्टे तक रहता है। ठीक न चबाया गया भोजन देर तक पड़ा रहता है। आमाशयिक-रस दूध को फाड़ देता है।

आमाशयिक-रस के कार्य—

१. लवणाम्ल के कारण यह रस,रोगाणु-नाशक होता है।

२. रेनेट के कारण यह रस दूध को जमा देता है।

३. इक्षोज से द्राक्षौज और फलोज बना देता है।

४. पेप्सीन एवं लवणाम्ल की सहायता से प्रोटीनों का विश्लेषण करके प्रोटीनों से 'पेप्टोन' बनाता है।

५. इस रस में थोड़ी-सी वसा-विश्लेषक शक्ति भी है।

आहार-रस—भोजन को मथने से बने अम्ल प्रतिक्रिया वाले रस को 'आहार रस' कहते हैं; आँतों में पहुँचने पर आहार-रस की प्रतिक्रिया क्षारीय हो जाती है। आमाशय से यह आहार-रस क्षुद्रान्त्र में चला जाता है।

पक्वाशय (क्षुद्रअन्त्र)—क्षुद्र-अन्त्र का आमाशय के निचले पथ से जुड़ने वाला १० इंच लम्बा अर्धचन्द्राकार भाग 'पक्वाशय' है, आमाशय से निकल कर जब आहार-रस इस पक्वाशय में आता है तभी पित्ताशय से 'पित्त', और क्लोम से क्षारीय-द्रव आकर यहीं पर मिलते हैं। आहार-रस की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

क्लोम (पैंक्रियास)—उदर की पिछली-दीवार से लगी इस ग्रन्थि की आकृति 'पिस्तौलवत्' होती है। इसमें 'क्लोम-रस' बनता है, यह रस पतला, स्वच्छ, क्षारीय होता है। इसमें ५ पदार्थ होते हैं। पक्वाशीय-रस और पित्त से मिल कर 'क्लोम-रस' के पाचक-द्रव्य अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। क्लोम तथा पित्त की प्रणालियाँ साथ-साथ ही पक्वाशय की दीवार में घुसती हैं, और दोनों का रस एक ही छिद्र-द्वारा पक्वाशय में जाता है।

यकृत्—गहरे लालिमा-युक्त भूरे रङ्ग की पौने दो सेर के लगभग भारी देह भर में यह सबसे बड़ी ग्रन्थि है। यह उदर के ऊपरी भाग में दाईं ओर निम्न-पसलियों की आड़ में कौड़ी-प्रदेश के सम्मुख आमाशय से सटा रहता है। यकृत् में शर्करा बनती है, आवश्यकतानुसार और यथा-स्थान देह में 'यही' शर्करा को भेजता है और शर्करा के आयव्यय का नियन्त्रण करता है। यूरिया और यूरिकाम्ल इसी में बनते हैं। रक्त में मिले अनेक विष और विशेष रूप से अन्नमार्ग में उत्पन्न होने वाले विष जब यकृत् से गुजरते हैं, तब यह इन्हें निर्दोष बना देता है।

पित—यकृत् में बनने वाला पाचक-रस 'पित्त' है। यह पीतिमा लिए हरे रङ्ग का, क्षारीय-प्रतिक्रियाशील द्रव होता है। इसमें कई प्रकार के लवण भी घुले रहते हैं। यकृत् के दाएं-बाएं भागों से 'पित्तवाहक' एक-एक नलिका निकल कर यकृत्-द्वार में मिलकर, 'पित्तप्रणाली' बन जाती है। इसी के द्वारा पक्वाशय में पित्त जाकर मिलता है। इसके चार कार्य हैं।

१. वहाँ जाकर पित्त क्लोम-रस की क्रिया को प्रबल कर देता है।

२. वसा को पचाता तथा आत्मीकरण करता है, अन्यथा स्नेह (घृतादि) का अधिक भाग बिना पचे ही विष्ठा के साथ निकल जाता है।

३. आँत में आए अम्लता-युक्त आहार-रस को पित्त और क्लोम-रस क्षारीय बना देते हैं। इससे आहार ठीक पच जाता है।

४. आँतों में गए पित्त की प्रचुरता से सड़ाँद नहीं उत्पन्न होती—भोजन ठीक पच जाता है, अन्यथा पित्त के अभाव में अति दुर्गन्धयुक्त अपान वायु एवं मल निकलता है।

भोजन का ठहराव—पूरा भोजन आमाशय में ४ से ५ा। घन्टे तक ठहर कर थोड़ी देर बाद सहज भाव से पक्वाशय में जाने लगता है और ४-५ घन्टे तक, जब तक आमाशय खाली न हो जाए, जाता रहता है। छोटी आँतों में भी आहार-रस के रूप

में भोजन ४-५ घन्टे ही ठहरता है। भोजन की क्रिया का मुख्य स्थान-'क्षुद्र-अन्त्र' ही है। बड़ी आँतों में यह भोजन ६।। घन्टे पीछे पहुँचने लगता है और १२ घन्टे में बड़ी आँत के निचले भाग में आ जाता है। वस्तिगह्वरस्थ-मलाशय में 'विष्ठा' अति धीमी गति से नीचे को सरकती है, और लगभग १८ घन्टे में मलाशय तक पहुँचता है। तभी मलत्याग की इच्छा होती है। भोजन का निस्सार भाग ही विष्ठा है।

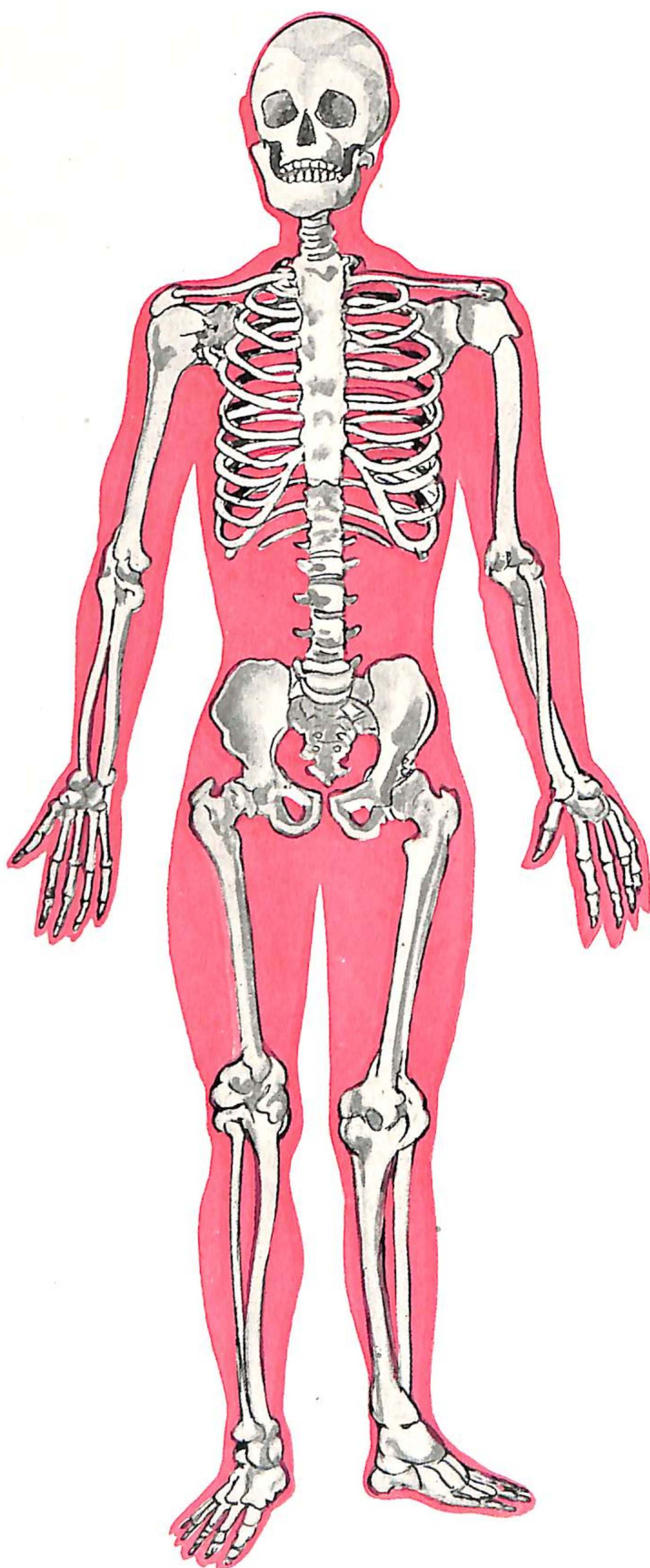
रक्तोत्पत्ति—आहार के रस से रक्त बनता है। भोजन से बने रस में 'रक्त-डिम्बज' आदि, तीन प्रोटीनें, वसा, द्राक्षौज एवं अनेक प्रकार के लवण तथा जल मिश्रित रहता है—इन सब का सार-रूप ही 'रक्त' होता है। यह रक्त जीवन का आधार देह के लिए मुख्यतम पदार्थ है।

रक्त ही देह में शक्ति उत्पन्न करता तथा अङ्गों से क्रिया कराता है। देह में भ्रमण करके देह के विभिन्न भागों से प्रोटीन, वसा, शर्करा आदि पोषक-पदार्थ लेजाकर यथास्थान पहुँचाता है। मलिन पदार्थों को फुफ्फुस, मूत्राशय, मलाशय आदि मल-निस्सारक स्थानों में बाहर निकल जाने के लिए पहुँचा देता है और रोगाणुओं से देह की रक्षा करता है।

७. **मूत्र तथा मूत्रवाहक-केन्द्र**—इस में दो 'वृक्क' वा 'गुर्दे' दो 'मूत्रप्रणालियाँ', 'मूत्राशय' और एक 'मूत्र-मार्ग' सम्मिलित हैं।

वृक्क—मूत्र बनाने वाला अङ्ग 'वृक्क' वा गुर्दा' है। पृष्ठवंश के दाएं-बाएं कशेरु के पास एक-एक गुर्दा है। गुर्दे के पीछे बारहवीं पसली है। गुर्दे का आकार 'लोबिया' जैसा होता है। लम्बाई ४ इंच, चौड़ाई २ इंच और मोटाई १ इंच होती है। भार २ छटाँक से कुछ कम, और रंग बैंगनी होता है। वस्तुतः यह अङ्ग अनेकानेक पतली-पतली, बहुत लम्बी किन्तु कम चौड़ी नलिकाओं का समूह ही है इन नलिकाओं के साथ धमनियाँ, शिराएं, केशिकाएं, लसीका-वहा और वात-सूत्र भी रहते हैं, जो सौत्रिक-तन्तुओं-द्वारा बंधे रहते हैं। इनसे रक्तशोधन का कार्य इस प्रकार होता है कि मलिन और शुद्ध दोनों प्रकार का रक्त शिराओं और धमनियों की प्रशाखाओं द्वारा इन में आता है। स्थान- स्थान में फूली हुई गुर्दे की नलिकाएं मलिन रक्त में मिश्रित देह के लिए हानिप्रद पदार्थों को चूस कर शुद्ध-रक्त को आगे भेज देती हैं। फिर रक्त में से क्षरित 'रक्त-वारि' के साथ गुर्दों की नलिकाओं द्वारा चूसा गया 'यूरिया', 'यूरिकाम्ल' आदि विष मिलाकर 'मूत्रप्रणाली' में धकेल दिया जाता है—यही 'मूत्र' है।

उपवृक्क—दोनों गुर्दों के सिर पर एक-एक 'उपवृक्क' नामक अङ्ग रखा होता है। दायाँ उपवृक्क बाएं से छोटा त्रिकोणाकार होता है तथा बायाँ अर्धचन्द्राकार होता है। उपवृक्क का बाह्य-वल्क भाग वसा को थोड़ा व्यय करके वसा का संग्रह करता है। थोड़ा वसा का संग्रह करता है। इस भाग के बढ़ जाने से वसा की अतिवृद्धि होकर देह स्थूल हो जाती है इसको आन्तरिक भाग 'एड्रिनलीन' बनाता है, खटिक योगों के आत्मीकरण में सहायता देता है। पिंगल-नाड़ी मण्डल को उत्ते-जना देने वाली 'एड्रिनलीन' नामक रस उपवृक्क के आन्तरिक भाग से बनता है। इस ग्रन्थि का देह सम्वर्धन तथा स्वास्थ्य से आवश्यक सम्बन्ध है।



चित्र संख्या ३ (क)
कङ्काल (अस्थि पंजर)

२१०० - ३०

मूत्र-प्रणालियां—प्रत्येक गुर्दे के साथ संयुक्त दाएँ-बाएँ १-१ मूत्र-प्रणाली है, जो १०-१२ इंच लम्बी तथा गुर्दे के साथ जुड़े स्थान पर चौड़ी 'फूल या कीपाकार' होती है। ये दोनों प्रणालियां वस्ति-गह्वर में स्थित मूत्राशय से आ मिली हैं, और 'मूत्र' इन्हीं में बहता हुआ मूत्राशय में जमा होता रहता है। मूत्र-प्रणाली में 'पथरी' अटकने से बड़ा कष्ट होता है।

मूत्राशय—वस्तिगह्वर—पेड़ू के नीचे अन्दर एक थैली है जिस में आकर मूत्र जमा होता है।

शुक्राशय—पुरुषों के मसाने के ठीक पीछे सटे हुए दो शुक्राशय(शुक्रकोष) होते हैं, और शुक्राशयों के पीछे वृहद्-अन्त्र का अन्तिम भाग 'मलाशय' होता है। नारियों में क्रमशः मूत्राशय, गर्भाशय, फिर मलाशय होता है।

मूत्र-मार्ग—नर-नारियों में मूत्र निकलने का मार्ग ही—'मूत्रमार्ग' है। पुरुषों में यह मार्ग बाहर को निकला दीखता है, जिसे उपस्थ, शिश्न वा लिङ्ग कहते हैं। इस से शुक्र भी निकला है तथा यह स्थान गर्भाधान के काम में भी आता है।

मूत्र की मात्रा—नीरोग स्वस्थ-मनुष्य २४ घन्टे में १। से १॥ सेर तक मूत्र शरीर से बाहर निकालता है। गर्मी के दिनों में देह में से जलीयाँश के उड़ते और स्वेद-द्वारा निकलते रहने से मूत्र की मात्रा घट जाती है किन्तु वर्षा में बढ़ जाती है। स्वस्थ मनुष्य के मूत्र का रंग थोड़ा पीतिमा-युक्त होता है।

ग्रन्थियां—किसी भी रस बनाने वाली गाँठ को 'ग्रन्थि' कहते हैं। यकृत्, पित्त-रस बनाता है गुर्दे मूत्र बनाते हैं, अण्ड शुक्र-निर्माण करते हैं, इत्यादि। ग्रन्थियाँ बड़ी-छोटी, और सूक्ष्मतम भी हैं।

प्रणालियों की दृष्टि से ग्रन्थियाँ दो प्रकार की हैं। (१) प्रणाली सहित जैसे गुर्दे। एवं (२) प्रणाली रहित जैसे यकृत्, अण्ड इत्यादि।

मुख्य ग्रन्थियों, के नाम, स्थान, गुण—

(१) **'पीनियलग्रन्थि'**—यह मस्तिष्क के मध्य में है। इसका कार्य है 'लैङ्गिक' चिह्नों को शीघ्र उत्पन्न होने से रोकना'। पीनियल का रस देह में वसा को एकत्रित करने में सहायक है। पीनियल तथा वक्षस्थित 'थाइमस' का कार्य है स्थूलता प्रदान करना। इन्हीं ग्रन्थियों के रसों द्वारा शिशु स्थूल हो जाते हैं।

चित्र सं० ३ (क) का विवरण—इस कंकाल चित्र की अस्थियों का विस्तार पूर्वक वर्णन पृ० २८ पर कर आए हैं। वहां पर देखलें और समझ लें। कंकाल सम्पूर्ण अस्थि पंजर को कहते हें। इसमें बड़ी छोटी कुल २०६ अस्थियां हैं शरीर में इन अस्थियों का ही विशेष बल होता है वरनः यह शरीर मांस का लोथड़ा ही बनकर रहजाय। ये अस्थियें भिन्न २ आकृति वाली होती हैं। इनमें अन्दर खोखलापन्न होता है। इन खोखलेपन्न में एक तरल पदार्थ चिकना पीले और गुलावी रङ्ग का भरा होता है। कुछ अस्थियें भीतर से ठोस भी होती हैं।

'पिट्यटरी' वा 'हाइपो फिसिस-ग्रन्थि'—कपाल की 'जतूकास्थि' के 'हाइपो फिसिस-गर्त' में यह एक ग्रन्डाकृति ग्रन्थि हैं। कंकाल के विविध भागों का यथा प्रमाण बढ़ना इसी ग्रन्थि के ठीक रूप से कार्य करने पर निर्भर है। कंकाल को चित्र सं० ३ (क) (पृष्ठ ४१) में सामने देखें इसकी ग्रनियमितता का गर्भगत बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप कंकाल के दोष-दैत्याकार वृद्धि वा बौनापन, स्थूलता, कुरूपता, विरूपता, तन्द्रा, निद्रालुता, थकान, क्लान्ति, नपुंसकता, बाँझपन, दुर्बलता ग्रादि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(३) **'लाला-ग्रन्थियां'**—इनका वर्णन हो चुका है। ये ६ ग्रन्थियाँ हैं। इनसे 'लाला' वा 'थूक' के रूप में पाचक-रस निकला करता है।

(४) **'चुल्लिका-ग्रन्थि'**—कण्ठ में स्वर-यन्त्र के ही सन्मुख स्थित इस ग्रन्थि के बढ़ जाने से 'घंघा' नामक रोग हो जाता है। यह देसी चूहे के ग्राकार से मिलती है, ग्रौर हमारे स्वास्थ्य से विशेष सम्बन्ध रखती है। इस ग्रन्थि में बनने वाले रस की न्यूनाधिकता से—बुद्धि की मन्दता, उचित दिशा में देह की बृद्धि का न होना, बालक के शिर, दाँत, हाथ, पैर, ग्रँगुलियों का पूर्णतया न बढ़ना, पेट का फेलना, टाँगें भारी होना, मुख का पीलापन, पेशियों का ढीलापन ग्रादि दोष उत्पन्न हो जाते हैं, एवं नारी-देह कुरूप, बेडौल हो जाती है; स्मृति-हीनता, चिड़-चिड़ापन, उत्पन्न हो जाता है, ग्रौर गति (मन्द) पड़ जाती है।

(५) **'उपचुल्लिका'**—ये दो मटराकार ग्रन्थियाँ चुल्लिका के दाएं-बाएं खण्डों के पिछले किनारों से लगी रहती हैं। इन ग्रन्थियों की ग्रनियमितता से बौनापन, ग्रस्थियों में शीर्णता, भुरभुरापन, टूटकर शीघ्र न जुड़ सकना, ग्रादि दोष ग्रा जाते हैं। चुल्लिका ग्रौर उपचुल्लिका दोनों के कार्यों में विरोध है। यथा :—

चुल्लिका	उपचुल्लिका
१. वसा को व्यय करती है।	१. वसा का संग्रह करती है।
२. शर्करा बनाने में यकृत् की सहायक है।	२. शर्करा-निर्माण की रोधक है।
३. क्लोम के कार्य की रोधक है।	३. क्लोम के कार्य की सहायक है।

(६) **'थाइमस'**—यह वक्ष में उरोस्थि के पीछे ग्रीवा के कुछ निचले भाग में स्थित है। यह ग्रन्थि वसा ग्रल्प व्यय करने में तथा देह में खटिक-सम्मेलनों के ग्रात्मीकरण में सहायक है। इसके निकाल देने पर वा विकृत हो जाने पर व्यक्ति छोटा ग्रौर दुबला हो जाता है।

(७) **'दुग्ध-ग्रन्थियां**—स्तन, वक्ष में दाएं-बाएं नर-नारियों में स्पष्ट दीखते हैं; परन्तु दुग्ध केवल नारी-स्तनों मैं ही बनता है। शिशु-पालन के लिए दुग्ध परमावश्यक है। यह दुग्ध 'घुण्डी' वा 'वृन्तों' के छिद्रों से बाहर ग्राता है।

(८) **'लसीका-ग्रन्थियां'**—इनका वर्णन पहले ग्रा चुका है।

(९) **'उपवृक्क'**—तथा;

(१०) **'वृक्कों'** का वर्णन पहले ग्रा चुका है।

२९१० - २८

(११) 'प्लीहा'—यह थैली उदर में बाईं ओर रीढ़ के पास नवीं दसवीं ग्यारवी पसलियों कीं आड़ में आमाशय, क्लोम, वृक्क, तथा बृहद्-अन्त्र से सटी हुई है। इस का रङ्ग बैंगनी, भार ३ से ५ छटाँक तक और लम्बाई ४-५ इंच होती है। अपना कार्य-काल समाप्त कर चुके रक्ताणुओं को देह से बाहर निकालना, रक्त के श्वेत-कणों का निर्माण करना, रोगाणुओं से देह की रक्षा करना इसके कार्य हैं।

(१२) 'क्लोम'—इसमें यह प्रणालियाँ हैं, परन्तु इसमें बने कई रस प्रणालियों द्वारा न जाकर सीधे रक्त में जा मिलते हैं। यह ग्रन्थि प्रणालियों का समूह ही है जो रीढ़ के सामने, आमाशय तथा बृहद्-अन्त्र के पीछे पित्ताशय तथा प्लीहा के मध्य में 'पिस्तौल' के समान स्थित है। इसका रस नलिका-द्वारा पक्वाशय में पहुँच कर भोजन को पचाता है। इसके विकृत हो जाने पर—शर्करा देह का अंश न बनकर मूत्र के साथ निकलने लगती है—यही 'मधुमेह' है।

(१३) 'अण्डकोश'—अन्ड और डिम्भ-ग्रन्थियाँ ही देह में एक मात्र ऐसी हैं जो खटिक-सम्मेलनों को रोक कर तथा इन्हें कम कर के कंकाल की अति-वृद्धि को रोक देती हैं। यहां अण्ड वा शुक्र बनाने वाली ग्रन्थियाँ भी हैं। इन में वीर्य का शुक्र बनता है। शुक्र यहाँ पर बन कर शुक्र-प्रणालियों द्वारा 'शुक्राशय' में जाकर संचित हो जाता है। मैथुन-समय यह शुक्र यहां से मूत्रमार्ग वा उपस्थ के द्वारा बाहर निकलता हैं। इन अण्डकोशों में जो वीर्य बनता है वह समस्त देह में विभक्त होकर अङ्गों को पुष्ट करता तथा देह भर में कान्ति देता है। इस का संरक्षण जीवन-प्रद है।

(१४) 'डिम्भ-ग्रन्थियां'—वस्ति-गह्वर में स्थित गर्भाशय के इधर-उधर ये दो ग्रन्थियाँ नारियों में ही होती हैं। इन में अन्डे बनते हैं जो डिम्भ-प्रणालियों द्वारा गर्भाशय में चले जाते हैं। शुक्रकीट और अन्ड के संयोग से गर्भस्थिति होती है।

(१५) 'प्रोस्टेट'—यह ग्रन्थि पुरुषों में ही मूत्राशय के नीचे होती है। इस में बनने वाला रस बिना किसी प्रणाली के रक्त में सीधा जा मिलता है। वृद्धत्व में इस ग्रन्थि में विकार आ जाने से इसमें से गुजरने वाली मूत्र-प्रणाली के भिच जाने से मूत्रा-वरोध रोग हो जाता है।

(८) **वात नाडियां**—देह को काटने पर यत्र-तत्र हमें दो प्रकार की नाड़ियाँ मिलती हैं। एक तो पोली जो 'रक्त-वहा-नाड़ियाँ हैं, दूसरी श्वेत-ठोस सूत्र वा रज्जुएं हैं जो काटने पर ठोस होती हैं। ये श्वेत और ठोस-नाड़ियाँ ही 'वात-सूत्र' हैं जो देह भर ज्ञान और क्रिया फैलाते हैं। इन गति-वाहक और ज्ञान-वाहक-सूत्रों का सम्बन्ध 'सुषुम्ना' और 'मस्तिष्क' से है।

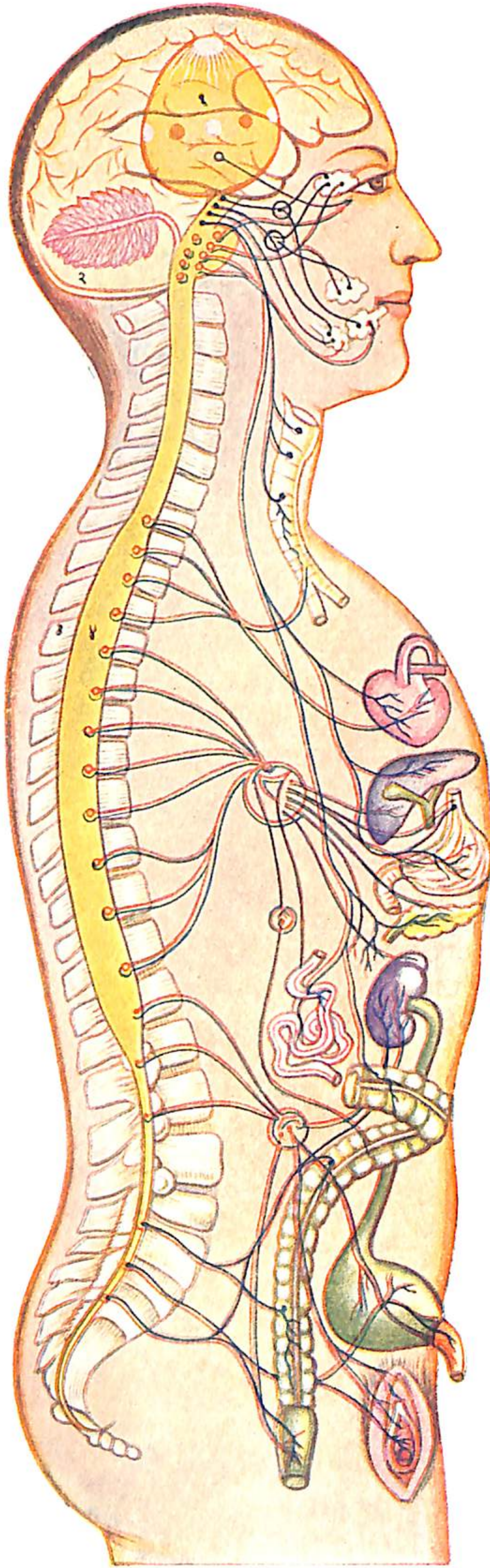
वातकेन्द्र में—(१) कपालस्थ-'मस्तिष्क'; (२) कशेरु-निर्मित-मेरुदन्ड के मध्य में स्थित 'सुषुम्ना'; (३) मस्तिष्क तथा सुषुम्ना से निकली समस्तदेह-व्यापी 'ज्ञानवहा' और 'गतिवहा-नाड़ियाँ'; और 'वातगन्ड सम्मिलित हैं। वातकेन्द्र पर यदि—अङ्गों की दृष्टि से विचार करें तो मस्तिष्क इन्द्रिय, मन और बुद्धि का स्थान है; सुषुम्ना, इनके द्वारा भेजे गए ज्ञान और क्रिया के प्रसार का मार्ग है। सुख-दुख, शीत-उष्ण, आदि ज्ञान का तथा रूप, प्रकाश गंध, शब्द, स्पर्श, रस का बोध, 'बुद्धि-संस्थान' के द्वारा

ही होता है। ये विज्ञानात्मक अङ्ग देह के समस्त भागों को 'निज-अधिकार' और 'शासन' में रखते हैं। देह के राजा-आत्मा का 'हृदय' यदि महल है, तो मस्तिष्क इसका कार्यालय है।

मस्तिष्क—देह के शिखर पर फुटबाल के सदृश रक्खा गोलाकार-पिण्ड 'शिर' है। ८ अस्थियों से बने इस सिर में रहने वाला अङ्ग 'मस्तिष्क' कहलाता है। इस कपाल कोष्ठ की तली के पिछले भाग में एक बड़ा-सा 'महाछिद्र' है। कशेरु-निर्मित-मेरुदण्ड की नलिका का सिर इस स्थान पर कपाल कोष्ठ से मिला हुआ है। ग्रीवा, वक्ष, और उदर में पृष्टवंश के दाएं-बाएं तथा पृष्ठवंश के सामने पिंगल-वर्ण की छोटी-छोटी गांठें-सी हैं। ये परस्पर एक दूसरी के साथ वातसूत्रों की डोरियों से बंधी वा जुड़ी हुई हैं। ये ही 'वातगण्ड' हैं जो 'पिंगलमाला' के अंश हैं। मस्तिष्क अण्डाकार, सामने से कुछ पतला, पीछे से चौड़ा, पिलपिला सा, ऊपर से धूसर-वर्ण, काटने पर अन्दर से श्वेत-वर्ण का है। यह ऊपर से दीखने वाला अङ्ग 'बृहन्मस्तिष्क' कहलाता है। और वृहन्मस्तिष्क के पिछले भाग के नीचे तली में दीखने वाला भाग 'लघु-मस्तिष्क' है। बाह्यधूसर-भाग 'वातकोष्ठकों' से और अन्दर का श्वेत-भाग 'वात-सूत्रों' से बना हुआ है। भूमि पर 'हल' चलाने जैसी इसमें ऊंची-नीची घाइयाँ (सीताएं) पड़ी है। दो सीताओं के मध्य में उभरे-भागों को 'चक्राङ्ग' कहते हैं। ये उभार टेढ़े-मेढ़े होते हैं। मस्तिष्क के भार का, और बड़ा होने का बुद्धिमत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं है, वरन् इन सीताओं की गहराई का बुद्धिमत्ता से विशेष सम्बन्ध है। बुद्धिमानों में ये सीताएं विशेष गहरी तथा मूर्ख और पागलों में उथली होती हैं। एवं बाह्यधूसर भाग भी बुद्धिमानों में अधिक मोटा होता है।

बृहन्मस्तिष्क—मुखमण्डल से पीठ की ओर तक एक दरार-द्वारा यह बड़ा मस्तिष्क दो गोलार्द्धों में विभक्त है—जैसे अखरोट। और कटे अखरोट से मिलता-जुलता भी है। प्रत्येक गोलार्द्ध अन्दर से खोखला है। ये गोलार्द्ध यदि एक दूसरे से पृथक् किए जाएं तो इन दोनों को नीचे से जोड़ने वाली एक चौड़ी श्वेत-सी पट्टी दीखती है। यह 'महासंयोजक' है। इन दोनों कोष्ठों के मध्य में थोड़ा-सा तरल पदार्थ भरा है। यदि यह तरल मात्रा से अधिक बढ़ जाए तो मनुष्य के महामूढ़, उन्मत्त-पागल हो जाने की अधिक सम्भावना हो जाती है। बृहन्मस्तिष्क को समझने के लिए घाईयों के नाम रख दिए हैं। बृहन्मस्तिष्क के लगभग मध्य में ऊपर से नीचे को जाने वाली घाई को 'माध्यमिकसीता' कहते हैं। इसके समीपवर्ती-भाग को 'पार्श्विक-खण्ड', एवं अन्य खण्डों के 'ललाट-ध्रुव', 'पार्श्विक-ध्रुव', 'शंख-ध्रुव' आदि नाम हैं।

मस्तिष्क के अन्यान्य ६ भाग— देह भर में ज्ञान-विज्ञान सम्पादन करने-कराने वाला केन्द्र यह 'मस्तिष्क' ही है। मस्तिष्क के सामान्य ज्ञान-मात्र से 'विज्ञान' नहीं हो सकता; क्योंकि जब तक हमें ज्ञानसाधिका ५ इन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा इन सब से काम लेने वाले मन, बुद्धि के निवास स्थान का पता न हो; तब तक इनका और इन के द्वारा गृहीत-विषयों का ज्ञान तथा विज्ञान हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे? इसलिए इन्द्रियों एवं मन बुद्धि के निवास-स्थानों का शारीरिक-दृष्टि से क्या रूप है, इसे साक्षात्



चित्र संख्या २

सुषुम्ना मस्तिष्क परस्पर सम्बन्ध

कराने की दृष्टि से मस्तिष्कगत आन्तरिक भागों का वर्णन करते हैं (देखें चित्र सं० २*):—

मस्तिष्क के अधोभाग में देखने पर हमें वहाँ पर ये भाग दीखते हैं—(१) लघुमस्तिष्क के सामने पास ही महराब जैसा मुड़ा हुआ एक भाग 'सेतु' है। यह अधिकतर वातसूत्रों से बना है। बृहद् तथा लघुमस्तिष्क एवं सुषुम्ना, इन तीनों अङ्गों में इधर-उधर जाने वाले सूत्र इसी सेतु में से होकर आ-जा रहे हैं;। एक पुल जैसा कार्य देने से यह 'सेतु' कहलाता है। (२) सेतु के ऊपरी पृष्ठ से संयुक्त दो दण्ड होते हैं। सेतु से निकलकर ये दोनों दण्ड बृहन्मस्तिष्क के दाएं-बाएं गोलार्द्धों में छिप गए हैं। ये दोनों दण्ड भी वातसूत्रों के समूह हैं और 'नाड़ीस्तम्भ' तथा 'मस्तिष्क-स्तम्भ' कहलाते हैं। (३) स्तम्भों के बीच में तथा सेतु के मध्य-भाग के सन्मुख मटर-सदृश दो पिण्ड 'वृत्तपिण्ड' हैं। (४) वृत्तपिण्डों के सामने लघु-अण्डाकार-सा 'पिट्यूटरी' वा 'हाइपोफ़िसिस' नामक परमआवश्यक पिण्ड होता है। यह जतूकास्थि के गात्र के ऊपरी पृष्ठ पर बने गहरे गढ़े में लगा है और एक खोखली-पतली नाल-द्वारा तीसरे कोष्ठ के फर्श से जा लगा है। (५) 'हाइपो' के सामने ही, 'दृष्टि नाड़ी-योजिका' है। यहाँ पर से दोनों दृष्टिनाड़ियों के कुछ तार आर-पार होकर जाते हैं। (६) इस दृष्टिनाड़ी-योजिका के सम्मुखी-दरार के दाईं-बाईं ओर १-१ मुद्गर-सा है। इस का अगला मोटा-भाग 'घ्राण-खण्ड' है, और पिछला भाग 'घ्राण-पथ' है। (७) सेतु के पिछली ओर सेतु के से जुड़ा हुआ भाग 'सुषुम्ना-शीर्ष' है। इस का नीचे पीठ को ओर जाने वाला भाग 'सुषुम्ना' है, सुषुम्ना शीर्ष सेतु के समीप मोटा वा चौड़ा, किन्तु 'महाछिद्र' के समीप पतला हो गया है। शीर्ष की लम्बाई १। इंच के लगभग है। सुषुम्ना-शीर्ष में संमुख ही एक खाई है। इस खाई के उभारों के आस-पास एक दूसरी खाई भी है। इस के पीछे 'बेर' के समान एक उभार है। सेतु और सुषुम्ना शीर्ष के पीछे तथा लघु-मस्तिष्क के सम्मुख और नीचे एक चौखूंटा सपाट-तल है। इसे मस्तिष्क का 'चतुर्थ-कोष्ठ' कहते हैं। (८) स्तम्भों के ऊपर बृहन्मस्तिष्क और महासंयोजक के पिछले भाग से आच्छादित गोल,गोल ४ उभार 'चतुष्पिण्ड' हैं। (९) चतुष्पिण्डों के सम्मुख एक मटर के समा पिन्ड 'पीनियल-पिन्ड' है। चतुष्पिन्डऔर स्तम्भों को मिला कर 'मध्य-मस्तिष्क' बनता है। चतुष्पिण्ड के नीचे मध्य-मस्तिष्क में एक पतली,सी नलिका वा सुरंग के द्वारा मस्तिष्क के तीसरे चौथे-कोष्ठ परस्पर मिले हुए हैं।

मस्तिष्क का धूसर और श्वेत-भाग—वात कोष्ठकों (सेलों) से यह धूसर भाग बना है जो विभिन्न प्रकारों के हैं। अनुमानतः मस्तिष्क ३ अरब कोष्ठकों से बना

---

* चित्र संख्या २ का विवरण—बृहन्मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क, रीढ़ की हड्डी, सुषुम्ना व हृदय प्लीहादि का परस्पर सम्बन्ध :—

१. बृहन्मस्तिष्क में सूक्ष्म शरीर का आवास है।

२. गुलाबी रंग का लघु मस्तिष्क है।

३, रीढ़ की हड्डी है।

४. सुषुम्ना नाड़ी के ज्ञानवाहक व गति वाहक सूत्रों का हृदय, प्लीहा आदि के साथ सम्बन्ध है।

है तथा श्वेत भाग उन सूत्रों से बना है जो सूच्याकार और शंखाकार सेलों से बने हैं। कोष्ठकों से बने सूत्रों से दोनों मस्तिष्क परस्पर गुंथे पड़े हैं।

मस्तिष्क की अन्यान्य विशेष नाड़ियां—(देखो चित्र सं० ३) मस्तिष्क के अधोभाग में देखने पर नाड़ियों के १२ जोड़े मध्य-मस्तिष्क से निकलते प्रतीत होते हैं। इनकी गणना 'ललाट-ध्रुव' की ओर से १, २, ३ इत्यादि के रूप से की जाती है :

१. प्रथम-युगल का सम्बन्ध 'गन्ध' से है। ये दोनों नाड़ियाँ बड़े मस्तिष्क के अग्रभाग में दाएं-बाएं गोलार्द्धों में हैं। प्रत्येक ओर नासिका के घ्राण-प्रदेश से केश-समान सूक्ष्म २०-२० अन्य नाड़ियाँ भी निकलती हैं जो झर्झरास्थि के 'चालनी-पटल' के छिद्रों से होती हुई कपाल में पहुँचते ही 'घ्राणखण्डों' से जा जुड़ती हैं।

२. दृष्टिनाड़ियों का युगल है। ये नाड़ियाँ 'हाइपो ग्रन्थि के पास से आर-पार होकर पीछे जाकर मिल जाती हैं।

३. ये 'नेत्र-चालनी' नाड़ियाँ हैं।

४. इन दोनों नाड़ियों का भी नेत्र-गति से सम्बन्ध है।

५. इस युगल की तीन बड़ी-बड़ी शाखाएं हो गई हैं; इन्हें 'त्रिशिखा' कहते हैं। ये मस्तिष्क-नाड़ियों में सबसे बड़ी हैं। इन के नाम हैं।

(क) 'चाक्षुषी-शाखा'; इस की भी आश्रवी, लालाटिक, नासामाण्डलिक—तीन शाखाएं हो गई हैं।

(ख) 'ऊर्ध्व-हान्विकी-शाखा'।

(ग) 'अधर-हान्विकी-शाखा'।

६. मिश्रित-नाड़ी है, जो चेहरे, ललाट, और शिर के अग्रभाग—नासा, मुख, जीभ के अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग और दान्तों की साम्वेदनिक-नाड़ी है। यह चबाने वाली पेशियों की चालक है।

७. यह युगल भी नेत्र की गतियों से सम्बद्ध है। इस युगल का मुख-मन्डल की पेशियों की गतिविधियों से सम्बन्ध है। अतः इन्हें 'मौखिकी-नाड़ियाँ' कहते हैं।

८. यह 'श्रावणी-नाड़ियों' का युगल है और 'शब्द-श्रवण' से सम्बन्धित है।

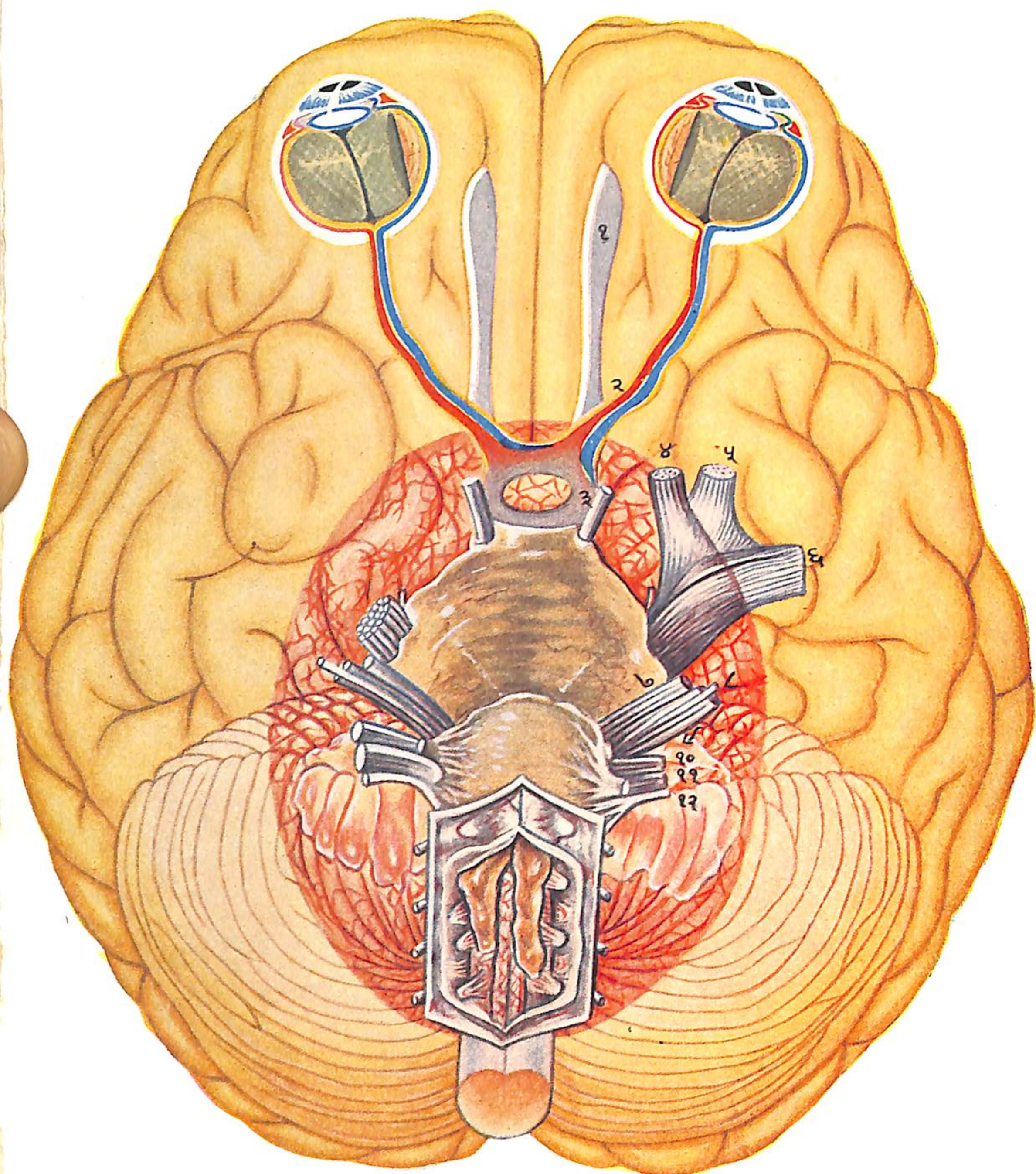
९. ये जिह्वा-कण्ठ से सम्बन्धित 'जिह्वाकण्ठ नाड़ियाँ' हैं।

१०, यह युगल स्वरयन्त्र, फुफ्फुस, हृदय, आमाशय, यकृत् आदि उदरस्थ अङ्गों से सम्बद्ध है।

११. यह युगल 'सुषुम्नाशीर्ष' से सम्बद्ध है।

१२. यह युगल 'जिह्वा अधोवर्ती नाड़ीयुगल' कहा जाता है।

प्रान्तस्थ-नाड़ी-मण्डल—इसमें मस्तिष्क से निकली २४ नाड़ियाँ, सुषुम्ना से निकलीं ६२, और ग्रीवा, वक्ष, उदरस्त्र वातगण्ड सम्मिलित हैं। ये नाड़ियाँ रंग में



चित्र संख्या ३

बृहन्मस्तिष्क

श्वेतिमा लिए स्पर्श में डोरे जैसी कठोर, काटने पर ठोस, शीघ्र न टूटने वाली और माँस में घुमी होती हैं। स्मरण रखिए कि दात-सूत्र, तार, तन्तु, सूत्र—ये एक ही वस्तु के नाम हैं। नाड़ी, सूत्रों से बनती है।

सूत्र के दो प्रकार—१. श्वेत वा 'मैदस-पिधान युक्त'। ये सूत्र चेष्टा-गतिवाले 'क्रियावह' होते हैं। ये पेशियों की गतियों से सम्बद्ध होते हैं। जैसे 'नेत्र-परिचालिका', जिन के द्वारा नेत्रों की पेशियों को गति करने की आज्ञा मिलती है।

२. धूसर वा 'मैदस-पिधान रहित'। ये सूत्र श्वेतसूत्रों से पतले और अधिक स्वच्छ भी होते हैं। ये सम्वेदना—चेतना 'ज्ञान के वाहक' होने से 'साम्वेदनिक' कहे जाते हैं। जैसे, किसी वस्तु को देखने पर किसी नाड़ी के द्वारा उस वस्तु के विषय का प्रभाव मस्तिष्क को पहुँचा और मस्तिष्क ने उस प्रभाव को ग्रहण किया तो यही सम्वेदन का ले जाना है। इन मस्तिष्क-नाड़ियों में से कुछ तो केवल साम्वेदनिक हैं। जैसे—घ्राण, चाक्षुषी, श्रावणी नाड़ियाँ। इन का गति वा चेष्टा से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ३-४-६-११-१२ युगल केवल चेष्टा वाह हैं। शेष ४ नाड़ी युगल दोनों कार्य करते हैं।

मस्तिष्क के केन्द्र—(चित्र संख्या ३) ❊ मस्तिष्क नाड़ी-युगलों के समान ही मस्तिष्क-केन्द्रों के भी दाएं-बाएं को मिलाकर जोड़े बनते हैं। इनका कार्य-व्यवहार ऐसे चलता है कि दायाँ केन्द्र देह के वाम भाग पर और वाम-केन्द्र देह के दक्षिण भाग पर शासन करता है, और ये केन्द्र पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से तथा मिलकर भी कार्य करते हैं।

चेतावनी—इन सब केन्द्रों के, नाम सहित, चित्र को देखें और अन्दर अभ्यास द्वारा साक्षात्कार करें।

इन सब केन्द्र-युगलों में—वाणी- केन्द्र एक ही है। जो व्यक्ति जिस ओर के हाथ से अधिक कार्य करते हैं उनके मस्तिष्क में उस से दूसरी ओर वाणी और पाणि-केन्द्र होगा। वृहन्मस्तिष्क के धूसर भाग के विभिन्न भागों के कार्यकेन्द्र भी विविध हैं, और कार्यक्षेत्र भी। किसी भाग का केवल देह की गतिविधियों से सम्बन्ध है—कोई पीड़ा, शीत; उष्ण, मनन, दृष्टि, स्वाद, गन्ध आदि को ही अनुभव करते हैं। ये केन्द्र पृथक्-पृथक् होकर भी सूत्रजाल द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।

गतिक्षेत्र—मस्तिष्कगत-केन्द्रों में जहाँ पर गतिक्षेत्र हैं, वहाँ ऊपर के भाग में टाँगों से सम्बद्ध गतिकेन्द्र हैं। जैसे शिखर पर पादाँगुलि गतिकेन्द्र। उससे गतिकेन्द्र नीचे

❊ चित्र संख्या ३ का विवरण—बृहन्मस्तिष्क—

१ गन्धनाड़ी, २, दृष्टिनाड़ी ३ नेत्रचालनी नाड़ी; ४-५-६ त्रिशिखा नाड़ी, ७ मौखिकी नाड़ी; ८ श्रावणी नाड़ी; ९ जिह्वा तथा कण्ठ नाड़ी। १२ जिह्वा अधोवर्ती नाड़ी। शेष १०, ११ अन्य नाड़ियां हैं।

गुल्फ-जानु गतिकेन्द्र और नितम्ब-संचालक गतिकेन्द्र हैं। उससे नीचे उदर और वक्ष-संचालक केन्द्र फिर स्कन्ध, कर्पर (खोपड़ी), कलाई, हस्ताँगुलियों के, और इस के संमुख शिर और नेत्रों के गतिकेन्द्र हैं। स्कन्धादि केन्द्रों के नीचे मुख-मंडल जिह्वादि के संचालक-केन्द्र हैं। ये सब चित्र में लिखे विवरण से स्पष्ट है।

लघु मस्तिष्क—(देखें चित्र सं० ५) यह बड़े मस्तिष्क से अति छोटा, एक पिचके गोलेगिरी की आकृति से मिलता है। इसका निचला पृष्ठ मध्य में से दबा हुआ शेष भाग उभरा हुआ होता है। ऊपरी पृष्ठ भाग मध्य में से उभरा-सा होता है। बृहन्मस्तिष्क के पिछले भाग से आच्छादित रहने के कारण यह ऊपर से देखने पर नहीं दीखता। यह अन्दर से एक झाड़ी के समान सूत्रों से भरा दीखता है। बड़े मस्तिष्क के समान इसके धूसर और श्वेत भागों से विभिन्न प्रकार के सूत्र निकल कर बड़े मस्तिष्क और सुषुम्ना को जाते तथा इन दोनों ही स्थानों से यहाँ आते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क-प्रदेश वात-सूत्र जाल से आक्रान्त है।

लघु मस्तिष्क के विशेष कार्य—यह देह की समस्त गति-विधियों को नियन्त्रित करके देह में साम्य-स्थिति को स्थिर रखता है। जैसे हमारी देह में जब कहीं कोई गति होती है तो उस स्थान की पेशियों में संकोच और कुछ-एक पेशियों में प्रसार होता है, तभी हमारे हाथ-पैर मुड़ सकते हैं। ऐसी दशा में यदि सिकुड़ने वाली पेशी न सिकुड़े तो फैलने वाली पेशी स्थानाभाव से फैल न सकेगी। ऐसी संकोच-विकासशील क्रियाओं का नियन्त्रण रखना लघु-मस्तिष्क का 'मुख्य' तथा विशेष कार्य है। लघुमस्तिष्क बड़े मस्तिष्क को प्रतिक्षण आदेश देता रहता है।

लघुमस्तिष्क का वाम-भाग बड़े के दक्षिण भाग का सहकारी है; और दक्षिण भाग वाम-भाग का। लघुमस्तिष्क की दुर्बलता आदि विकार से मनुष्य के हाथ-पैर काँपने लगते हैं, नेत्र, श्रोत्र, आदिकों की गतियाँ भी ठीक व्यवस्थित नहीं होने पाती हैं। जैसे शिर, हस्त आदि का 'कम्प'। त्वचा द्वारा, सन्धियों, पेशियों, नेत्र, श्रोत्र की अर्ध-चन्द्राकार नलिकाओं से जो साम्वेदनिक सूत्र मस्तिष्क को जाते हैं उन में से अनेक लघु-मस्तिष्क को भी जाते हैं; इन्हीं के द्वारा देह भर की गति-विधियों पर शासन तथा नियमन बना रहता है।

सुषुम्ना—(चित्र सं० २) सम्पूर्ण देह में, मस्तिष्क-द्वारा-प्रसारित ज्ञान तथा क्रिया एवं आज्ञाओं के जाने का 'सुषुम्ना' ही मुख्य-मार्ग है। कपाल की पश्चादस्थि में स्थित लघुमस्तिष्क के मध्य-भाग के ही सम्मुख, चतुर्थ कोष्ठ तथा सेतु के निम्न भाग से सुषुम्ना का निकास होता है; और इसका निवास मेरुदण्डनलिका में है। पश्चादस्थि के निम्न भाग से निकलकर मेरुदण्ड की ग्रीवा के प्रथम-कशेरु के बीच से होती हुई सुषुम्ना, ग्रीवा, पृष्ठवंश के कशेरुओं में से गुजरती हुई कटि-प्रदेश के प्रथम-द्वितीय कशेरु के सन्मुख 'शंकु' के आकार की हो जाती है, यही 'शंकु-शिखर' है। यहाँ से आगे इसी शंकु की नोक से एक पतला श्वेत-सूत्र निकल कर ७.८ इंच नीचे जाकर गुदास्थि से जा लगा है। यह सुषुम्ना का 'मध्य-बन्धन' कहाता है; यहाँ के प्रारम्भिक भाग में थोड़ा 'वाततन्तु' और शेष-भाग में 'सौत्रिक-तन्तु' होता है। सुषुम्ना की लम्बाई १८ इंच

लगभग, मोटाई-ग्रीवा में ३ इंच कशेरु से वक्ष के प्रथम कशेरु तक के भाग का घेरा $\frac{1}{2}$ इंच; वक्ष के ९ से १२वें कशेरु के मध्य में सुषुम्ना की मोटाई एक इंच के लगभग होती है; शेष तो पूर्वोक्त श्वेत-सूत्र ही नीचे तक होता है। सुषुम्ना के सम्मुखी-भाग में एक सीधी घाई पड़ी है जो स्थूल-भाग तक ही रहती है। इस की गहराई $\frac{1}{8}$ इंच होती है। इस घाई के दाएं-बाएं पार्श्व एक समान होते हैं। दो कशेरुओं के संयोग से दाएं-बाएं पार्श्व में एक नलिका बन जाती है। इन कशेरुकान्तरों से—सुषुम्ना के दाएं-बाएं पार्श्वों में से—नाड़ियों के ३१ युगल निकले हैं, जो वातसूत्र-निर्मित हैं। सुषुम्ना के साथ जुड़ी प्रत्येक नाड़ी दो-भागों में विभक्त हुई है। नाड़ी के अग्रिम-भाग को 'पूर्वमूल' और पिछले-भाग को 'पाश्चात्यमूल' कहते हैं। दोनों मूल सुषुम्ना के पास ही परस्पर मिलकर कशेरुकान्तरों से बाहर निकलते हैं। दोनों मूलों के मेल से ही पूरी नाड़ी बनती है। दोनों मूलों से सूत्र निकलकर, पाश्चात्य मूल के सूत्र सुषुम्ना में से भीतर घुसकर फिर ऊपर को चढ़ते हैं; और पूर्वमूल के सूत्र सुषुम्ना में से बाहर आकर शरीर में फैल जाते हैं। पूर्वमूल के श्वेतसूत्रों का सम्बन्ध पेशियों की गति से है। और पाश्चात्य मूल के धूसर-तार साम्वेदनिक हैं। इन दोनों प्रकार के सूत्रों से मिलकर पूरी नाड़ी बनती है। पाश्चात्यमूल के धूसर-सूत्र, जो सुषुम्ना में घुसे थे, पृष्ठवंश के अन्दर जाकर कशेरु, कशेरु-बन्धन, सुषुम्ना-आवरण को चले जाते हैं। ये साम्वेदनिक-तार अधिक पतले होते हैं और शिर, ग्रीवा, वक्ष तथा उदर के पिछले-भागों में चले गए हैं। पूर्वमूल से निकले श्वेत-गतिसूत्र ग्रीवा, वक्ष, और उदर के अगले सम्मुखी-भागों में घुस गए हैं। आगे प्रथम और दूसरे कटि-कशेरुकान्तरों से इक्कीसवीं नाड़ी निकलती है; शेष १० नाड़ियाँ सुषुम्ना में से तो निकल चुकी हैं परन्तु अभी कशेरु की नलिका के भीतर ही हैं। इन सब के एकत्रित हो जाने से यहाँ कटि-प्रदेश में सुषुम्ना 'अश्व-पुच्छ' के समान दीखती है। अतः इस नाड़ी-समूह को ही 'अश्य-पुच्छ' कहते हैं। फिर धीरे-धीरे इन नाड़ियों के बाहर निकल जाने से यह 'पुच्छ' आगे को पतली पड़ती जाती है। कटि-प्रदेश में तो पूर्व और पाश्चात्यमूल की शाखाएं, कटि-कशेरुकान्तरों में से बाहर आती हैं; किन्तु 'त्रिकदेश' की नाड़ियाँ, त्रिकास्थि के अन्दर, पूर्व और पाश्चात्यशाखाओं में विभक्त हो जाती हैं। पूर्वशाखाएं 'त्रिक' के अगले छिद्रों में से होकर वस्ति-गह्वर में आ जाती हैं और पाश्चात्य-शाखाएं पिछले छिद्रों से निकल कर कटि-प्रदेश में घुस जाती हैं। ग्रीवा में तीसरे कशेरु से लेकर वक्ष के प्रथम कशेरु तक के भाग से 'बाहु-शाखा-सम्बन्धी' नाड़ियाँ निकलती हैं, और वक्ष वा पृष्ठ के नवें से बारहवें कशेरु के मध्य से टाँगों से सम्बद्ध नाड़ियाँ निकलती हैं। इस प्रकार यह सुषुम्ना—गति तथा ज्ञान वाहक-सूत्रों से बना—विज्ञान का एक महान् सत्-पथ है।

मस्तिष्क तथा सुषुम्ना के आवरण—इन दोनों में ही बाह्य, माध्यमिक और आन्तरिक-आवरण होते हैं। इन आवरणों के मध्य में कुछ अन्तर रहता है। बाह्य-आवरण सुदृढ़ तथा दोनों का रक्षक है। इस अन्तर में सूक्ष्म-सूत्रों का एक जाल-सा बना रहता है। बाह्यावरण रक्षा के साथ-साथ बृहद मस्तिष्क को लघुमस्तिष्क से पृथक् और अन्य कई भागों को भी अलग करता है। एवं सुषुम्ना में भी ये ही तीन आवरण होते हैं और इन आवरणों में भी अन्तर होता है। इस मध्यावरण-अधःप्रदेश

का सम्बन्ध एक छिद्र के द्वारा मस्तिष्क के चतुर्थकोष्ठ के साथ जुड़ा होता है—यही 'सौषुम्न-नलिका' है। बाह्यावरण-अध:प्रदेश का मस्तिष्क के किसी अन्य भाग से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुषुम्ना-नाड़ी के बाह्यावरण का रंग श्वेत और अन्त:स्थ-भाग का धूसर-वर्ण होता है—मस्तिष्क से सर्वथा विपरीत। सुषुम्ना के धूसर-भाग में कोष्ठक (सेलें) और श्वेत-भाग में सूत्र होते हैं। व्यस्त-कटि में सुषुम्ना का धूसर-भाग (H) एच से मिलता है। धूसर-पदार्थ के दो मुड़े हुए पार्श्विक भाग मध्य में से जुड़े रहते हैं। इस जोड़ में एक छोटा-सा छिद्र होता है, जो 'सौषुम्न-नलिका' का मुख (छिद्र) है। यह सौषुम्न-नलिका मस्तिष्क के चौथे कोष्ठ से मिली हुई है। इसमें थोड़ा-सा वैसा ही 'तरल' पदार्थ रहता है जैसा कि मस्तिष्क के कोष्ठों में विद्यमान है।

सौषुम्न-युगल-गणना—प्रदेशानुसार इनकी गणना इस प्रकार है—ग्रीवा में ८, वक्ष में १२, कटि में ५, त्रिक में ५, चंचु में १; ये सब ३१ होते हैं। प्रदेश के अनुसार इनके भी नाम—ग्रीवा की प्रथमा, वक्ष की तृतीय कटि की द्वितीय आदि-ज्ञान-सुविधा के लिए रख लिए हैं इस प्रकार सौषुम्न-नाड़ियों का शाखा-प्रशाखामय जाल समस्त देह में व्याप्त है। इस नाड़ी-जाल में ५ केन्द्र मुख्य हैं—(१) ग्रीवा के ऊपरी-भाग में; (२) ग्रीवा के निचले-भाग और वक्ष में; (३) कटि-प्रदेश-उदर में, एवं (४-५)—त्रिकास्थि के सम्मुख 'वस्तिगह्वर में है। आगे प्रत्येक सौषुम्न नाड़ी का पिंगला नाड़ी-मन्डल से सम्बन्ध है।

पिंगलानाड़ी मण्डल—सुषुम्ना के दाएं-बाएं गाँठों वाली दो नाड़ियाँ भी चली जा रही हैं जो गुदास्थि के सम्मुख जा मिलती हैं। इन गाँठों का रंग कुछ लालिमा लिए धूसर—पिंगलवर्ण है। इसी के आधार पर इस नाड़ी-जाल का नाम 'पिंगला नाड़ी-मण्डल' रक्खा गया है। ग्रीवा, वक्ष और उदर में पृष्ठवंश के सामने दाएं-बाएं दो डोरियाँ पड़ी हैं। प्रत्येक डोरी में थोड़ी-थोड़ी-सी दूरी पर गाँठों जैसे छोटे-बड़े उभार हैं। इन गाँठों के कारण यह डोरी एक माला के समान दीखती है, और ये उभार मानो माला के दाने हैं। इन गाँठों को नाड़ी-गण्ड' और इस माला को 'गण्ड-शृङ्खला' कहते हैं। इस मण्डल की नाड़ियों को सुषुम्ना ओर मस्तिष्क की नाड़ियों से पृथक् कर के वर्णन करने के लिए यह नाम दिया गया है।

शृङ्खला-गण्डों से निलकी इड़ा-पिंगला—दक्षिणभागा नाड़ी 'पिंगला' और वामभाग इड़ा है। अन्नमार्ग, वा अन्नमार्ग सम्बन्धी ग्रन्थियों को जाने वाली नाड़ियाँ 'इड़ा नाड़िनाँ' कहलाती है। पिंगलानाड़ो-मण्डल में वे नाड़ी-गण्ड भी सम्मिलित हैं जो गन्ड-शृङ्खलाओं से पृथक् उदर में पृष्ठवंश के सामने वक्ष, और उदरस्थ-अङ्गों की दीवारों में हैं, एवं मस्तिष्क-नाड़ियों से सम्बद्ध शिर में हैं। एक ओर की इस शृङ्खला में २४-२५ गण्ड होते हैं, जैसे—ग्रीवा में ३, वक्ष में १२, कटि में ४, वस्तिगह्वर में ४-५, गुदास्थि के सामने १—इस प्रकार सब २४-२५ हैं। गुदास्थि के सम्मुखी-गण्ड में मिल कर यह शृङ्खला, 'मालाकार' बन गई है। पिंगलामाला के समस्त नाड़ी-जाल का सम्बन्ध सौषुम्न तथा मस्तिष्क-नाड़ी-सूत्रों से बड़ी घनिष्ठता के साथ है। शृङ्खला के गंड भी उक्त नाड़ी-सूत्रों से गुंथे हैं। इस प्रकार यह देह नाड़ी-जालों से व्याप्त-नाड़ी-जालमय ही है।

पिंगला नाड़ी जाल के देह में मुख्य केन्द्र—प्रथम-वक्ष में से निकल कर फुफ्फुस, हृदय, महाधमनी आदि को जाने वाली नाड़ियों का केन्द्र; द्वितीय-कौड़ी-प्रदेश में प्रथम कटि-कशेरु के सम्मुख आमाशय में यकृत्, क्लोम, महाधमनी, आँतों आदि को जाने वाली नाड़ियों का केन्द्र; तृतीय-उदर के निचले भाग में; चौथे कटि-कशेरु के सामने महाधमनी की अन्तिम शाखाओं के मध्य में है। इस की शाखाएं मूत्राशय, गर्भाशय आदि को जाती हैं।

मस्तिष्क तथा सौषुम्न-नाड़ियों का मार्ग—मस्तिष्क-नाड़ी-समूह और सौषुम्न नाड़ियों के सूत्रों को ग्रन्थियों तथा अनच्छिक माँस-निर्मित अङ्गों में पहुँचने के लिए पिंगला-गण्डों में से घूम कर, चक्कर मारकर जाना पड़ता है। वे सूत्र इन स्थानों में ऐच्छिक माँस की भाँति सीधे नहीं पहुँच सकते।

नाड़ी-सूत्रों का कार्य—समस्त नाड़ी-सूत्र विद्युत्-तार का टेलीफोनवत् देह में कार्य करते हैं। देह में ज्ञान तथा क्रियारूपी जीवनी-शक्ति का संचार और प्रसार ज्ञानवाहक-साम्वेदनिक तथा गति-वाहक सूत्रों के द्वारा सम्पन्न हो रहा है—चाहे ये क्रियाएं ऐच्छिक हैं या अनच्छिक। देह के रक्षक हृदय तथा शासक मस्तिष्क का कार्य भी नाड़ी-सूत्र ही कर रहे हैं। नाड़ी-सूत्र ही देह की गति-विधियों को मस्तिष्क तक पहुँचाते तथा मस्तिष्क से आज्ञा लेकर देह में यत्र-तत्र आज्ञा-प्रसार रूप यह आदान-प्रदान कार्य करते हैं। इनमें से—

१. केन्द्रगामी-सूत्र हैं, जो विभिन्न देहाङ्गों से प्रारम्भ होकर तद्तद्स्थानों की गति-विधियों के समाचारों को लेकर सुषुम्ना मार्ग से मस्तिष्क को जाते हैं।

२. केन्द्रत्यागी सूत्र हैं जो मस्तिष्क और सुषुम्ना से प्रारम्भ होकर मस्तिष्क तक की आज्ञा और ज्ञान को लेकर देह भर में फला देते हैं।

सभी नाड़ी-सूत्र इन्हीं दो प्रकार के तारों से बने हुए हैं। केन्द्रगामी-तार साम्वेदनिक और केन्द्रत्यागी-सूत्र गति उत्पादक होते हैं।

केन्द्रगामी-सूत्रों के उत्पत्ति-केन्द्र—मस्तिष्क और सुषुम्ना से बाहर है। एवम्।

केन्द्र-त्यागी तारों के उत्पत्ति-केन्द्र—मस्तिष्क और सुषुम्ना में ही हैं जो केन्द्रगामी सूत्रों से देह में यत्र-तत्र घटित होने वाली घटनाओं की सूचना मस्तिष्क तथा सुषुम्ना को पहुँचाते रहते हैं। यथा, पैर मे कांटा चुभना, हाथ में चोट लगना, पीठ में खाज होना, उदर पीड़ा आदि की अनुभूति होना इन्हीं तन्तुओं की सूचना का फल है।

सुषुम्ना तथा मस्तिष्क के विस्तृत वर्णन का कारण—सुषुम्ना तथा मस्तिष्क का विवरण इतने विस्तार से इस लिए देना पड़ा कि समस्त देह में ज्ञान-विज्ञान प्राप्ति के साधनभूत मन और कर्मन्द्रियों तथा बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों का निवास मस्तिष्क में है। इस गोलाकर कोष्ठ में ही हमारे 'मनोमय' और 'विज्ञानमय कोश' स्थित रह कर कार्य करते तथा ज्ञान-सम्पादन करते हैं, एवं ज्ञानप्रधान मस्तिष्क और भावप्रधान हृदय

अपने ज्ञान, क्रिया और भावों को क्रियान्वित कराने के लिए विशेष रूप से 'सुषुम्ना मार्ग' का प्रयोग करते हैं। मस्तिष्क और हृदय को देह के साथ मिलाने का मुख्य-साधन 'सुषुम्ना' है ऐसा ही हमारा अनुभव है; क्योंकि सहस्रशः ज्ञान एवं गतिवाहक सूत्रजालों से व्याप्त इस देह से दोनों प्रकार के अधिकाँश वातसूत्र सुषुम्ना-कान्ड में से गुजर कर मस्तिष्क को जाते और मस्तिष्क के तार इस मार्ग से देह के अन्यान्य भागों में आते हैं। एक वस्त्र की बुनावट में बनाए गए पुष्प-पत्तियों के समान हमारा समस्त देह इन्हीं सूत्रों से बुना हुआ-सा है। अर्थात्, दोनों प्रकार के सूत्र कहीं पर सीधे, कहीं तिरछे, ऊपर-नीचे होकर एक दूसरे से जुड़ते-बिछुड़ते देह में फैले हुए हैं। इन की किसी स्थल में गांठें-सी बन गई हैं, कहीं रस्सी-सी। इस प्रकार से ज्ञान और क्रिया का सम्वहन-रूप व्यापार हो रहा है, और रथी 'जीवात्मा' का रथ चला जा रहा है—कैसे ? ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूपी अश्वों के द्वारा; उनका स्वरूप इस प्रकार है।

६. **ज्ञानेन्द्रियां**—हमारे पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए, नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा ये ५ ज्ञानेन्द्रियां हैं जो क्रमशः—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श का ज्ञान करती तथा कराती हैं। ये सब ज्ञानेन्द्रियां ग्रीवा से ऊपर 'मुख-मन्डल' में हैं; जो आँख, कान, नाक आदि हमें दीखते हैं ये तो स्थूल इन्द्रियों के 'गोलक' हैं। इनका 'शक्तिमय-स्वरूप' कपाल में है। चित्र (संख्या ४ ❋ और १३) से सब स्पष्ट हो जाता है कि कौन-सी इन्द्रिय मस्तिष्क के किस भाग में है और कैसे कार्य कर रही है। स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाते हुये क्रम से साधारण विवरण यह है :—

(क) **घ्राणेन्द्रिय—नासिका**—चेहरे पर लगा उभरा भाग प्रसिद्ध 'नासिका' है। श्वास-प्रश्वास के लिए इस में दो छिद्र हैं जो दोनों नेत्रों के मध्य तथा भ्रूमध्य के नीचे कठिन और कोमल तालु के निचले भाग में से होकर कंठ में लटकते 'काक-पिंड'

❋ चित्र सं० ४ का विवरण—स्थूल ज्ञानेन्द्रियों का प्रत्यक्षीकरण—

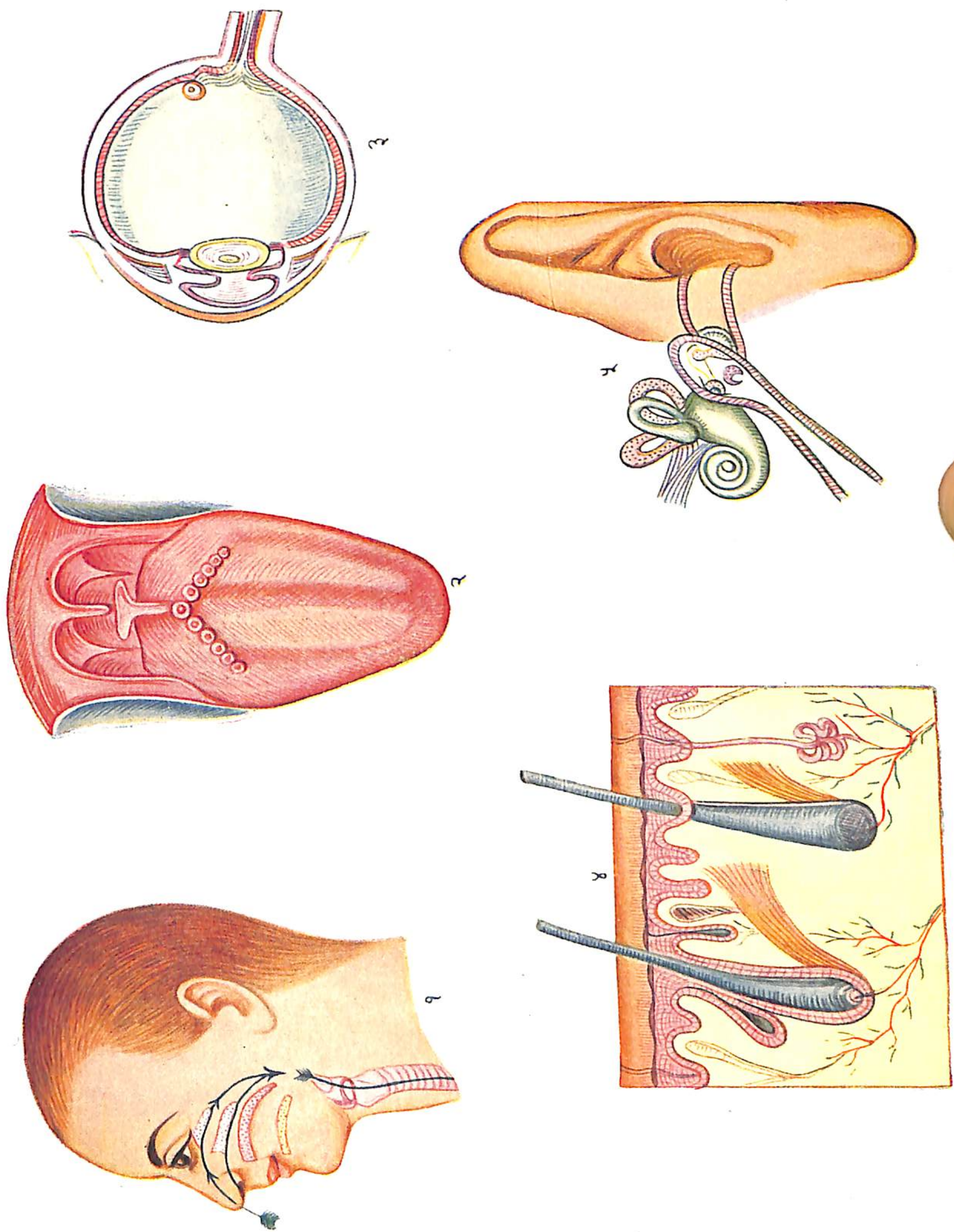
१. घ्राणेन्द्रिय—नासिका में नील-हरित वर्ण के बाणों द्वारा श्वाश-प्रश्वाश एवं गन्ध की सम्वेदना और प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया है।

२. स्वादेन्द्रिय—जिह्वा—जिह्वा का ऊपरी भाग बोलने का यंत्र विशेष है। इसके आगे यह दाने स्वाद-कोश के हैं। शेष भाग रस आदि का ज्ञान कराता है।

३. नेत्रेन्द्रिय—चक्षु—नील हरिताभ वर्ण ताल में स्थित पीत विन्दु पर बाह्यदृश्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। हरित वर्ण की लघु अण्डाकृति की पुतली है, जिसके मध्य में उससे भी लघु आकृति का तारा या कनीनिका है।

४. स्पर्शेन्द्रिय—त्वचा—इसमें बाहर की ओर निकली हुई दो श्वेत ग्रन्थि (रोम कूप) हैं तथा भीतर की ओर गुलाबी रंग लिए हुए स्पर्श ज्ञान कराने वाली ग्रन्थियाँ हैं।

६. श्रवणेन्द्रिय—कर्ण—यह बाहर सीप के समान दीखने वाला भाग कर्ण शष्कुली है। मध्यकर्ण और आन्तरिक कर्ण शंखास्थि से सम्बद्ध हैं।



चित्र संख्या ४
स्थूल ज्ञानन्द्रियों का प्रत्यक्षीकरण

के पास जाकर मिल गए हैं। **पहलाकार्य**-नथुनों में लगी लोमश-छलनी से छनकर श्वाश आगे कंठ से होता हुआ स्वर-यन्त्र और टेंटुए के मार्ग से फुफ्फुसों में चला जाता है—यह 'श्वास-मार्ग' है और निःश्वास कथित मार्ग से बाहर आ जाता है। नासिका का यह एक कार्य है। जुकाम में नाक के आन्तरिक श्लेष्मिक भाग में प्रदाह होकर झिल्ली की ग्रन्थियाँ फूल कर श्वास को रोकती हैं। नाक की भीतरी रक्त-केशिकाओं पर आघात पहुँचने से निकल आने वाले रक्त को 'नकसीर' कहते हैं। **दूसरा कार्य**—गन्ध का अनुभव करना। प्रत्येक नासागुहा या नथूनों के अन्दर मस्तिष्क की ओर ऊपर जाकर १।। इंच वर्गफल वाले पीले से प्रदेश का कार्य 'गन्ध-ज्ञान' करना है। नाक के अन्य किसी प्रदेश में गन्धज्ञान नहीं होता। इस 'गन्ध-प्रदेश' से अनेकशः रोम-समान निकले हुए सूक्ष्म साम्वेदनिक-सूत्रों द्वारा 'गन्ध' का ग्रहण होता है। जब द्रव्यों के अणु गन्ध-ग्राहक सूत्रों से टकराते हैं तभी गन्धज्ञान होता है। यह ज्ञान मस्तिष्कगत 'घ्राण-केन्द्र' में जाकर हमें प्रतीत होता है। गन्ध-बोधन की प्रक्रिया का प्रकार बड़ा लम्बा है। घ्राण-नाड़ियाँ, जो दाएं-बाएं २०-२० हैं, घ्राण-प्रदेश से नासागुहा की छत में से होकर झर्झरास्थि के छिद्रों में घुसती हुई कपाल में घ्राण-केन्द्र में जा घुसी हैं और यहीं पर इनका अन्त हो जाता है। घ्राणपिन्ड से निकले नूतन सूत्रों द्वारा आगे 'घ्राण-पथ' बना है जिसका अन्त घ्राण केन्द्र में होता है—जो कि एक लम्बा मार्ग है। शेष नासिका-प्रदेश हें स्पर्श, पीड़ा, शीतोष्ण की सामान्य प्रतीति की भी शक्ति है।

(ख) जिह्वा—रसना वा स्वादेन्द्रिय—सब खाद्य—पेय पदार्थों के स्वाद की प्रतीति जीभि से ही होती है; वाणी-द्वारा भाव-अभिव्यक्ति का परम-साधन भी जीभ ही है। जीभ भोजन को भली-भाँति चबाने और निगले में सहायता का, दाँतों में फंसी वस्तु को निकालने का और भोजन के तापमान को जानने-जनाने का कार्य भी करती है। स्वस्थ दशा में जिह्वाग्र-भाग 'फुंग' पतला, नोकीला, मूल में मोटा चपटा और गुलाबी-रंग का होता है। अस्वस्थ-दशा में इसका रंग फीका-सा, अपच के कारण भूरा-सा पड़ जाता है और यह फटी-सी प्रतीत होती है।

रचना—जीभ मांस से बनी, श्लैष्मिक-कला से ढकी, और कई मांस-पेशियों द्वारा कण्ठास्थि तथा हन्वस्थि से जुड़ी हुई है। जिस मांस से यह जीभ बनी है उस मांस के संकोच-प्रसार से यह छोटी-बड़ी, पतली, लम्बी-चौड़ी हो जाती है। जीभ पर पड़े कई आकृति के दाने 'स्वाद-कोष' तथा स्वाद-कोषों के मुख हैं। जिह्वाग्र, जिह्वामूल तथा जीभ के किनारों पर स्थित 'स्वाद-कोश' ही स्वाद को विशेष-रूप से पहचानते हैं। शेष भाग स्पर्शता-द्योतक है। सरस पदार्थों का स्वाद घुली दशा में ठीक प्रकार से ज्ञात हो सकता है, जैसे मिश्री जब मुख में घुलती है तब उसके अणु, रसज्ञ-कोष्ठकों के सूत्रों से टकराते हैं। स्पर्शजन्य प्रभाव कोष्ठकों पर पड़ता है। इसकी सूचना नाड़ी सूत्रों-द्वारा मस्तिष्कगत 'स्वाद-केन्द्र' को जा पहुँचती है, और हमें मीठे-खट्टे आदि रसों का ज्ञान हो जाता है।

अम्ल-खट्टा, तिक्त—चरपरा, मधुर—मीठा, ये तीन रस मुख्य माने गए हैं। इन में से विशेषतः—मधुर-रस 'फूंग' से; अम्ल जीभ के किनारों से; और तिक्त-

चरचरा, जिह्वामूल से भले प्रकार प्रतीत होते हैं। शेष, लवण—खारी, कटु, कसैले रस जीभ के प्रत्येक भाग से कुछ-कुछ ज्ञात हो जाते हैं।

(ग) नेत्रेन्द्रिय—चक्षु—संसार का आधे से अधिक कार्य-व्यवहार नेत्रों से होता है। विश्वकर्मा भगवान् ने भी इन्हें अति-सुरक्षित स्थान में रक्खा है। 'भ्रू' के दाएं-बाएं दोनों अक्षिगोलकों के अक्षिपक्ष्म (पलकों) सहित सुरक्षित स्थान में नेत्र स्थित हैं। भ्रू तो माथे से आने वाले स्वेद को और पक्ष्म छोटे-मोटे कीट-पतङ्गों को आंख में पड़ने से रोकते हैं।

नेत्रों की रचना—इनकी रचना भी विशेष प्रकार की है। साधारण रूप से ऐसा कह सकते हैं कि संसार के प्रत्येक पदार्थ की प्रतिच्छाया, अदृश्यरूप से हमारे नेत्र-गोलकों में से घुसकर मस्किष्क के पिछले भीतरी-भाग में लगे दर्पणवत् पर्दे पर पड़ती है। उस प्रतिबिम्ब का ज्ञान मस्तिष्क की नाड़ियों द्वारा हमें होता है। विचित्रता यह है कि वस्तु का प्रतिबिम्ब उलटा पड़ कर हमें सीधा दीखता है। २० फुट वा इससे अधिक दूरस्थ-पदार्थों को देखने से दृष्टि पर कुछ दबाव नहीं पड़ता, किन्तु २० फुट के अन्दर निकटस्थ-पदार्थों को देखने के लिए नेत्र-ताल को निरन्तर घटना-बढ़ना पड़ता है, अतः दृष्टि पर विशेष बल पड़ता है।

नेत्रों के साथी—पलकें वा पक्ष्म, नेत्रच्छद, एवं अश्रु-ग्रन्थियाँ भी नेत्रों के साथ जुड़ी हैं। विशेषता यह है कि हमारी ऊपरी पलक ही झपका करती हैं—निचली नहीं। दोनों पलकों के संगम कोण को 'अपाङ्ग' वा 'कोया' कहते हैं।

अश्रु—नासिका के समीप वाले अपाङ्ग में पलकों के सम्मुखी किनारों पर दो लघु-से उभार हैं इन उभारों में विद्यमान छिद्रों-द्वारा ही 'अश्रु' नाक में चले जाते हैं। आश्रवी-ग्रन्थियाँ बादाम के समानाकृति की नेत्रगुहा की छत में कनपटियों की ओर के गढ़ों में होती हैं। इन्हीं में 'अश्रु' बनते हैं, जो 'रुदन' आदि के समय नाक से भी बहने लगते हैं।

नेत्र का वर्णन—१. कनीनिका, पुतली—जो भूरे से वर्ण की श्वेत-भाग के मध्य में स्थित है। २. तारा, कनीनिका-मध्य में स्थित गोल-बिन्दु-सदृश कृष्ण भाग है। यह फैलती और संकुचित होती दिखाई देती है, परन्तु वास्तव में प्रसार और संकोच ये दोनों धर्म कनीनिका या पुतली के हैं, जो स्थिति-स्थापक पेशी से बनी होती है। ३. हरे रंग का ताल है, यह दोनों ओर की पेशियां की बन्धनी से अधर में स्थित रहता है। ४. बृहत्-कोष्ठ, इसमें 'नेत्र-द्रव' भरा रहता है। ५. पीत-बिन्दु, इस स्थान पर वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह नेत्र-नाड़ी के जाल से निर्मित है।

(घ) त्वगिन्द्रिय—त्वचा— इसमें ऊपर से लेकर नीचे तक क्रमशः—उपचर्म, त्वग्-ग्रन्थियाँ, चर्म, रोमकूप स्वेदजग्रन्थियाँ होती हैं। ये सब ज्ञानसूत्र तथा गतिसूत्रों से व्याप्त एवं एक दूसरे के साथ गुंथे हुए हैं। इन्हीं दोनों प्रकार के सूत्रों के द्वारा समस्त साम्वेदनिक-ज्ञान अन्दर से बाहर आता और बाहर से अन्दर को जाता है। **त्वचा के कार्य**—१. देह के भीतर-बाहर त्वचा फैली हुई है। त्वचा से देह की कोमल वस्तुएं—मांस आदि सुरक्षित बनी हुई हैं। त्वचा रोग-कीटाणुओं को देह में घुसने से रोकती

है। २. यह स्पर्शेन्द्रिय भी है जिससे शीत-उष्ण, कोमल-कठोर, दबाव आदि का परिज्ञान होता है। ३. त्वचागत रोम-कूपों से स्वेद द्वारा विषैले पदार्थ देह से बाहर निकल जाते हैं। अतः त्वचा रक्त-शोधक भी है। ४. सूक्ष्म-सा श्वसन-प्रश्वसन कार्य भी त्वचा से होता रहता है। फेफड़ों-द्वारा बहिष्कृत मलिन-वायु का $\frac{1}{180}$ से $\frac{1}{200}$ वाँ भाग त्वचा से भी निकल जाता है। ५. देह का ताप-मान स्थिर रखती है अर्थात् शीत में ताप को रोक लेती और गर्मी में बाहर फेंकती रहती है। त्वचा की रोमावलि भी ताप को सुरक्षित रखती है। जैसे भेड़, बकरी आदि पशुओं के रोम, तथा रोमों से बने ऊनी-वस्त्र देखो त्वचा का चित्र ४।

(ङ) **श्रवणेन्द्रिय—कर्ण**—शब्द सुनने का साधन श्रोत्र है। बाहर दीखने वाला भाग—१. बाह्यकर्ण-शष्कुली है, जो सीपी के समान दीखती है। २. मध्य कर्ण; ३. आन्तरिक कर्ण; ये दोनों भाग 'शंखास्थि' के मध्य में हैं। जो भाग कर्ण शष्कुली के मध्य में अन्दर को नलिकावत् घुसता है वह 'कर्णांजलि' है। इसी नलिका से शब्द अन्दर घुसता है। यह नलिका थोड़ी दूर जाकर अन्दर को मुड़ गई है और शंखास्थि में जा घुसी है। कर्णदर्शक-यन्त्र से देखने पर इस नलिका के अन्त में दीखने वाला धूसर-श्वेत, चमकीला-सा पर्दा—'कर्णपट्ट' वा 'कर्ण-ढोल' है। कान कुरेदने वा कनपटी पर विशेष आघात पहुँचने से यह पर्दा फट जाया करता है—तथा कभी पीप भी बहने लगता है। इसी ढोल में एक और गढ़ा भी है, इसे 'पट्टनाभि' कहते हैं। मध्य-कर्ण में—तीन छोटी-छोटी-सी अस्थियां—'मुदगर' 'नेहाई' और 'रकाब' नाम की हैं, जो परस्पर नाड़ी-सूत्रों से बंधी हैं। आन्तरिक वा अन्तःस्थ-कर्ण की रचना अति गहन है। इसके भी तीन भाग हैं :—१. मुड़ी हुई अर्द्धचन्द्राकार तीन नलियाँ, २. बीच की कुटी, ३. कोकला। ये तीनों ही शंखास्थि के अन्दर एक खोखले स्थान में स्थित हैं। यह साधारणज्ञान है।

शब्द—यह एक 'कम्पन-समूह' है; ये कम्पन, आकाशस्थ 'मातरिश्वा' रजः प्रधान वायु की तरंगों को (एक के पीछे दूसरी तरंगों को धकेलने से) उत्कम्पित करते हुए कर्ण के अन्दर तक पहुँचाते हैं और तब शब्द की प्रतीति होती है। शब्द तरगें ऐसे ही चलती हैं जैसे सरोवर में फेंके पत्थर से उत्पन्न तरंगें किनारों तक प्रथम दूसरी को, दूसरी तीसरी को इस रीति से अन्य—अन्य को धकेलकर पहुँचा देती हैं। इस क्रम से शब्द ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता, त्यों-त्यों धीमा पड़ता जाता है।

शब्द-कम्पन—वायवीय, द्रवीय, तथा ठोस पार्थिव, इद तीनों प्रकार के माध्यमों में से होकर ये कम्पन जा सकते हैं, क्योंकि आकाश सर्वत्र व्यापक है, और शब्द आकाश का गुण है। साधारणतया शब्दोत्कम्पन वायु-भरे आकाश में से होकर ही आते-जाते हैं। शब्द—वायु, जलादि-तरल, पृथिव्यादि ठोस माध्यमों में से क्रमशः द्रुत, द्रुततर, द्रुततम गति से जाता है; एक सेकिण्ड में इसकी ८६००० मील साधारण गति है।

शब्द-श्रवण—कर्ण-शष्कुलीय शब्द उत्कम्पनों को ग्रहण और एकत्रित करके आगे हमारी 'कर्णांजलि-नलिका' की वायु में कम्पन उत्पन्न करते हुए इस नलिका के अन्त में लगी 'कर्णपट्टनाभि' से जा टकराते हैं, और 'पट्ट नाभि' उत्कम्पित हो उठती

है। 'कर्णपट्ट' के हिलने से 'मध्यकर्ण' की तीनों ही अस्थियाँ काँपती हैं। इनकी गति परम्परा से 'कर्ण-कुटीर' में रहने वाला 'द्रव' काँपने लगता है। इस से 'लोमश कोष्ठकों पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है जिसकी सूचना 'कर्णान्तर-द्वार' से निकली अष्ठमी-नाड़ी द्वारा मस्तिष्क में पहुँच जाती है। मस्तिष्क के अग्रभाग में स्थित 'ऊर्ध्वशंख चक्राङ्गों में अवस्थित श्रवण-केन्द्र में तो 'कोकला-सूत्र' जाते हैं; किन्तु नलिका तथा थैलियों से बहुत से अन्य सूत्र लघुमस्तिष्क के दूसरी ओर के गोलार्द्ध में पहुँच जाते हैं, शेष वृहद् मस्तिष्क की तीसरी नाड़ी के उत्पत्ति-स्थल से जा मिलते हैं। इस प्रकार हमें शब्द-ज्ञान होता है।

दिशा-ज्ञान—कर्ण-नलिकाओं और ग्रन्थियों में भरा लसीका जैसा 'द्रव' हमारे चलने-फिरने, कूदने-फांदने तथा करवट बदलने आदि क्रियाओं से हिलता है और 'लोमश कोष्ठकों' के रोमों से टकराता है। इस द्रव के दबाव की सूचना लघुमस्तिष्क को नाड़ियों के द्वारा जाती है। इस सूचना से हमें दिशा-ज्ञान, उठने-बैठने, चलने-फिरने, खड़े होने आदि क्रियाओं का ज्ञान होता है।

१०. कर्मेन्द्रियां—ये भी ५ हैं। गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर और वाणी। इन में से हाथ, पैर, गुदा को सब जानते हैं। वाणी का वास जीभ में है। संसार का अत्यधिक कार्य व्यवहार 'वाक्' ही करती है। मधुर, प्रिय, सत्य-भाषण तो वाणी का भूषण है, और कटु, अप्रिय, असत्य-भाषण इसका उग्र-दूषण है। वाणी अपने गुण से अमृत की ओर दूषण से अग्निसम कष्टों की वर्षा करती है।

उपस्थ—नर-नारियों में ये गुह्य अङ्ग भिन्न प्रकार के होते हैं। इन्हें जननेन्द्रियाँ भी कहते हैं। जननेन्द्रियों से आगे जैवी-जगत् का प्रवाह चलता है। पुरुष जननेन्द्रिय—उपस्थ वा शिश्न के द्वारा मूत्र तथा सन्तति-उत्पादक शुक्र यथासमय निकलता है। उपस्थ की जड़ में लटकते अन्ड-कोषों में 'शुक्र' बनता है और वस्तिगह्वर में स्थित मूत्राशय के पिछले भाग में लगी दो थैलियों अर्थात् शुक्राशयों' में संचित होता रहता है। शुक्रस्रोत 'प्रोस्टेट-ग्रन्थि' के भीतर से जाकर मूत्रमार्ग में खुलता है। वृद्धावस्था में छोटे अखरोट के समान यह प्रोस्टेट-ग्रन्थि जब बढ़ जाती है तो मूत्र त्यागने में अति कष्ट होता है। शुक्राशय के पीछे सटा हुआ मलाशय है। यह शुक्र तो देह का सारभूत अंश, जीवन-स्थापक, परमावश्यक तत्त्व है' अतः इसे व्यर्थ नहीं फेंकना चाहिये। एक बार के मैथुन से ६ से १२ माशे तक शुक्र का क्षय हो जाता है। अतः अति मैथुन से जीवन भी शीघ्र समाप्त हो जाता है। २५ वर्ष की आयु तक तो स्वप्न में भी शुक्र को क्षरित नहीं होने देना चाहिए अन्यथा यह आतमघात करना ही है।

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवः मृत्यमपाध्नत'

(अर्थ वेद० का० ११। सू० ५। म० १९)

अर्थात् ब्रह्मचर्य धारण कर के 'मृत्यु' को जीत कर 'ब्रह्म' को पाया जा सकता है।

२५०-२०

गर्भस्थिति से २८X१०=२८० दिनों वा २७० वा २६० दिनों में बालक का जन्म हो जाता है। अतः गर्भाधान हो जाने पर पुरुष को रति-सम्बन्ध त्याग देना चाहिए जब तक कि बालक वा बालिका का जन्म न हो जाए। अन्यथा गर्भ स्थिति काल में मैथुन करने से सन्तान कदापि सदाचारी, जितेन्द्रिय नहीं हो सकेगी, तथा माता-पिता के काम-जन्य संस्कार बालक-बालिकाओं के शरीरों में ओत-प्रोत हो जाएंगे। अतः गर्भस्थिति हो जाने पर जितेन्द्रिय रह कर ब्रह्मचर्यव्रत पालन करें।

आत्मा का 'रथ' तथा 'देवपुरी'—भगवत ज्ञान होने से 'श्रुति' स्वतः प्रमाण है और विश्व-प्रसृत इस लौकिक-पारलौकिक ज्ञान-विज्ञान के प्रदाता आदि गुरु वे ईश ही हैं। योग कहता है—

'पूर्वेषामपि गुरु : कालेनानवच्छेदात्'

(योग० पा० १ । सू० २६)

अर्थात् काल से अविभाज्य वह ईश पूर्वजों का भी गुरु एवं 'आदिगुरु' है। उस ईश को शंकर कहो वा विष्णु, हिरण्यगर्भ कहो वा विराट् पुरुष, यह समस्त ज्ञान-विज्ञान उसी परमदेव ने प्रदान किया है, और वही विज्ञान परम्परागत चला आ रहा है। ये उपनिषद् भी उसी विज्ञान के अंश हैं, इनमें अध्यात्म विज्ञान ही है। इन का कथन है।

आत्मनं रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु,

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् आत्मेन्द्रिय-मनो-युक्तं

भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः

(कठ०, व० ३, छन्द ३-४।)

यहाँ पर आचार्य 'यम' ने इस मानव देह को कैसे सुन्दर रूप में मोक्षधाम तक ले जाने वाला 'रथ' दर्शाया है। इस देहरूपी रथ में रथ का स्वामी 'आत्मा' बैठा है। इन्द्रियों के घोड़े इस रथ में जुते हुए हैं। 'मन' की लगाम को पकड़ कर 'बुद्धिरूपी' सारथि इस रथ को चला रहा है। और इन्द्रियों के घोड़े विषयरूप 'गोचर-भूमि' में चर-चर कर अपना जीवन धारण करते हैं। इस प्रकार विज्ञजन, 'मन' 'बुद्धि' 'इन्द्रियों' से युक्त 'आत्मा' को 'भोक्ता' कहते हैं।

इसी मानव-देह को भगवती श्रुति ने—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

तस्यां हिरण्यय कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः

(अथर्व० १०-२-३१)

एक देवपुरी बताया है, जिसमें ८ चक्र और ९ द्वार हैं। इस अयोध्या नामक देवपुरी में एक सुनहरा कोश है जिस में अनेक ज्योतिर्मय-मण्डल हैं। उन मण्डलों के

मध्य में 'आत्मनिधि' सुरक्षित रख दी गई है। अब जब यह 'जीवात्मा-रूप' देवता अपनी ज्ञान-ज्योति के साथ प्राण, मन, बुद्धि और इन्द्रियादि सेवकों को साथ लेकर सृष्टीश्वर की आज्ञा से इस देवनगरी में प्रतिष्ठित होता है, तब यह संसार से 'अयोध्या' बन जाती है अजेय हो जाती है। जहाँ जीवात्मा के परम-रक्षक पिता महेश्वर साथ में विराजमान हों, उस देवपुरी अयोध्या को 'जय' करने वाला कौन सी माया होगी ? इसी अजय्या नगरी में आप का भी निवास है।

अन्नमयकोश में प्रवेश—आइए साधकवृन्द ! अब इस देवपुरी के अन्ननिर्मित भाग में ध्यान-दृष्टि के द्वारा अन्दर प्रवेश करें और इसका आन्तरिक रूप देखें। इस अयोध्यानगरी-मानवदेह के विषय में पिछले पृष्ठों में जो इतना कुछ वर्णन कर आए हैं वह स्थूल वर्णन अन्तःप्रवेशार्थ ही है। उन अङ्ग-प्रत्यङ्गों में छिपी विधाता की सूक्ष्म-दिव्य-रचना तथा रचना-क्रम का दर्शन कीजिए—देखिए :

खाद्य (चबाकर खाने वाला), पेय (पीने वाला), लेह्य (जीभ से चाटने वाला), चोष्य (होंट से चूसने वाला) पदार्थ पचन के द्वारा क्रम से परिणाम-भाव को प्राप्त होकर अर्थात् रस रुधिर मांस मेदा मज्जा अस्थि वीर्य बनकर और बनने के उपरान्त यह वीर्य और रज जीवन के सर्वश्रेष्ठ आधार सात्विक भाग होते हैं। इनमें पञ्च भूत भी सात्विक रूप से वर्तमान रहते हैं। यही मिल कर शरीर का उपादान कारण बनते हैं। इनमें 'शुक्र' और 'रज' के संयोग से मातृ-गर्भ में मांस का एक अति लघु पिन्ड-सा बनता है। उसी समय 'जीवात्मा' इस कलल में सीधा ही प्रविष्ट हो जाता है। यह आवश्यक नहीं कि 'जीव' मेघ-जलों के साथ पृथ्वी पर आए, पृथ्वी से अन्न में जाए, तदनन्तर एक कृमि के रूप से शुक्र में निवास करता हुआ शुक्र-शोणित के मिलने के समय ही प्रकट हो।

जीवात्मा तो शरीर में किसी भी भाग से आने-जाने की सामर्थ्य रखता है—यदि केवल आना-जाना मात्र ही हो। किन्तु नूतनदेह धारण की प्राकृतिक-प्रक्रिया के अनुसार वह २४-२५ तत्त्वों से बनी सेवक-मन्डली से वेष्टित हुआ गर्भ में प्रविष्ट होता है; इसमें प्रकृति, महान्, अहंकार, पंचतन्मात्राएं—ये ८ प्रकृतियाँ; ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ भूत, १ मन, ये १६ विकाररूप २४ तत्त्व होते हैं। किन्तु हम तो 'महान्' के दो विभाग—'चित्त' तथा 'बुद्धि' मानते हैं। इसलिए ये सब २५ तत्त्व बन जाते हैं।

गर्भ का रूप धारण करते ही इस सब संघात का रूप एक छोटे-से 'अण्ड-पिण्ड' के रूप में परिणत हो जाता है। तब ये सब तत्त्व उक्त अण्डे के रूप में संगठित दीखते हैं, एवं जीव इन सब के मध्य में रहता है। गर्भगत कलल में प्रविष्ट होते ही यह अपनी चेतना के बल से अपनी क्रिया को चित्तादि के द्वारा प्रसारित करके—पंच-महाभूतों के सात्त्विक अंशों का आकर्षण करके 'भ्रूण' के रूप में बढ़ने लगता है; किन्तु 'भ्रूण' के प्रवृद्ध होते समय जीवात्मा के साथ विद्यमान 'कारण' और 'सूक्ष्म-शरीर' भी बढ़ते हैं—ये दोनों शरीर, सूक्ष्म तथा दिव्य ज्योतियों के रूप में 'शक्तिमात्र' हैं। जैसे, एक गुफा में रखा दीपक गुफा-मात्र को प्रकाशित करता है, वही प्रदीप

21.. — 32

बड़े कमरे में रख देने पर समस्त कमरे को प्रकाशित कर देता है, ऐसे ही उक्त दोनों शरीरों की रश्मियाँ, भ्रूण-वृद्धि के साथ-साथ विस्तृत होती जाती हैं।

मैथुन-निर्मित इस कलल में 'जीव' यदि प्रविष्ट न हो तो भ्रूण बनता ही नहीं, और गर्भस्थित होकर जब कर्म-विपाकवश गर्भपात हो जाता है तब 'जीवात्मा' भी निकल जाता है। चेतन के संयोग के बिना जड़तत्त्व अपना कोई भी कार्य नहीं कर सकते, यह सिद्धान्त है। यह चेतन-भ्रूण मातृ-देह के रक्त में मिले पंचभौतिक-सात्त्विक-अंशों का आकर्षण करता हुआ बढ़ता जाता है। इस वृद्धि के साथ-साथ वे सूक्ष्म-शरीरों की ज्योतियां भी फैलती जाती हैं क्योंकि 'कारण शरीर' तथा 'सूक्ष्मशरीर' ये दोनों संकोच-विकास-शील 'मध्यम-परिमाणी' होने से, 'जीवात्मा' के साथ प्रत्येक देह में जाकर तदाकार हो जाते हैं। जैसे मशक (मच्छर) के देह में सिकुड़ कर और हस्ति के देह में जाकर उस विशाल देह को आक्रान्त करके तद्वत् कार्य करने लगते हैं। इसी प्रकार भ्रूण-रूप 'अन्नमयकोश' बढ़ता चलता है।

अन्नमयकोश की वृद्धि—अन्नमयकोश, पंचमहाभूतों के सात्त्विक अंशों से बनता और बढ़ता है; अर्थात् पृथवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के सात्त्विक परमाणुओं को गर्भगत जीव माता के रुधिर से खींच लेता है, और निरन्तर खींचता चला जाता है जब तक कि गर्भ से बाहर नहीं आ जाता। किन्तु बाहर आकर शिशु दुग्धपान ही करता है; अन्य स्थूल-आहार की अपेक्षा 'दुग्ध' सात्त्विक आहार माना गया है; किन्तु सृष्टि के सब पदार्थ जो आहार वा पेय के रूप में हैं अथवा उष्ण किंवा वायु के रूप में हैं—सभी, पंचमहाभूतों में निहित 'त्रिगुण' के प्रभाव से प्रभावित हैं। जब बालक अन्न-पानादि का स्थूल आहार करने लगता है तभी से त्रिगुणों की वृद्धि भी झलकने लगती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सात्त्विक, मित-आहारी व्यक्ति प्रायः आलस्य- प्रमाद रहित, स्फूर्तिमय, स्वल्प निद्रा वाले, कुशाग्र-बुद्धि देखे जाते हैं। यदि वे भी, जब कभी मात्रा से अधिक आहार करलें तो तमः-ग्रस्त होकर निद्रा, आलस्य, प्रमाद के वशीभूत हो जाते हैं। इस प्रकार त्रिगुणात्मक-पांचभौतिक आहार में जो 'गुण' प्रधान होता है वह अपना प्रभाव अन्नमयकोश में प्रकट कर देता है और स्थूल-शरीर वैसा ही—तद्गुण-प्रधान बन जाता है; किन्तु ये पदार्थ भी देह में जाकर सर्व प्रथम, रस-रक्त के रजौगुणी रूपों में परिणत होते हैं, फिर आहार का तामसिक-स्थूलभाग मल, मूत्र, स्वेद, प्रश्वास आदि के रूपों में बाहर निकल जाता है; और रस-रक्त का सात्त्विक-भाग शुक्र, तेज ओजादि के रूपों में परिणत होता है। उस से यह अन्नमयकोश बढ़ता और पुष्टि पाता है। इन सात्त्विक अंशों की जितनी अधिक मात्रा होगी, देह उतना ही अधिक सात्त्विक होगा।

अन्य संस्थान—अन्नमयकोश में इन 'प्राणमय' 'मनोमय' आदि कोशों के अतिरिक्त अन्य—पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायवीय, आकाशीय ये पंचसंस्थान भी हैं। ये संस्थान ही अपने-अपने कोशों का भरण-पोषण करते हैं। जैसे, पार्थिव-संस्थान के परमाणु अस्थि आदि का; जलीय-संस्थान के परमाणु रुधिर आदि का; आग्नेय-संस्थान के परमाणु जठर का; वायवीय सस्थान के परमाणु श्वसन-क्रिया का पालन-पोषण और

आकाशीय-संस्थान के परमाणु मिल कर इन सब कोशों का अवधारण करते हैं।

मूल सिद्धान्त—सदा सूक्ष्म तत्त्व ही स्थूल पदार्थों में व्याप्त होकर स्थूल को धारण करता है। इसी नियम के अनुसार—ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थो को पंचमहाभूतों ने; चारों भूतों को अकाश ने; आकाश सहित चारों भूतों को पंचतन्मात्राओं ने—पंच-तन्मात्रा समूह को अहंकार ने—अहं को महान् ने; त्रिगुणात्मक महत् को प्रकृति ने और त्रिगुण की साम्यावस्था रूप अलिंग प्रकृति को सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'ब्रह्म' ने धारण किया हुआ है। इसी भाँति प्रत्येक स्थूल देह अपने आन्तरिक सूक्ष्म शरीरों वा कोशों पर आश्रित है।

अन्नमयकोश की स्थिरता—अन्नमय कोश स्थूल आहार के अभाव में कुछ मास तक, एव जलाहार के बिना कुछ दिनों तक, श्वास प्रश्वास के बिना कतिपय मिनटों तक तथा आकशीय-आहार के बिना कुछ सेकिण्ड ही जीवित रह सकता है। यदि लोहे के खोल मैं किसी प्राणी को बन्द कर दिया जाय तो तुरन्त ही मर जाएगा, क्योंकि आकाश-तत्त्व ओर वायु का आहार उसे नहीं मिला। ऐसे ही हाथ-पैर आदि सहित शरीर के शीतल हो जाने पर आग्नेय-तत्त्व के आहार की न्यूनता भी देह के लिए घातक होती है। इस भाँति पूर्वोक्त प्रकार से ये 'पंचभूत' अन्नमयकोश के भीतर-बाहर आते-जाते रहते हैं। अन्नमयकोश इनके द्वारा भी पुष्टि तथा जीवन पाता रहता है; और 'जीव' के स्थूल-भोग एवं शान्तिधाम मोक्ष को सिद्ध करता है।

अन्नमयकोय के कार्य—जीवात्मा का कर्म-विपाक तीन प्रकार से है जति, आयु और भोग रूप से जाग्रत-अवस्था में—प्रत्यक्ष देखने में आता है; जाग्रत् में क्रिया-शील रजोगुण, और सत्त्वगुण तमोगुण को दवाकर भोगानुप्रवृत्त करता है, और स्थूल-भोग खान-पान आदि भी मधुर, लवणादि रसों की अनुभूति—रसना से; वाणी व्यव-हार जीभ से, कोमल-कठोर स्पर्शानुभूति त्वचा से; दर्शन नेत्रों से; श्रवण श्रोत्रों से; सूंघना नाक से; गमनागमन पैरों से; आदान-प्रदान हाथों से; मलत्याग गुदा से; तथा मूत्र-शुक्र त्याग एवं प्रजनन और मैथुन-जन्य सुखानुभूति उपस्थ से होती है। इस प्रकार समस्त स्थूल व्यापार रूप 'भोग', जो सुख-दुःखात्मक है, दशों इन्द्रियों द्वारा यह अन्न-मयकोश ही सम्पादित करता है। जरा, व्याधि आदि विकार इसी में उत्पन्न होते हैं, जन्म-मरण भी इसी का होता है, यह जीवात्मा के एक जन्म का साथी है तथा 'प्राणमय' आदि शेष चारों कोशों का धारक भी है। कर्मों के स्थूल फलों को परिसमाप्ति भी यही करता है। इस सघन आवरण से यह 'पुरुष' परिच्छिन्न, तापत्रय से युक्त, जरा-व्याधि, जन्म-मरण धर्मा, पाप-पुन्यशील, कर्त्ता, भोक्ता आदि स्वभाव वाला प्रतीत होता है। अन्नमयकोश से युक्त जीवात्मा की संज्ञा 'विश्व' कही जाती है; इस अन्नमयकोश में दशों इन्द्रियों के गोलक, पांच प्राण, पाँच उपप्राण और दश चक्रों के स्थूल अंश भी हैं। पार्थिवतत्त्व 'प्रधान' होने से यह 'कोश' सघन एवं मूर्तियुक्त और कठोर है; इस पर योग-प्रोक्त आसन-प्राणायाम इत्यादि के द्वारा इस का विज्ञान प्राप्त हो जाता है।

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'

(योग० पा २। सू० ५५।)

प्राणायाम से सत्त्व गुण रूप प्रकाश का क्लेशरूप आवरण नष्ट हो जाता है।

'धारणासु च योग्यता मनसः'

(योग० पा० २। सू० ५३।)

धारणा में मन स्थिर हो जाता है।

२. **स्वप्नावस्था में**—स्थूलदेह जब बाह्य व्यापारों से श्रान्त हो जाता है तब जाग्रत की सत्त्व, रजः प्रधान अवस्था शान्त होकर तमोगुण का प्राधान्य 'निद्रा' के रूप में प्रकट होता है। तब हमारा 'अन्नमयकोश' क्रियाहीन एक यन्त्र के समान निश्चेष्ट हो जाता है। निद्रा में यदि कुछ रजोगुण बढ़ जाए तो स्वप्न आने लगते हैं; और थोड़ी-सी मात्रा में बचे रजोगुण से भोजन का परिपाक, रक्त-संचार, आदि सूक्ष्म आन्तरिक कार्य फिर भी होते रहते हैं। इन स्वप्नों में प्राप्त होने वाला सुख-दुःख आदि दूसरे प्रकार का कर्मविपाक हैं—भोग है।

३. **सुषुप्ति अवस्था में**—तीसरे प्रकार का कर्मविपाक होता है। सुषुप्ति से उठने के पश्चात् 'सुखमहम-स्वाप्सम्'—मैं सुखपूर्वक सोया; 'क्लान्तं में चित्तम्' मेरा चित्त ग्लानिमय है; इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था की सुख दुःख की अनुभूति का अनुमान सबको होता है।

इस सधन 'अन्नमयकोश' में हमें आत्म-साक्षात्कार कहां हो सकता है, 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' कैसे और कहाँ हो सकता है? अब इसी विज्ञान को जानना है। इसके लिए महर्षि पतंजलि निर्दिष्ट समाधियों की साधना ही प्रत्येक को अनिवार्य रूप से करनी होती है। उनका पूर्वरूप नीचे देते हैं :—

साधना विधि—अष्टाङ्ग योग के प्रथम चारों अङ्गों (देखो पृ० १५) के अनुष्ठान से 'अन्नमयकोश' को तपःपूत तथा 'मन' को धारणा में प्रवीण बनाने के लिए श्रद्धा और उत्साह से निरन्तर अभ्यासरत रहें। अब नित्य के अभ्यस्त आसन से शान्त, एकान्त में बैठकर, संकल्प-विकल्पों का अभाव करते हुए थोड़े समय के लिए भी जब मन निश्चल-सा दीख पड़े तब 'उन्मनी-मुद्रा' द्वारा नेत्र मूँद कर भृकुटि-मध्य में ध्यान-दृष्टि के द्वारा मन को स्थिर कर दें। यहाँ पर अपनी कल्पना से प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें—मानो कि आप इस स्थान को अन्दर नेत्र खोलकर देख रहे हों, किन्तु इस समय किसी विचार को सिर न उठाने दें। मस्तिष्क पर अधिक बल भी न डालें। दो दो-चार मिनट यहां पर सहज भाव से देखते रहें, फिर शान्तभाव से बैठे रहें; क्योंकि निरन्तर एकटक ध्यान की दृष्टि से देखते रहने से मस्तिष्क भी थक जाता है और अनभ्यस्त मन भी उचट जाता है। परन्तु कुछ देर तक सब मानसिक-व्यापार रोक कर निश्चल बैठ जाने पर 'मन' 'बुद्धि' की शक्ति बढ़ जाती है। इसी क्रम से कुछ समय ध्यान करते रहने के पश्चात् आपकी भावना से और संकल्प बल से यहां भ्रू-मध्य में अवश्य प्रकाश उत्पन्न होने लगेगा। भले ही पहले अतिमध्यम और धुँधला-सा और छोटा-सा

ही प्रकाश हो। प्रकाश का शीघ्र वा देर में उत्पन्न होना अपनी लगन और तन्मयता-पूर्वक अभ्यास पर बहुत-कुछ निर्भर है। शीघ्रता वा उतावलापन व्यर्थ है; और उस प्रकाश का रूप—दीपशिखा जैसा, एवं टिमटिमाते जुगनू, धूप, बल्ब, आदि जैसा❀ भी हो सकता है। अब जैसा प्रकाश दीखे उसे ही स्थिर रखने का प्रयत्न कीजिये। ज्यों-ज्यों स्थिरता आती जाएगी यह प्रकाश अधिकाधिक स्वच्छ होता जाएगा और अधिकार पूर्वक ठहरने लगेगा। इस पर अधिकार प्राप्त करके, साधक स्वेच्छा से इसे जहां-तहां ले जाकर पदार्थों को देख-भाल सकता है। इस ज्योति को 'दिव्यनेत्र' वा 'सूक्ष्म चक्षु' भी कहते हैं। क्योंकि यही प्रत्येक साधक को स्थूल सूक्ष्म-अतीन्द्रिय पदार्थों के साक्षात् कराने में समर्थ होता है। यद्यपि अभीप्सा या लगन और अभ्यास से यह 'दिव्यज्योति' प्रत्येक अभ्यासी को प्रकट हो सकती है, किन्तु बिना किसी पथ-प्रदर्शक आचार्य के साधक को यह ज्ञान नहीं हो पाता कि यह ज्योति क्या है? ओर इससे क्या कार्य, किस प्रकार से लेना चाहिए; इस लिए किसी आप्त-गुरु के सत्संग की परम-आवश्यकता पड़ती है।

पूर्वदृष्ट भ्रूमध्य में दीखने वाली यह ज्योति यद्यपि अन्दर सदा ही विद्यमान रहती है, परन्तु ध्यान-योग के अनुष्ठान के बिना साधारण मनुष्यों को यह नहीं दीख पड़ती; यह मानव-सूक्ष्म-शरीर का 'दिव्यनेत्र' है। इसी के द्वारा अब ध्यानस्थ होकर आप अपनी अयोध्या नगरी का सब आन्तरिक रूप देख सकते हैं एवं आन्तरिक विज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसी 'सूक्ष्म नेत्र' के द्वारा प्रत्येक 'सूक्ष्म शरीर' सदा 'सूक्ष्म-पदार्थों' को देखा करता है। जब इस पर अधिकार हो जाता है तब अभ्यासी हस्तगत 'टार्च' के समान इस 'दिव्यदृष्टि' के द्वारा समस्त 'अतीन्द्रिय-दर्शन' तथा 'विज्ञान' प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाता है। अनेक भ्रान्त अभ्यासी इसी को 'मन' समझ बैठते हैं परन्तु 'मन' तो इसका प्रेरक है, अतः इससे भिन्न वस्तु है। 'मन' 'बुद्धि' आदि का वर्णन आगे होगा; उन सब का साक्षात्कार भी इसी 'दिव्यनेत्र' के द्वारा होगा। इस समय तो—आत्म-तत्त्व के ऊपर पड़े स्थूलतम आवरण 'अन्नमयकोश' के आन्तरिक रूप के यथार्थ दर्शन के लिए आप इस ज्योति को लेकर इस में प्रविष्ट हो जाएँ और इस अयोध्या नगरी को इसी 'दिव्य दृष्टि' से देखें; तब उस विश्वकर्मा की रचना-चातुरी आपको चकित कर देगी।

न जाने कब, किन्तु अनुमानतः, 'अष्टाचक्रा' श्रुति-वचन के ही आधार पर पातंजल-योगसूत्रों के पश्चात् अर्वाचीन-योगियों ने मानव के 'अन्नमयकोश' में निस्सन्देह ऐसे मार्मिक-स्थलों का ध्यान-योग के द्वारा अनुसन्धान किया जो आन्तरिक-विज्ञान प्राप्ति में बड़े सहायक हैं; और उन मर्मस्थलों पर विशेष प्रभावोत्पादक

❀१—देखो—नीहार धूमार्कानलानिलानां खद्योत-विद्युत्-स्फटिक-शशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।

श्वेताश्वतरोपनिषद अ० २। मं०११।

अर्थ—धुंध, धूआं, धूप, आग, झखड़, जुगनू, बिजली, कांच, चन्द्र जैसे रूप योग में आरम्भ में सामने आते हैं। यहीं ब्रह्माभिव्यक्ति तक पहुंचाते हैं।

साधन—अनेक प्राणायाम, आसन और मुद्राओं का भी आविष्कार किया। इन साधनों का अनुष्ठान यदि ज्ञान पूर्वक किया जाए तो उन मर्मस्थलो पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि 'ध्यान-योग' का मार्ग सरल बन जाता है। योग की इस अर्वाचीन पद्धति का नाम 'हठ-योग' न पड़ता यदि इस के अनुयायी इन साधनों को विशेष हठ-पूर्वक न करते, पर इस में हठ करना ही पड़ता है। उन मर्मस्थलों का वर्णन निम्न प्रकार है :—

चक्र-वर्णन—मेरुदण्ड में स्थित 'सुषुम्न-काण्ड' में कुछ एक विशेष स्थानों से ज्ञानवाहक तथा गतिवाहक-सूत्रों का पुञ्ज निकल कर समस्तदेह को ज्ञान तथा क्रिया रूपी जीवनी-शक्ति से उज्जीवित किए हुए है। हठ योग में इन्हीं स्थानों का नाम 'चक्र' रख दिया गया है। अब यह हठयोग का 'परिभाषिक' नाम हो गया है। जब इन नाड़ी-गुच्छकों में ध्यान की वैद्युत-धारा प्रवाहित होती है तब ध्यानज-रश्मियों से ये भास्वर हो कर एक विशेष आकार-प्रकार के चक्र-से भासते हैं। इन के रूपों का ज्ञान कराने के लिए 'चित्रित' करते समय अर्वाचीनों ने सुन्दर दर्शाने के लिए कल्पना का कुछ समावेश करके सब को 'कमलकार' दिखा दिया है। इन के प्रकाशित-रूप के दर्शन-मात्र का कुछ विशेष फल तब तक नहीं होता जब तक कि इन स्थानों में—प्राण की गतियों को, प्राणों की यथार्थ-रूप से बनी स्थिति को, प्राणों के व्यापार से उत्पन्न रंग-रूप-क्रिया को, एवं इन चक्रों में विद्यमान पंचमहाभूत—पंचतन्मात्राओं और इन्द्रियों के व्यापारों का साक्षात्, यथार्थ-विज्ञान, मुमुक्षु को प्राप्त नहीं हो जाता। इसलिए प्रत्येक साधक को इन सब तथ्यों का विज्ञान प्राप्त करने का विशेष-प्रयत्न करना चाहिए।

चक्रों के मूल-केन्द्र—कहां हैं, यह दर्शाते हैं। प्रत्येक चक्र का ,मूल' तथा 'शक्ति-केन्द्र' उस सुषुम्ना-कांड में है, मेरुदण्ड वा ब्रह्म-दण्ड में स्थित है—यह ध्यान-दृष्टि से देखा गया है। किन्तु चक्रों का प्रत्यक्ष दीखने वाला स्वरूप, मेरुदण्ड के बाहर-निकले ज्ञानसूत्रों के गुच्छकों में, सम्मुख भासता है; ठीक ऐसे ही जैसे कि दर्पण की दूरी के अनुसार वस्तु का प्रतिबिम्ब दूर वा समीप दीखता है। साधक-योगियों को भी—ये चक्र तथा सुषुम्नागत वज्रा-चित्रा आदि सूक्ष्मतम-नाड़ियां भी योगज-दृष्टि-द्वारा ही प्रत्यक्ष होती हैं। और चक्रों के ये नाम, ज्ञानवाहक तथा गतिवाहक सूत्रों से बनी नाड़ियों के हैं। प्रत्येक प्राथमिक-साधक को ये चक्र बड़े स्थूल से, सदा ही एक-से न दीखने वाले विभिन्न आकार-प्रकार के दीखा करते हैं। किन्तु धारणा और ध्यान की दृढ़ता के साथ-साथ ये अधिकाधिक स्पष्ट एवं स्वाभाविक-दशा में, सूक्ष्मताओं सहित दीखने लगते हैं। फिर भी यहाँ की सूक्ष्मगति-विधियाँ तथा अन्य सूक्ष्म-विज्ञान तो 'संयम-जय' की अवस्था प्राप्त होने पर ही पूर्णतया तथा निश्चयात्मक-रूप से प्राप्त विज्ञान द्वारा हो सकते हैं। यहां पर इन चक्रों के विषय में जो कुछ साक्षात् किया गया है उसका ही वर्णन होगा; अन्य-ग्रन्थों का लेख जो अनुभव में नहीं आया है उसका उसी रूप में संकेत भर कर दिया है।

इस विज्ञान का प्रयोजन—प्रकृति की रची इस अपूर्व-महिमा को देख कर, चक्रों में उपयोगी विज्ञान को समझ कर, इस अन्नमयकोश में बनी आसक्ति को त्याग कर, आत्म-साक्षात्कार करके बन्धन-मुक्त हो जाना ही इस विज्ञान का

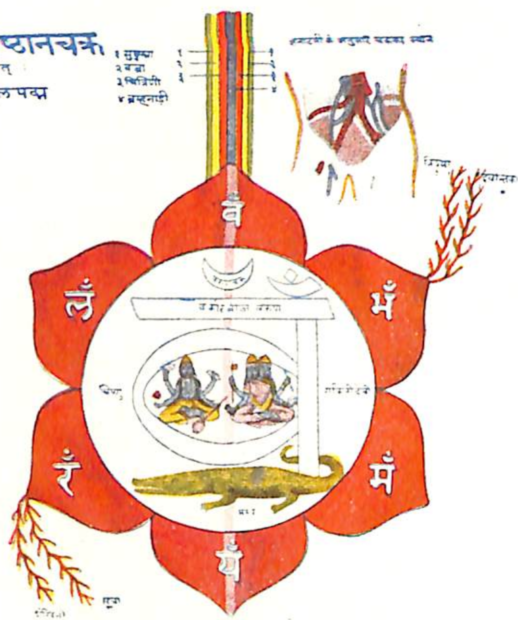
प्रयोजन है।

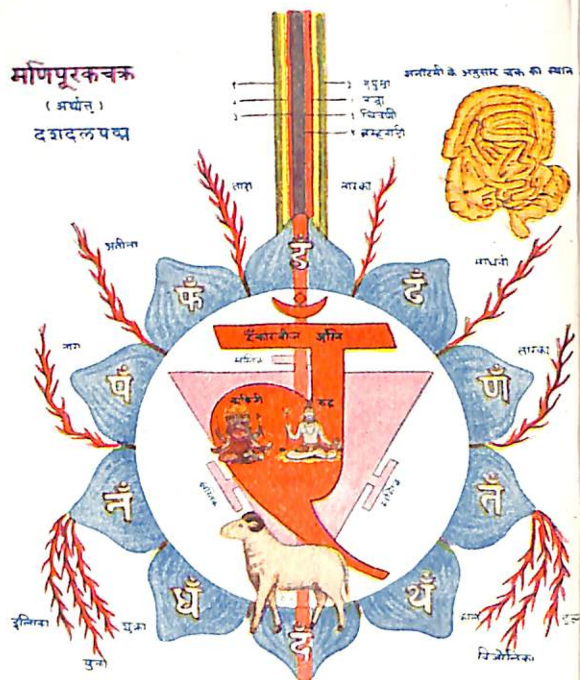
कुण्डलिनी-वर्णन—प्रायः समस्त योगी-समाज ही कुण्डलिनी का अस्तित्व स्वीकार करता है, और इसके जागरण से समस्त-विज्ञान की क्रमिक-प्राप्ति में विश्वास रखता है।

अर्वाचीनों की मान्यता—हठयोग-प्रतिपादक-ग्रन्थ तथा तन्त्रों के आधार पर इस का निवास-स्थान आधारचक्र (मूलाधार) को ही माना है। यहां पर योनि स्थान में एक त्रिकोण-आत्मक 'अग्नि-कोण' भी है। इस त्रिकोण योनि-मन्डल के मध्यगत 'ब्रह्म-नाड़ी' के मुख में एक तेजोमय स्वयम्भू-लिङ्ग (पिन्ड) है। तथा ऊपर से-सहस्रार में स्थित 'शिव-लोक' में पहुँचने की प्रतीक्षा में यह 'आद्याशक्ति' इस पिण्ड पर लिपटी सर्पाकारा ३॥ वलय-युक्ता प्रसुप्त-दशा में शंखाकारा प्रतीत होती है। इस त्रिकोण का सम्बन्ध सुषुम्ना से है, और सुषुम्ना के मध्य में 'वज्रा', एवं वज्रा के मध्य में 'चित्रणी' और इस चित्रा के मध्यगत 'ब्रह्म-नाड़ी' का आवास माना जाता है। ये तीनों नाड़ियाँ 'शब्द-ब्रह्म' की प्रतीक हैं ऐसा विश्वास किया जाता है, क्योंकि जागरित होने पर यह कुण्डलिनी ऊर्ध्वगा हो कर, इन तोनों नाड़ियों को स्पर्श करती हुई चलती है। कोई तो चित्रा को ही 'ब्रह्म-नाड़ी' कहते, कोई दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानते हैं। 'ब्रह्म-द्वार' इसी नाड़ी का निचला-सिरा ही है जो इस समय अवरुद्ध है। कुण्ड-लिनी के महत्त्वपूर्ण जागरण पर साधक की साधना बिना प्रयास ही आगे बढ़ती जाती है, ऐसी श्रद्धा भी लोग रखते हैं। किन्तु गुरु के शक्ति-पात' वा 'शक्ति-प्रयोग' के बिना इसके जागरण को सम्भव नहीं माना गया है। ऐसी मान्यताएं अर्वाचीन योगा-चार्यों की हैं, जिन्हें अति-संक्षेप में दे दिया गया है। (देखो चित्र सं० ५)

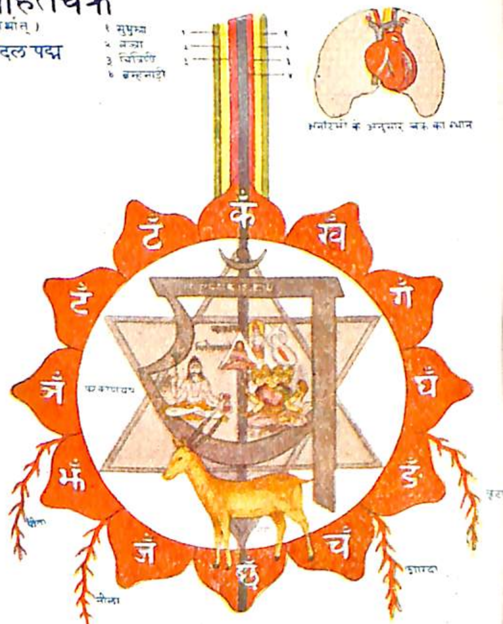
राजयोग की दृष्टि से और अपनी अनुभूति के आधार पर—तो कुण्डलिनी के विषय में ऐसा कहना उचित है कि, मूलाधार में स्थित 'अपानप्राण' के साथ मनो-बल के द्वारा जब 'ब्रह्मरन्ध्र' का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तब दोनों के संयोग से 'सुषुम्ना-दण्ड' में उत्पन्न होने वाला प्रकाश ही 'कुण्डलिनी' है; क्योंकि जिस समय यह प्रकाश अपने पूर्ण-रूप में प्रकट होता है उस समय तो 'सुषुम्ना-पथ-सहित' शरीर के विभिन्न भागों को भी अपनी दीप्ति से, यथावत्-रूप में दर्शाता हुआ फिर 'ब्रह्मरन्ध्र' में जा पहुँचता है; तथा ऐसी ही मान्यता 'कुण्डलिनी जागरण' से सम्बन्धित ग्रन्थों में भी पाई जाती है। किन्तु—'पर 'यह आद्या 'ब्राह्मी-शक्ति' का स्वरूप है', यदि इसे ऐसा मान भी लिया जाए तो सृष्टि-उत्पत्ति के क्रमिक-प्रकरण में किसी दार्शनिक-ग्रन्थ में इसकी उत्पत्ति का वर्णन नहीं मिलता, और सर्वमान्य 'पातंजल-योग' जैसे प्रसिद्ध-ग्रन्थ में, तथा इस पर लिखे भाष्यों और टीका टिप्पणियों में कहीं भी तो इसकी इस स्थिति का निर्देश नहीं मिलता। यद्यपि 'कुण्ड-लिनी तथा 'चक्र' आदि के नाम भाष्य आदि में देखने में आए हैं। अन्य अनेक आलं-कारिक वर्णनों के समान, कुन्डलिनी की महत्ता-सूचक ही वे कथन हैं। हमारे दिये चित्र सं २ से सुषुम्ना की सब स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

सुषुम्ना का 'शिर' तो लघुमस्तिष्क के सामने ही कुछ ऊपर की ओर है और वहाँ से प्रारम्भ होकर यह सुषुम्ना, पृष्ठवंश में से होती हुई, नीचे पुच्छास्थि से संयुक्त









चित्र संख्या ५ (अ)—तांत्रिक ग्रन्थों में कथित सुषुम्ना नाडी में चक्रों का दर्शन

आज्ञाचक्र

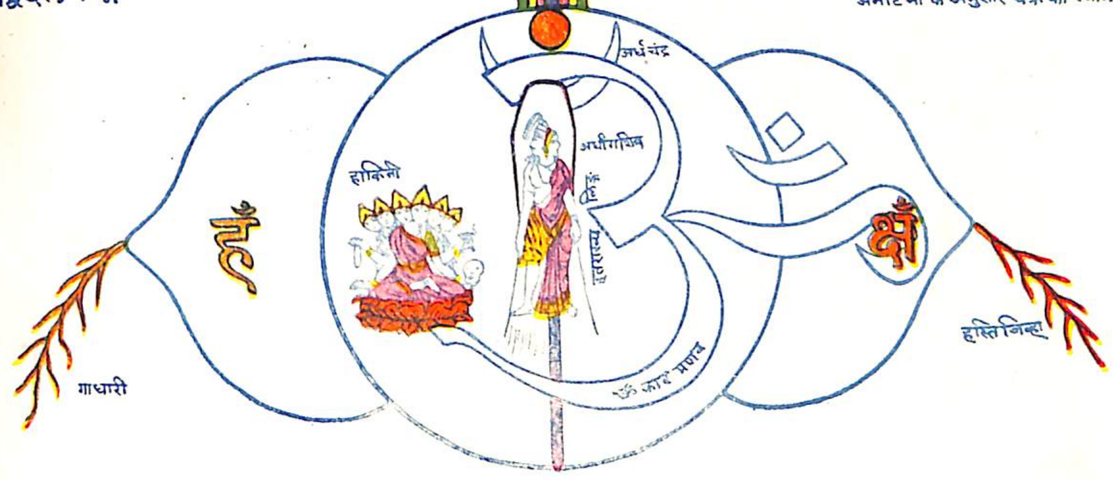
(अर्थात्)

द्विदलपद्म

१ सुषुम्ना
२ वज्रा
३ चित्रिणी
४ ब्रम्हनाडी

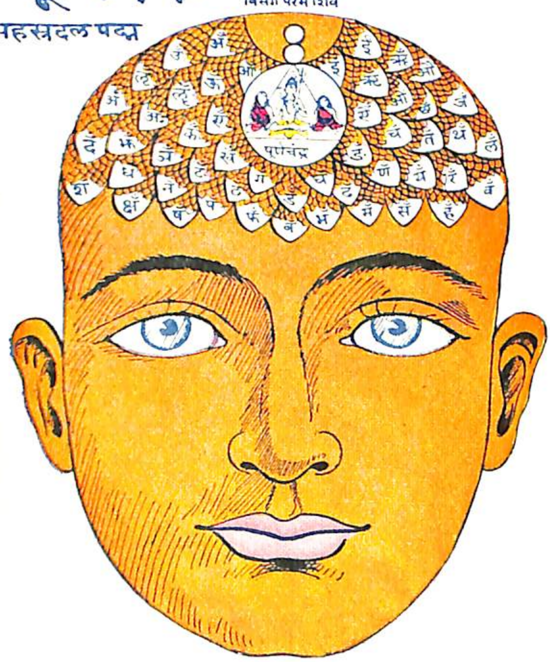


अनाटमी के अनुसार चक्र का स्थान



शून्यचक्र

सहस्रदलपद्म



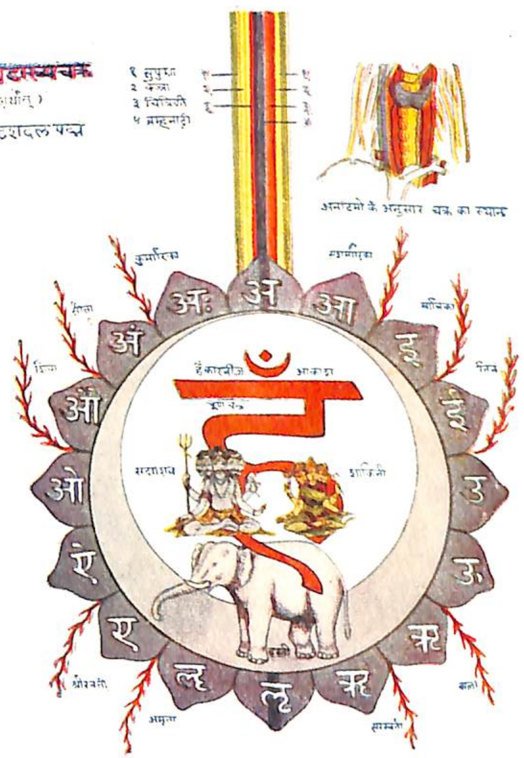
विशुद्धचक्र

(अर्थात्)

षोडशदलपद्म



अनाटमी के अनुसार चक्र का स्थान



चित्र संख्या ५ (आ)—तांत्रिक ग्रन्थों में कथित सुषुम्ना नाडी में चक्रों का दर्शन

हो गई है; और एक रबड़ की नलिका के समान अन्दर से पोली है । ऊपर से लेकर नीचे तक एक दृष्टि से देखने पर यह आकार एक 'सर्प' से मिलता-जुलता है; सम्भवतः इसी कारण इस में स्थित अन्य कई भास्वर-नाड़ियों के दीखने पर, उस अतिसूक्ष्म नाड़ी-समूह को 'कुन्डलिनी' का आलंकारिक नाम दे दिया गया हो। अब सुषुम्ना के दाएँ-पार्श्वगत नाड़ी को 'दक्षिण-नाड़ी', 'सूर्य-नाड़ी' 'पिंगला' 'यमुना भी कहते हैं; और वाम-भागा नाड़ी 'इड़ा' है, जिसे 'वाम-नाड़ी' 'चन्द्र-नाड़ी' एवं 'गङ्गा भी कहते हैं। सुषुम्ना को सरस्वती भी कहते हैं। ये तीनों नाड़ियां मूलाधार से प्रारम्भ होकर, मेरुदण्ड के मध्य में से होती हुईं सुषुम्ना, और कशेरुकाओं के पार्श्ववर्ती दाईं-ओर के छिद्र से पिंगला और बाईं-ओर के छिद्र से इड़ा ऊपर को चली गई हैं और भ्रू मध्य के अन्दर जाकर तीनों मिल गई हैं। इन के संगम स्थल को 'मुक्तत्रिवेणी' भी कहते हैं। अब आलंकारिक-भाषा में ऐसा कहा जा सकता है कि यह सब चक्र-सुषुम्ना के साथ लगे ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे गुलाब की लतिका में गुलाब की मुकुलित कलियां लगी हों, अथवा कमल-नाल में लगी कमल-कलिकाएँ झूल रही हों। ये कुन्डलिनी-जागरण रूप-रविरश्मियों के संसपर्श से खिल उठती हैं। यह सत्य है कि 'ब्रह्म-नाड़ी', जिसे कुन्डलिनी कह लो, विद्युन्मयी सूक्ष्मतमा-नाड़ी की ज्योति से ये चक्र ऐसे हीं भासते हैं जैसे विभिन्न-रत्नों की कणिकाएँ किसी स्वर्णमयी जगमगाती तार में टंकी हों।

कुण्डलिनी और इसका जागरण—कुण्डलिनी क्या वस्तु है ? इसे वैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार समझिये कि—हमारे पृष्ठवंश के निम्नतमस्थान—'पुच्छास्थि' से ऊपरी-अस्थि और 'त्रिकास्थि' की निचली-अस्क्षि के संयोग पर वंश-मूल (बाँस की जड़) के समान एक समान एक नाड़ी-गुच्छक है; यही स्थान 'मूलाधार' वा 'अधार-चक्र' का है। स्पष्ट ही मल-मूत्र की नालियों से घिरा होने के कारण देह का सब से निकृष्ट, मलिन, दूषित-स्थान वही है। मूलाधार-चक्र का आकार-प्रकार, स्थिति तथा अन्य ज्ञातव्य-बातें 'चित्र' सं० ६ से स्पष्ट हो जाती हैं—देखें। इस नाड़ी-गुच्छक के मध्य में एक अति छोटे 'लाटू' वा काले-से अँगूर के समान, त्रिकोणाकार-उभार है। इस स्थान में इधर-उधर से आकर अनेक ज्ञानतन्तु तथा गतिवाहक-सूत्र मिलते हैं। इस कारण यह स्थान एक त्रिकोण-मण्डल के समान दीखता है। इस त्रिकोण के एक कोण सं० (१) से इड़ा, (२) से पिंगला, (३) से सुषुम्ना निकलकर पूर्व कथित प्रकार से मेरुदन्ड के (सामने से देखने पर) बाएँ-दाएँ और मध्य में से जा रही हैं। इस त्रिकोण में बने बिन्दु के स्थान में स्थित, सूक्ष्म-अण्डाकृति एक माँस-पिन्ड से मकड़ी के जाले के तार के समान अति-सूक्ष्म, तथा छोटी-सी नाड़ी लिपटी है; इसी को हठयोग-गण 'कुन्डलिनी' कहते हैं। शेष वज्रा आदि नाड़ियाँ भी साम्वेदनिक सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। इस प्रकार ये सब 'चक्र' स्थूल-देह-गत मकड़ी के सूक्ष्मतन्तुओं के समान महीन ज्ञानवाहक-सूत्रों के गुच्छे ही हैं। जो 'विज्ञानमयकोश' की आभा से सदा भास्वर रहते हैं। किन्तु देह के मलाक्रान्त रहने से ये चक्र साधारण अवस्था में नहीं दीखते; तभी योग दर्शन में कहा है—

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्,'

(योग० पा० २ । सू० ५२ ।)

अर्थात् प्रकाश को रोकने वाले तमोगुण के नष्ठ हो जाने पर यह आन्तरिक सर्वदर्शन सम्भव हो जाता है ।

प्रकाश पाकर ही ये चक्र 'भावना' के कारण कमलाकार दीखते हैं अन्यथा तमसावृत्त रहने से इनका अस्तित्व नहीं मिलता । कभी-कभी ऐसा भी अनुभव होता है कि सुषुम्ना में यत्र-तत्र पड़ी कुछ गाँठें-सी हैं जो प्राण के विशेष-वेग से खुलती जाती हैं और ध्यान वा संकल्पबल से प्रकाशित हो रही हैं; जैसे रबड़ की पोली-नलिका में पड़ी गाठें प्रबल जल-वेग से खुल जायें ।

कुन्डलिनी विषयक अन्य विचार—(१) हमारे प्राणों में व्याप्त 'धन-विद्युत' का जब देह की 'ऋण-विद्युत्' के साथ 'मानसिक-शक्ति' के द्वारा सम्मिश्रण होता है तब उत्पन्न होने वाला वह दिव्य प्रकाश, जो आन्तरिक-अनुभूतियां कराता हैं—'कुन्डलिनी' है । (२) मूलाधार में स्थित 'अपान-प्राण' के साथ मनोबल-द्वारा जब प्राण का संयोग होता है, तब यहाँ मूलाधार में प्रकट होने वाले 'दिव्यप्रकाश' को 'कुन्डलिनी' कह दिया गया है । (३) 'अपान' को अधर-अरणि और प्राण को उत्तर-अरणि मानकर संकल्प-बल से जब मथा जाता है तब प्रकाश प्रकट होता है; यही प्रकाश-रूपा 'कुन्डलिनी' है, जिसके जाग्रत होने पर विज्ञानमययज्ञ का आधान हो जाता हैं । (४) कोई इसे कठोपनिषद्-उक्त **'नाचिकेता अग्नि'** मानते हैं, जिसके चयन से प्रकट प्रकाश को पाकर साधक 'नचिकेता' बन जाता है ।

'न तस्त रोगो, न जरा, न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निनमयं शरीरम्'

(श्वेताश्वतर० अ० २ । मं० १२ ।)

इस श्वेनाश्वतर-वचन के अनुसार वह योगी जन्म-मृत्यु के पार हो जाता है । (५) :चैनिक-योग प्रदीपिका' में कुण्डलिनी को 'स्पिरिट-फायर (चैतन्य-ज्योति) अथवा 'चैतन्य-अग्नि' किंवा 'आत्म-ज्वाला' कहा गया है । (६) पाश्चात्य विद्वान् इसे 'सर्प वलयान्विता-अग्नि' कहटे हैं । (७) ऋषिशिष्या 'मैडम ब्लैवटस्की' इसे विश्व-व्यापी विद्युतशक्ति का अंश मानती हैं । उनके मत में कुण्डलिनी शक्ति की ज्योति विश्व-विद्युत् की सजातीय और अत्यन्त प्रदीप्त प्रचन्ड शक्ति है । और यह ज्योति प्रति-सेकिन्ड १८६००० मील चलने वाले प्रकाश की गति से अधिक द्रुतगामिनी ज्योति है जो ३४५००० मील प्रति सेकिन्ड चलती है ।

(८) ध्यानावस्थित साधकों ने मूलाधार पर बारूद की बनी जलती छछूँदर के समान ज्वलन्त दिव्यचक्र को जलते देखा है । जो अग्नि-चक्र के रूप में प्रकट होकर आगे सुषुम्ना में वक्र-गतिसर्पवत् बढ़ता और रंग बदलता जाता है तथा पार्श्ववर्ती-चक्रों तथा पदार्थों को प्रकाशित करता और वहाँ पर होने वाली क्रियाओं को दर्शाता सहस्रार तक चला जाता है । (९) नादानुसन्धान-पद्धति के उपासक नाभि-प्रदेश में 'परा' नामक उत्पन्न होने वाले विस्फोट-नाद को ही कुन्डलिनी मानते हैं; और नाद

से ही प्रकाश भी उत्पन्न हो जाता है ऐसी उनकी ग्रास्था है ।

इस प्रकार कुन्डलिनी-विषयक ये कुछ 'मत' दे दिए हैं; किन्तु यह निर्विवाद-तथ्य है कि यह एक अपूर्व-दिव्यज्योति है जिसकी सहायता से देह के ग्रान्तरिक रहस्य-मय सूक्ष्म पदार्थ एवं बाह्य स्थूल तथा सूक्ष्म-जगत् के पदार्थ भी प्रत्यक्ष रूप से दर्शन के विषय बन जाते हैं ,

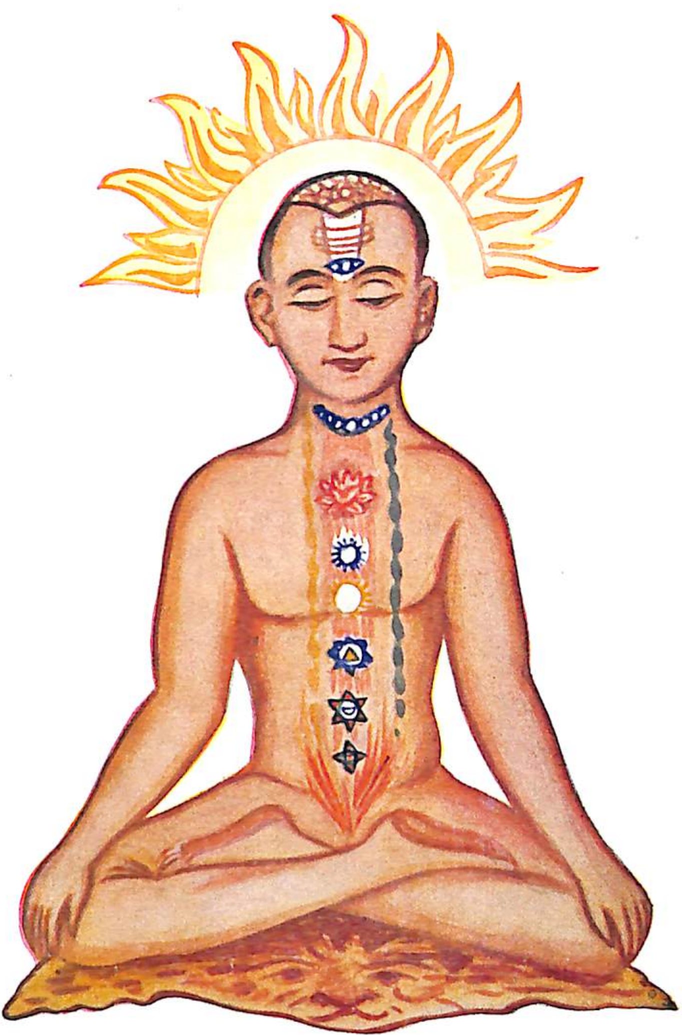
चक्रों पर प्रकाश न मिलने का कारण—एक बार ध्यानस्थ-दशा में ऐसा देखा गया कि साधकों को चक्रों पर प्रकाश नहीं मिलता । उन चक्रों पर केवल कुछ गति-सी वा प्राण की सरसरहाट-सी ही प्रतीत होती है; ऐसा क्यों होता है, साधक को इसका कारण समझ में नहीं ग्राता । तब ध्यानावस्था में यह रहस्य खुल गया ग्रौर देखा कि जैसे—धूमाक्रान्त चिमनी से लैम्प का प्रकाश ढक जाता है ऐसे ही तमस्-ग्राक्रान्त देह में भी प्राणों की ग्रस्पष्ट-सी क्रिया का भान तो ग्रान्तरिक त्वचागत स्पर्श के कारण प्रतीत होता रहता है, किन्तु ग्रन्धकार की छाई हुई चादर के कारण दीखता कुछ भी नहीं । सम्वेदनों की प्रतीति वा ग्रनुभूति त्वचा के कारण हो जाती है, एवं कोशों को पार करते हुए पता लग जाता है कि यदि 'ग्रानन्दमयकोश' ही तम से ग्रभिभूत हो जाए तो ग्रन्य कोशों की ज्योतियां या तो मन्द पड़ जाती हैं या बन्द हो जाती हैं—जैसे निद्रा में होता है ।किन्तु ध्यान की दृष्टि से मेरुदण्ड में देखने में ग्राता है मकड़ी के जाले के समान पतला-सा तार, मेघों में चमकती तड़ित्-रेखा के समान सम्मुख ही चमक रहा है (यहाँ पर यह तथ्य भी ज्ञातव्य है कि वस्तु का यथार्थ-दर्शन वा साक्षात्कार उसी दशा में होता है जब साधक को ग्रपनी देह का, तथा दिशा, देश, काल का भान नहीं रहता; चाहे ध्येय-पदार्थ प्रत्यक्ष दीखता है, यद्यपि वह ग्रागे-पीछे, ऊपर-नीचे कहीं भी हो ग्रौर उसमें ग्रनेक स्थानों पर कुछ वक्रता है, ग्रौर उन ६-७वक्र-स्थानों पर विभिन्न रंगों की मणियाँ वा हीरे-से दमक रहे हैं; ग्रौर ऊपर के सिरे—शिखर पर भी चमचमाते से कुछ बिन्दुक हैं । पश्चात् एक विस्तृत,सी दृष्टि डालने पर इसका रहस्य ग्रवगत हुग्रा कि—यह तड़ित्-रेखा-सी तो सुषम्नागत 'ब्रह्मनाड़ी' है जो सुषुम्ना नलिका में स्थितचक्रों के 'बीज' सूक्ष्म केन्द्रों को भी मणियों के समान प्रदीप्त बना रही है—इसे ही कुण्ड-लिनी कह दिया जाता है । इसके शिखर पर दमकते बिन्दुक-से 'इन्द्रियों' के चिह्न हैं, जिन के साथ सुषुम्ना सम्बद्ध है। यह चित्र संख्या ९ से स्पष्ट हो जाता है; ग्रौर सुषुम्नागत कुण्डलिनी वा ब्राह्मी, चित्रा ग्रादि साम्वेदनिक नाड़ियों की जो शक्ति-ज्ञान क्रिया वाहक 'प्राण' ग्रादि तत्त्वों के घर हैं; साधकों को इन का यथार्थ रूप तब तक नहीं भासता जब तक प्राण तमः ग्राक्रान्त है । हमारे दूषित खान-पान तथा काम-क्रोद्धादिक विकारों के प्रभाव से मलिन प्राण, उन नाड़ियों के चतुर्दिक बंधा है—लिपटा है । ग्रतः मलिन-प्राण का चढ़ा ग्रावरण, इन सूक्ष्म नाड़ियों का दर्शन तथा ग्रन्य सूक्ष्मताग्रों का परिज्ञान नहीं होने देता, साम्वेदनिक भानमात्र हो जाता है । ग्रागे तपश्चरण से 'प्राणमयकोश' जितना शुद्ध ग्रौर सात्त्विक होता जाता है, मल-विमुक्त प्राण भी उतना पारदर्शी बनता जाता है। तब ये सभी चक्र जो प्राणों की क्रीड़ास्थली में हैं, ग्रति स्पष्ट भासते है मानो कमल-से खिल जाते हैं। इस भाँति कई एक साधकों ने सुषुम्ना का स्वरूप, ज्योतिर्मय मोटे से दण्ड के समान ग्रौर सुषुम्ना-

गत कुन्डलिनी वा 'ब्रह्मनाड़ी' को सर्प के समान आकृति का देखा है; क्योंकि ये दिव्य सूक्ष्म ज्योतियाँ, स्थूल देह के संयोग से बृहद् स्थूल आकार में भासती हैं, अन्यथा इन के दर्शन दुर्लभ हो जाएँ।

सूक्ष्म का स्थूल दर्शन—प्रत्येक ज्योतिर्मय पदार्थ स्थूल के संयोग से स्थूल भासने लगता है, जैसे पंचतन्मात्राओं के सूक्ष्म परमाणु पंच महाभूतों के संयोग में आकार 'सर्व-दृश्य' सब के दर्शनों में आने के योग्य बन गये हैं; और हमारे 'कारण-शरीर' और सूक्ष्मशरीर' भी स्थूल इन्द्रियों से अदर्शनीय होकर स्थूल देह के संयोग से ही स्थूलरूप में दीखते हैं; किंच सूक्ष्मतम 'आत्मा' का स्वरूप भी तो 'चित्त' के संयोग से दर्शन पथ में आता है। ऐसे ही ये सूक्ष्म दिव्यज्योतियों तथा सूक्ष्म पदार्थ जब स्थूल आधार को पाकर दर्शन के योग्य बनते हैं तभी इनका विज्ञान हो पाता है। हाँ, जैसे सूक्ष्म कीटाणुओं को देखने के लिए 'सूक्ष्मदर्शक' बन गए हैं, इसी भाँति भगवती-प्रकृति ने भी इन सूक्ष्म-तत्त्वों के यथावत् दर्शन और विज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रत्येक अमृतपुत्र को एक-एक 'दिव्यनेत्र' प्रदान कर दिया है, जिसकी सहायता से प्रत्येक नर-नारी आन्तरिक गुप्त रहस्यमय पदार्थों का दर्शन तथा विज्ञान ध्यानस्थ हो कर प्राप्त कर सकता है।

कुण्डलिनी तथा चक्रों के विषय में तर्क—इस सब विवाद से छुटकारा पाने के लिए एक सीधा-सा तर्क का मार्ग है जिस में कोई आपत्ति नहीं दीखती और वह यह है कि, जैसे—चेतन 'आत्मतत्त्व' के संयोग से जड़तत्त्व 'चित्त' वा 'अन्तःकरण' चेतन-वत् कार्य करता दीखता है ऐसे ही कुण्डलिनी तथा चक्र हैं जैसे मरने पर स्थूल देह के साथ यह 'स्थूल-प्राण' नष्ट हो जाता हैं और नूतन-जन्म में देह के साथ फिर आ जाता हैं; ऐसे ही कुण्डलिनी और चक्र भी मृत्यु समय प्राणवान् देह के साथ नष्ट और पुनर्जन्म में देहोत्पत्ति पर प्रादुर्भूत हो जाते हैं।

कुण्डलिनी जागरण—क्या है चित्र सं० ६ (अ) में विवरण देखें ? जनसाधारण के तमाक्रान्त देहों में भी 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमय' कोशों की रश्मियाँ निरन्तर ऐसें की कार्य कर रही हैं जैसे कि सत्त्व-बहुल योगियों के देहों में। किन्तु सर्वसाधारण को इनका दर्शन इसलिए होता कि एक तो उन की 'दिव्टदृष्टि' सजग नहीं हुई है। दूसरा कारण यह कि उन्होंने तामसिक भोजन से अपनी देह तथा कुविचारों से अपने अन्तःकरण दूषित बना लिए हैं। 'चक्रोपासना' प्रारम्भ कर देने पर यद्यपि साधकों की देहों में भी कुछ काल के पीछे मन-बुद्धि की ज्योतियों के कार्य कुछ-न-कुछ स्पष्ट होने लगते हैं, किन्तु उन्हें यह ज्ञात नही होता कि ऐसी अनुभूति कौन करता है। परन्तु अभ्यास के साथ-साथ तपश्चरण, स्वाध्याय, और ब्रह्मचर्य व्रतधारी तपःपूत साधकों में जब यह दिव्य-ज्योति ईश्वर-अनुग्रह से प्रकट हो कर अपना कार्य प्रबलना से प्रारम्भ कर देती है तब एक अपूर्व प्रकाशमयी अथवा क्रियामयी अवस्था के प्रकट होने को—कुण्डलिनी जागरण कहा जाता है। यदि इस अवस्था में प्रकाश प्रकट होकर लुप्त हो जाता है तो कुण्डलिनी की यह पूर्ण-जागृति नहीं मानी जाती। पूर्णजागरण तभी कहा जाता है जब यह अपना कार्य साधक में निरन्तर स्थायी-रूप से करने लगे।



चित्र संख्या ६ (अ)
कुण्डलिनी शक्ति का जागरण



चित्र संख्या ६ (आ)
प्राणोत्थान

जागरण के दो रूप—कुण्डलिनी जागरण के वस्तुतः दो रूप हैं; एक तो प्राणोत्थान और दूसरा रूप है प्रकाशमयी अवस्था की उत्पत्ति॥ ।

प्रणोत्थान—की स्थिति यह है कि—जब मानसिक संकल्प अथवा किसी प्रकार की प्राण-साधना से आन्तरिक प्रकाश प्रकट नहीं होता किन्तु 'प्राण' अपना कार्य इन चक्रों में प्रारम्भ कर देता है । अर्थात्, मूलाधार में स्थित 'अपान-प्राण' ध्यान की लगातार ठोकरों से क्षुब्ध होकर यहां की नस-नाड़ियों को मथित करके मूलाधार से लेकर सुषुम्ना-काण्ड के शिखर तक चींटियों के रींगने जैसी गति या कम्पन अथवा बहती उष्ण-वाष्प-सी किंवा उष्ण जल के बहने जैसी क्रिया उत्पन्न कर देता है । कभी यह स्पर्श अतिशीतल भी होता है जिससे समस्त देह अति रोमांचित हो उठती है; इसी का नाम 'प्राणोत्थान' है । विशेष प्राणायामों की साधना से अथवा हठयोग के 'षट्कर्म' करने से जब 'अश्वपुच्छ' की नाड़ियों में व्याप्त श्लेष्मा कीअधिकमा नष्ट हो जाती है, तब तो 'अपान-प्राण' की सरसराहट मूलाधार से लेकर सुषुम्ना-शिखर तक अतिवेग से आती-जाती स्पष्ट प्रतीत होती है । प्राण की इस वेगवती अवस्था में कई बार साधकों के हाथ-पैर बड़े वेग के झटके के साथ उठ जाते हैं, कोई साधक अपने आसन से उछल कर दूर जा गिरता है । कई एक साधक अपना आसन 'धरा' से ऊपर उठा हुआ अनुभव करते हैं; किन्तु वास्तव में उठा हुआ नहीं होता । कई साधकों को घन्टे का महानाद वा चिड़ियों की चीं-चीं; झींगुर की झँकार; मृदङ्गढोल आदि का घोष; वीणा-वंशी आदि की ध्वनियाँ और मेघ-गर्जन का शब्द सुनाई देता है और वर्षों तक लगातार भी सुनाई देता रहता है । निरन्तर अभ्यासरत रहने से, प्राणों के ऊर्ध्वगमन में प्रतिबन्ध के हट जाने से, यह 'प्राणधारा' सीधी सुषुम्ना से बह कर मस्तिष्क में जाने तथा भरने लगती है तब अभ्यास की वृद्धि के अनुपात से तन्द्रा, निद्रा और अन्त में सुषुप्ति जैसी शून्य किन्तु तमोमयी समाधि लगने लगती है; जिसे भोले साधकों को 'योगनिद्रा' कह कर सन्तुष्ट कर दिया जाता है । इस शून्य समाधि से साधक को किसी ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । फलतः 'आत्मदर्शन' और 'परमात्म-दर्शन' से ये साधक तब तक वंचित रहते हैं जब तक अगली प्रकाशमयी तथा विज्ञानमयी समाधि प्रकट होने नहीं लगती । प्राणोत्थान हो जाने पर भी जब तक ये चक्र 'तम-

---

॥ चित्र संख्या ६ (अ) और (आ) का विवरण—यहाँ १० चक्रों का स्वरूप दिखाकर बीच में सुषुम्ना और साथ में ईडा पिंगला नाम की नाड़ियें दिखाई गई हैं । मध्य में लाल वरण की सुषुम्ना नाड़ी है दाईं ओर पिंगला, बाईं ओर इड़ा नाड़ी हैं । मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण दिखाया गया है जो ऊपर को लाल रङ्ग की ज्वालायें सी निकल रही हैं । चित्र (आ) में मूलाधार में नीचे प्राणोत्थान दिखाया गया है जो उर्ध्वगमन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र की ओर लहरों के रूप में जा रहा है । कुण्डलिनी शक्ति उत्पन्न होकर प्रकाश के रूप में सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है अथवा चक्रों को प्रकाशित कर देती है अथवा सुषुम्ना में प्रवेशकर इसे चमका देती है । प्राणोत्थान केवल चींटी की तरह स्पर्श सा करता हुआ जो स्पर्श आनन्द दायक होता है ब्रह्मरन्ध्र में पहुंच जाता है । इसमें प्रकाश नहीं होता है केवल सुखद और आनन्द दायक स्पर्श की अनुभूति हुआ करती है । कुण्डलिनी का प्रकाश अन्दर के शरीर एवं सूक्ष्म पदार्थों को दिखाने में अत्यन्त सहायक होता है ।

सावृत' रहते हैं तब तक न इनका दर्शन होता है और न यहाँ पर निहित प्राणादि की अथवा शक्ति-विशेष की अनुभूति ही होती है। अतएव ऐसा कहा जाता है कि 'कमल बन्द हैं खिले नहीं; किन्तु जब सत्त्वगुण का प्रकाश पाकर ये चक्र दीखते हैं तब यह कहा जाता है कि 'अमुक कमल खिल गया'।

वस्तुतः 'कमल' नाम तथा आकार की कोई वस्तु है ही नहीं, तो खिलेगी क्या ? प्राणोत्थान से मन तथा प्राण की क्रियाओं का इन चक्रों में स्पर्शजन्य अनुभव तो होता है, परन्तु दर्शन कुछ नहीं होता।

२. **कुण्डलिनी जागरण**—कुण्डलिनी जागरण का स्वरूप तो ऐसा है जैसे—सब प्रकार की सज्जा से सुसज्जित कमरे में, जहाँ विद्युत्-तारों के साथ विभिन्न आकृति के रंग-बिरंगे बल्ब, ग्लोब, झाड़फानूस, पंखे आदि लगे हों किन्तु वहाँ अंधकार का राज्य हो तो कुछ भी दिखाई नहीं देता, किन्तु बटन (स्विच) दबते ही वहाँ पर जहाँ-तहाँ लगे प्रकाश के केन्द्रों-द्वारा प्रकाश फैल जाता है, पंखे चलने लगते हैं, जिधर दृष्टि जाती है वहाँ पर रक्खे प्रदार्थ यथावत् दीख पड़ते हैं। ऐसे ही तपस्वी साधक की निष्ठा के साथ भक्तवत्सल भगवान् की प्रेरणा से निःस्वार्थी योगपारंगत आचार्य का स्नेह-स्रोत मिल जाता है तब पूर्वोक्त 'दिव्यज्योति' प्रकट हो कर क्रियाशील हो जाती है। तब मानो देहगत स्विच दबा दिया जाता है इस स्विच के दबते ही सुषुम्नागत—तार पुंज में 'मानस-विद्युत्' के संचार से स्थूलदेह सहित अन्तःशरीर प्रदीप्त हो उठता है और 'चित्त' का सम्बन्ध देहाध्यास से छूट कर, अन्तर्मुख होकर आन्तर-जगत् से आबद्ध हो जाता है—जा जुड़ता है। तब यह 'दिव्यज्योति' सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर इसे प्रदीप्त करती हुई, सौषुम्न-नलिका में प्राण का संचार करती स्थान-स्थान पर मकड़ी के जाले के समान सूक्ष्म-स्नायुजाल से बने चक्रों को फुलाती, अपनी दिव्यता से उन्हें दमकाती, खिलाती, ज्ञान और क्रिया के आवागमन की बाधा को हटाती, वहां की क्रियाओं का यथावत् साक्षात्कार कराती, देह के अस्थिपंजर सहित नस-नाड़ियों को दर्शाती सहस्रार तक चली जाती है। इस अवस्था में तो मूलाधार, हृदय, आज्ञाचक्र तथा लघुमस्तिष्क आदि ६-७ स्थानों से विशेषरूप से सम्बद्ध 'सुषुम्ना' के इन केन्द्रों से टार्च की प्रकाशमयी बद्ध-धारा के समान ही 'ज्योति-धारा' निकला करती है। इस धारा को यदि देह के आन्तरिक किसी भाग से अथवा देह के बाहर 'समष्टि-जगत्' के किसी भाग के साथ भी जोड़ दिया जाए तो वहाँ का समस्त विज्ञान 'करतल-धृत आंवले के समान साक्षात् हो जाता है। इसमें संदेह नहीं है। वस्तुत यह 'सम्प्रज्ञात-समाधि' की ही एक विशेष उच्चतर अवस्था वा भूमिका प्रकट हो जाती है। यदि ऐसी दिव्य-अवस्था प्रकट हो जाए तो साधक को अपने किन्हीं 'अदृष्ट-पुण्यपुञ्ज' का 'सुफल' मिला समझना चाहिए। कुशाग्र-बुद्धि-साधक तो इस अवस्था में ब्रह्मरन्ध्र-गत 'विज्ञान-मय कोश' का तथा हृदयगत 'आनन्दमय कोशवर्त्ती-आत्मविज्ञान' का दिग्-दर्शन कर सकता है निश्चय ही, इस समय सत्वगुण का अधिकार होने से, कांच के बने देह के समान, साधक का देह भीतर-बाहर से जगमगा रहा होता है और इस समय वर्षों का कार्य कुछ घन्टों में हो जाता है, एवं योग का मार्ग अति छोटा और सुगम हो जाता है।

यद्यपि इस विज्ञान में विशेष-प्रगति तथा प्रवीणता प्राप्त करने के लिए लगातार समाधि साधना चलती रहती है। किन्तु शुष्क और कठिन मार्ग से साधक पार निकल जाता है, और इस अपूर्व दिव्य-दर्शन से साधक की जो आनन्दमयी-अवस्था प्रकट होती है वह अकल्पनीय के साथ अवर्णनीय भी है। साधक का अन्तःकरण सत्त्वोद्रेक से इतना भर जाता है कि वह इस समय अपने सर्वस्व को एक तृण के समान गुरुदक्षिणा के रूप में भेंट कर सकता है। भागवत चरणों में अपना शीष काट कर चढ़ा सकता है। यह सात्त्विक-उन्माद 'विशोका' अवस्था को दर्शाता है। हे साधक बन्धुओ ! अब आचार्य 'यम' की इस उक्ति को स्मरण रखते हुए आगे बढ़े चलो !

'न अविरतो दुश्चरितात्, न अशान्तो न असमाहितः ।
न अशान्त मानसो वाऽपि, प्रज्ञानेनैनं आप्नुयात्' ॥

(कठ. व. २ छन्द २४)

अर्थात् यह 'आत्मतत्त्व' उन व्यक्तियों को नहीं मिलता जो—दुश्चरित्र से विरक्त नहीं बने; अशान्त, तर्क-वितर्क-वितण्डाग्रस्त, चंचल-चेता पुरुष 'आत्मदर्शन' नहीं कर सकते; उस 'आत्मतत्त्व' को तो 'प्रज्ञान'—'ऋतम्भरा-प्रजा' द्वारा प्राप्त किया जा सकता है; और यह 'प्रज्ञान' कैसे प्राप्त होता है—**तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्यया आत्मन अन्विष्य**; ऐसा प्रश्नोपनिषद्, प्र० १ छ० १० में ऋषि आदेश करते हैं; इसी का आचरण करते चलो—साधना का फल 'प्रकृति-पुरुष विवेक' के द्वारा प्राप्त 'मोक्ष' तुम्हारे हाथ में होगा।

चक्र-दर्शन—अब आप ध्यान-योग का दिव्य-दीपक लेकर अपनी अयोध्या नगरी में हठयोग-कथित तथा चित्र (संख्या ६) में प्रदर्शित मार्ग से प्रविष्ट होकर चलें। मूलाधार से क्रमशः सहस्रार तक देखते चलिए और स्मरण रखिए कि प्रत्येक चक्र का मूलकेन्द्र सुषुम्ना में है जो—अतिसूक्ष्म-ज्ञानवाहक एवं गतिवाहक-नाड़ी युगल के रूप में, मेरुदण्ड के भीतर रहता है। आगे यह नाड़ी-युगल मेरुदण्ड से बाहर आकर, छोटे नाड़ी-गुच्छक के रूप में बन गया है। उसके भी आगे प्रत्येक स्थान में बड़े-गुच्छे के रूप में परिणत हुआ वह 'चक्र' के रूप में भासता है। तान्त्रिक-चक्रों के चित्रों में प्रदर्शित अक्षर, देवता आदि के विषय में कोई टीका-टिप्पणी न करते हुए हम साधकों की जानकारी मात्र के लिए इनकी तालिका (पृष्ठ ७२) भी दे रहे हैं। इन पर 'ध्यान-दृष्टि' डालकर देख लें कि यहाँ पर क्या क्या भासता है ?

१. **मूलाधार-चक्र**—ध्यानस्थ-दशा में देखने पर, त्रिगुणों से प्रभावित होकर यह चक्र कभी तो जामुनी-से रंग का दीखता है जिस में लालिमा विशेष रूप से झलकती है, और आकार में भी छोटी जामुन के समान; फिर रजोगुण से प्रभावित होकर जामुन पर चतुर्दिक् पीताभसन्तरी रंग का चढ़ा आवरण; और सात्त्विक-दशा में कुछ श्वेतिमा इन रंगों में मिल जाती है। यह '**पृथ्वी-तत्व-प्रधान**' चक्र है। एवं मनुष्य की बड़ी आंतों का ४-५ इंच लम्बा निम्न भाग जो शुण्डाकृति-रूप में बना हुआ है, '**गणेश-चक्र**' कहा जाता है। इसके पीछे पुच्छास्थि के समीप ही मूलाधार-चक्र है **(देखो चित्र** सं० ६ पृ० ७४ में)। पूर्व 'प्राणोत्थान-प्रकरण' (पृष्ठ ६९) में प्रदर्शित प्राणिक-**क्रिया जब**

तान्त्रिक ग्रन्थों में कथित चक्रों की तालिका दे रहे हैं जिस में अक्षर, देवता, रंग, दल, आदि वर्णित है।

नाम चक्र	स्थान	दल	वर्ण	दल-अक्षर	तत्व	तत्वबीज	बीज-वाहन	देवता	लोक	गुण	देव शक्ति	यंत्र	ज्ञानेन्द्रिय	कर्मेन्द्रिय	ध्यान का फल
मूलाधार	गुदा वा योनि	४	रक्त	वं, शं, षं, सं	पृथ्वी	लं	ऐरावत हस्ती	ब्रह्मा	भूः	गन्ध	डाकिनी	चौकोण	नासिका	गुदा	विद्या, आरोग्य प्राप्ति
स्वाधिष्ठान	पेडू	६	सिंदूरी	वं से लं तक	जल	वं	मकर	विष्णु	भुवः	रस	राकिनी	चन्द्राकार अर्द्ध	रसना	शिश्न	काव्य, योग प्राप्ति
मणिपूर	नाभि	१०	नील	डं से फं तक	अग्नि	रं	मेष	वृद्ध रुद्र	स्वः	रूप	लाकिनी	त्रिकोण	नेत्र	चरण	विद्या, सामर्थ्य
अनाहत	हृदय	१२	अरुण	कं से ठं तक	वायु	यं	मृग	ईशान रुद्र	महः	स्पर्श	काकिनी	षट्कोण	त्वचा	हस्त	ईशत्व, विवेक प्राप्ति
विशुद्ध	कण्ठ	१६	धूम्र	अं से अः तक	आकाश	हं	हस्ती	पंच वक्त्र	जनः	शब्द	शाकिनी	गोल	कर्ण	वाक्	वक्तृत्व, ज्ञान
आज्ञाचक्र	भ्रू मध्य	२	श्वेत	हं, क्षं	महत्तत्व	ॐ	नाद	लिंग	तपः	×	हाकिनी	अण्डाकार लिंगाकार	×	×	वाक्यसिद्धि
सहस्रार	मस्तिष्क	सहस्र	अवर्ण	अं से क्षं तक	तत्वातीत	विसर्ग [परम-शिव]	बिन्दु	परब्रह्म	सत्यं	×	महाशक्ति	निराकार पूर्णचन्द्र	×	×	मुक्ति

में प्रारम्भ हो जाती है तब यहाँ पर प्राथमिक-अभ्यासी को निम्नलिखित अनुभूतियाँ होने लगती हैं; किन्तु जिन अभ्यासियों की धारणा अभी परिपक्व नहीं बनी है उनका मन, अनायास कभी किसी चक्र का दर्शन और वहाँ का ज्ञान करा देता है। अन्यथा प्राथमिक-अभ्यासियों का प्राथमिक-दर्शन तथा ज्ञान, क्रम-रहित एवं विपर्यय-विकल्पादि से मिश्रित होता है। आगे 'धारणा' की दृढ़ता के साथ-साथ फिर यह दर्शन और ज्ञान दोनों ही आनुक्रमिक, निश्चयात्मक होते चले जाते हैं।

प्राथमिक-साधक को—यहाँ पर कभी दीप-शिखा-सी लालटैन-सी जलती, धुंधले प्रकाश की लहरें-सी उठतीं, होमकुण्ड से उठतीं धुंधली लाल, नीली, पीली ज्वालाएँ-सी दीखा करती हैं; और कभी जामुन के समान रंग-रूप का चमकीला पिण्ड, कभी जलती फुलझड़ी-सा, बारूदी जलते छछूँदर-सा चमकीली जलेबी-सा छूटते अनार-सा भी दीखता है। साधकों ने पृष्ठवंश में सुषुम्ना को प्रकाश-दण्ड वा स्तम्भ के समान खड़े एवं पृष्ठवंश में ऊपर को चढ़ते सुनहरे वा पीले वर्ण का सर्प-सा; और कभी कृष्ण रंग के अत्यन्त चमकीले ९-१० इंच लम्बी सर्प-सा आकार भी देखा है जिस के नेत्र लाल-रत्ती के समान बड़े और अंगारे के समान जाज्वल्यमान थे, जिह्वाग्र विद्युत्-रेखावत् चमचमाती लपलपाती सी प्रतीत होती है। शालिग्राम की कालीपिन्डी (बटिया) सी भी देखी गई है। ऐसे ही अनेक प्रकार के रंग-रूपों के क्षणिक प्रकाश दीखते और लुप्त होते रहते हैं।

अप्रिय-घटनाएं—कभी कुछ अप्रिय-घटनाएं भी घटित हो जाती हैं। जैसे—भय से कम्प, स्वेद, अर्धमूर्च्छा आ जाना, हाथ-पैर आदि किसी अङ्ग से प्राण खिंच कर-सिमिट कर सुषुम्ना में प्रविष्ट होने लगना और प्राण निकलता-सा प्रतीत होना, अथवा किसी अङ्ग की नसें खिंचने लगना, अथवा क्षुब्ध-अपान की टक्कर से मल-मूत्र का वेग प्रतीत होना अप्रिय-प्रसङ्ग उपस्थित हो जाते हैं जो क्षणिक होते हैं। इन्हें सह लेना चाहिए, अन्यथा दो-चार रेचक-प्राणायाम कर लेने से यह सब कुछ शान्त हो जाता है। कभी-कभी अनायास ही सुन्दर प्राकृतिक-दृश्य, देवों-सिद्धों के दर्शन, मन्दिरों में से गान-वाद्य-भजन कीर्तन का श्रवण आदि के शुभ दृश्य भी ध्यानस्थ-दशा में आ जाते हैं। इन दोनों प्रकार के अचानक प्रकट होने वाले भले-बुरे दृश्यों के दर्शन से अलिप्त रह कर जिस चक्र का साक्षात्कार करना हो, वहाँ तन्मय हो जाए तभी उस 'चक्र' का यथावत्-दर्शन तथा विज्ञान प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं।

१. मूलाधार का यथार्थ-दर्शन और विज्ञान—निजी अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'मूलाधार चक्र' का यथार्थ-दर्शन (चित्र ६ में देखें) वही है जो कि देह के उस प्रदेश के सूक्ष्म आकार का दर्शन है, अर्थात् गुदा से लेकर अन्दर गणेशचक्र तक बड़ी आँतों का एवं—यहाँ पर व्याप्त अश्वपुच्छ के तन्तुओं का, पुच्छास्थि के पृथक् तथा संगठित रूप का दर्शन—यथार्थ-दर्शन है; यहाँ पर स्थित 'अपान-प्राण' की यहाँ पर फैले 'ज्ञानवाहक' तथा 'गतिवाहक' सूत्रों को मल-मूत्र-विसर्जन के लिए प्रेरित करने आदि की प्रक्रिया को अपने 'दिव्यनेत्र' से स्पष्ट देखने का विज्ञान प्राप्त करना 'यथार्थ-विज्ञान' है। तन्त्रग्रन्थ प्रदर्शित 'मूलाधारकचक्र' का दर्शन भले ही

किसी ने उसी रूप में किया हो; इस का हम प्रतिवाद नहीं करते, किन्तु तर्क और अपने अनुभव पर वह वैसा नहीं उतरा तथा 'मूलाधारचक्र' के समान ही, अन्य चक्रों के विषय में भी यही नियम समझ लें। स्थूलदेह के चित्र सं० ६* में ये सब 'चक्र' यथा-स्थान दिखा दिए हैं, वहां पर देख कर स्वयं अनुभव करें।

२, **स्वाधिष्ठान-चक्र**—यह चक्र, मूलाधार से लगभग ४ अँगुल ऊपर, मेरुदण्ड के सम्मुखी भाग में मूत्राशय, गर्भाशय, मलाशय के मध्य में जो 'शुक्रकोश' नामक ग्रन्थि है उस में आभासित होता है। इस की षड्दलीय तान्त्रिक आकृति के साथ दूसरी वास्तविक आकृति भी है, जो शारीरिक-विज्ञान के अनुसार 'वीर्यकोश' में एक स्वर्णमय कटोरे में भरे दूध के समान है। सात्त्विक-अवस्था में यह नीलम के कटोरे से भरे गङ्गाजल के समान निर्मल; राजसिक-अवस्था में—सोने के कटोरे में भरे दूध के समान तथा तामसिक अवस्था में तम से आक्रान्त होकर धूमिल हो जाता है। इस में से समस्त देह तथा प्राणों को तृप्ति और शान्ति देने वाली वाष्प-सी उठकर फैलती रहती है। यह 'जलतत्त्व-प्रधान' है; कफ, शुक्र आदि जलीय विकारों से इसका विशेष सम्बन्ध है। वस्तुतः यहां पर नीलिमा लिए श्वेत गाढ़ा-सा-द्रव 'शुक्र' भरा हुआ है, अतः इस 'वीर्य-कोश' पर संयम करने से **ब्रह्मचर्य-साधन** में विशेष सहायता मिलती है; यद्यपि यह 'चक्र' भी मलाक्रान्त तमःप्रधान अपान-प्राण के प्रदेश में ही है, फिर भी इस पर दिव्य वैराग्य-युक्त भावना का प्रकाश डाल कर साधक काम-विजयी बन सकता है।

३. **मणिपूर-चक्र**—इसे 'नाभि-चक्र' भी कहते हैं। यह नाभि प्रदेश में मेरुदण्ड के सम्मुखी-भाग में है। मानवदेह का केन्द्र 'नाभि' है; यहाँ पर सहस्रों नाड़ियाँ आकर मिलती एवं सहस्रों ही यहाँ से निकल कर ऊपर-नीचे सभी प्रत्यङ्गों को जाती भी हैं; जिन से नाड़ियों का एक चक्र-सा बन जाता है। यह केन्द्र अग्नितत्त्व-प्रधान है; आकार रश्मियाँ निकलते सूर्य के समान है, मध्य में रक्त-वर्ण और चतुर्दिक् से नीलाभशुक्ल-रश्मिजाल से घिरे सूर्य-बिम्ब के समान है। गर्भस्थ-भ्रूण (शिशु-पिण्ड) को पालक-रस इसी केन्द्र से मिलता है जिस से गर्भ बढ़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि इस केन्द्र के मार्ग से देह में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शरीर का विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यही भाव '**नाभिचक्रे कायव्यूह-ज्ञानम्**' (योग, ३-२९) सूत्र का है। 'मणिपूर' नाम से भी इस की विशेषता झलकती है। नाभि के ठीक नीचे हमारी छोटी-आँतें

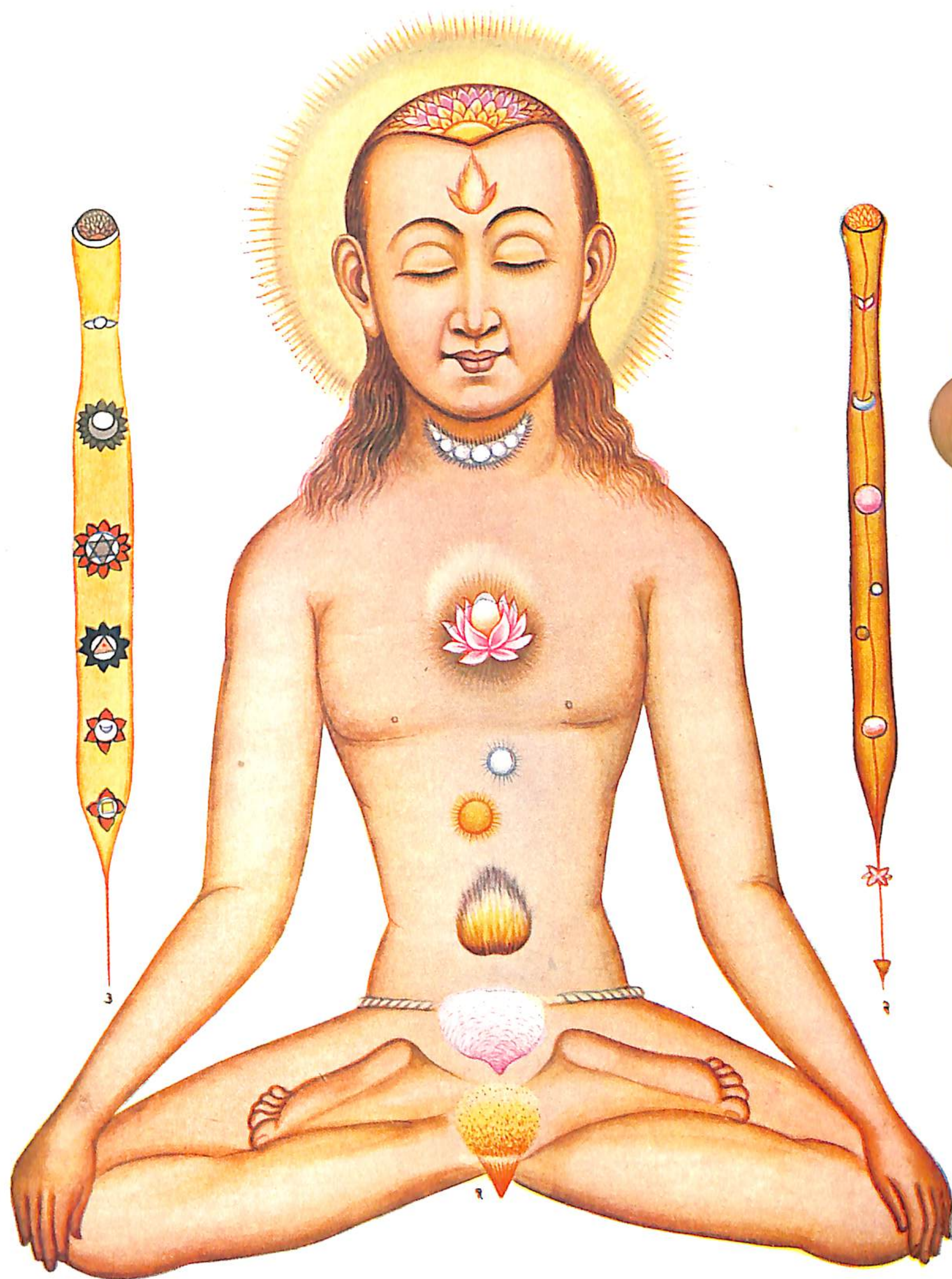
---

* चित्र सं० ६ का विवरण—चक्रों का दर्शन,

१. अथर्ववेद मन्त्र 'अष्टा चक्रा नवद्वारा, के आधार पर सुषुम्ना नाड़ी में मूलाधार चक्र स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपुरचक्र, सूर्यचक्र, मनस (चन्द्र) चक्र, अनाहत (हृत) चक्र, विशुद्धचक्र, आज्ञा चक्र, अष्टचक्रों का दर्शन तथा ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार है।

२. पति वर्ण की सुषुम्ना नाड़ी में अष्टचक्रों के स्थान व रङ्ग रूपों का दर्शन।

३. पति वर्ण की सुषुम्ना नाड़ी में अर्वाचीन आचार्यों के मतानुसार षट् चक्रों का दर्शन।



चित्र संख्या ६

चक्रों का दर्शन

हैं जहाँ पर भोजन का परिपाक भी होता है। यहाँ पर 'समान-प्राण' की सीमा आकर मिलती है जो 'जलतत्त्व-प्रधान' है और पाचक-रसों में जल मिला कर उन्हें कार्यशील बनाता है। इसी चक्र में इच्छाजन्य अभिघात से शब्द का 'परा' नामक अव्यक्त स्वरूप प्रकट होता है। 'परा' शब्द का ध्यान 'नाभिचक्र' में किया जाता है। इस से आगे 'पश्यन्ती' स्वरूप का ध्यान हृदय में, 'मध्यमा' का 'विशुद्ध-चक्र' कण्ठ में होता है, 'बैखरी' का ध्यान शब्दोच्चार है। **भुवन-ज्ञानम् सूर्ये संयमात्** (योग, ३-२६) सूत्र का अर्थ किसी २ ने पिङ्गला सूर्य नाडी में संयम करना' ऐसा किया है; किसी ने सूर्य का अर्थ सुषुम्ना नाडी भी किया है। और 'व्यास' ने तो अनेक भुवनों के ज्ञान का वर्णन इसी सूत्र के भाष्य में किया है।

मणिपूर तथा हृदयचक्र के मध्य में 'सूर्य' और 'चन्द्र' नामक चक्र हैं ऐसी मान्यता है; उनका विवरण निम्न प्रकार है :—

४. **सूर्यचक्र**—नाभि से कुछ ऊपर दक्षिण-भाग 'जिगर' में ही 'सूर्यचक्र' है, यह 'अग्नितत्त्व' प्रधान है। जलतत्त्व-प्रधान 'समान-प्राण' के कार्यक्षेत्र में 'सूर्य' और 'चन्द्र-चक्र' आते हैं; और 'समान' की सहायता से 'सूर्यचक्र' भुक्त-पीत आहार के परिपाक में सहायता करता है। सहायता के स्वरूप को यहाँ पर साक्षात् करें। सूर्यचक्र का स्वरूप भी 'सूर्य-बिम्ब' के समान तथा छोटे आकार का है।

५. **चन्द्रचक्र**—यह चक्र नाभि से कुछ ऊपर वाम-भागा प्लीहा (तिल्ली) में है। इसका 'पैंक्रियास नामक रस' चन्द्रचक्र का रस है जो आमाशयिक-रस, जठर-रस, तथा पित्त-रसों से मिलकर हमारे भोजन का परिपाक करता है। इस परिपाक में 'समान-प्राण' इन रसों का प्रेरक होकर परम सहायता देता है। यहाँ पर इस 'समान-प्राण' की रस-विभाजन तथा रस-प्रेरक शैली का साक्षात् करें और यह देखें कि आगे भी हृदय आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गों को किस रूप में यह रस प्रदान करता है। इसका रंग चन्द्र-बिम्बवत् दीखता है।

६. **अनाहत-चक्र**—इसे 'हृत्-चक्र' भी कहते हैं। छाती में दोनों फुफ्फुसों के मध्यगत रक्ताशय नामक माँसपिण्ड के भीतर एक छोटे से रिक्त स्थान में यह चक्र विद्यमान है। यह रिक्त स्थान हाथ की छोटी अंगुलि 'कनिष्ठिका' के अग्रिम-पोरे के समान, अथवा बेदाना लम्बूतरे श्वेत छोटे अंगूर जितने प्रमाण का है, जो तान्त्रिक-चित्र सहित साथ के चित्र सं० ५(अ)पृ० ६४ से स्पष्ट है। अन्तःकरण के सहित 'जीवात्मा' का निवास इसी 'हृत्पद्म' में माना गया है जो शिशु के अंगुष्ठ के अगले पोरे के समान बड़ा है। यह एक छोटा-सा अण्डाकृति प्रकाश-पुंज होने से प्रथम दृष्टिपात में कमल की मुकुलित कलिका के समान ही प्रत्येक प्राथमिक साधक को दीखा करता है। यह कलिका ऊपर से तो चमकीले वर्षा-बिन्दुओं जैसी, मध्य आवरण हरित आभा लिए शुक्र-तारे के समान और उसके भी अन्दर से श्वेत हिम वा मास्खन, किंवा मर्करी-लाइट के समान चमकीली है। किन्तु हृदयगत रक्त से प्रतिबिम्बित होकर इस नलिका का रंग 'गुलाबी' भासता है। यह चक्र वायु तत्त्व-प्रधान है। परन्तु 'सविचार' तथा निर्विचार समाधियों की 'आनन्दानुगत' तथा 'अस्मितानुगत अवस्थाओं' में प्रगति होने पर साधक को इस में

कुछ रंगीन मण्डल अथवा आवरण दीखते हैं। यथा बाह्य पृष्ठ से अन्दर की ओर चलें तो—प्रथम मंडल में व्यापक 'ब्रह्म' का; २. सूक्ष्म प्रकृति का; ३. सूक्ष्म प्राण का; ४. अहंकार का; ५. चित्त का मंडल है; जिसमें 'आत्मा' का निवास है। ये सब मंडल पृथक्-पृथक् रंग के हैं और दिव्य ज्योतिर्मय हैं। (देखो चित्र सं० १६) यहाँ पर 'आत्मा-परमात्मा' का दर्शन होता है जो इन सब भौतिक पदार्थों से भिन्न प्रकार का होता हैं। किन्तु आत्मा-परमात्म-दर्शन भी इस 'दिव्य नेत्र' से विशुद्ध रूप में नहीं होता। आत्मानुभूति अहंकार सहित चित्त में तथा परमात्म-दर्शन सूक्ष्म प्रकृति के सहित इसी 'हृदयगुहा' वा 'हृदयाकाश' में होता है। यह सब 'दहर-विज्ञान' आप को सब से अन्तिम 'आनन्दमय कोश' में होगा, क्योंकि यह विज्ञान सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से अन्त में ही हो सकता है।

चेतन तत्वों का निवास—किन्तु यह निर्विवाद तथ्य है कि जीवात्मा का निवास इसी स्थान में है। इस विषय को विस्तारपूर्वक 'आनन्दमयकोश' में ही दर्शाया जाएगा क्योंकि यह विषय वहीं का है। यहाँ पर तो दिग्दर्शन-मात्र करा देते हैं। जीव की स्थिति को हम ही नहीं वरन् संसार के सभी आत्मतत्त्ववेत्ता आचार्य 'हृदय' में ही स्वीकार करते हैं उपनिषदों में यत्र-तत्र हृदिह्येष आत्मा (प्रश्नो प० प्र० ३। म० ६) ऐसा ही वर्णन आता हैं।

'ईश्वरः सर्वभूतानां, हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'

(गीता अ० १८। श्लो० ६१।)

ऐसा कहा है। ईसाई वर्ग हृदय को 'गुलाब-पुष्प' के रूप में मान कर इसी में ईसा का शिशु रूप में प्रकट होना मानता है। अनेक भक्तजन हृदय को ही भगवान् का मन्दिर मानकर ,ज्योतिर्मय स्वयम्भू-लिंग' (अण्डाकृति-पिन्ड) का ध्यान करके ऐसा ही दर्शन करते हैं। प्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जीवात्मा की स्थिति 'हृत्पुरुष' के रूप में यहाँ पर ही मानते हैं। संक्षेपतः सार यही है कि चेतन तत्त्व का आवास यहीं पर है और चेतन तत्त्व 'आत्मा' और 'परमात्मा' ये दो ही हैं। अपने लौकिक-व्यवहार में भी प्रायः ऐसा देखा है कि प्रत्येक प्रशंसनीय-कर्म कर के, तथा अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय पर ही हाथ रख कर जताता है कि यह 'शुभकर्म' मैंने किया एवं अमुक कर्म 'मैं करूँगा'। इससे स्पष्ट होता है कि, अहं विशिष्ट जीवात्मा का निवास स्थान यह 'हृदय' ही है, और समाधि-काल में साक्षात्कार भी ऐसा ही होता है। घटाकाश, मठाकाशवत् ही हृदय में व्यापक 'ब्रह्म' तथा 'सूक्ष्म प्रकृति' के मण्डलों का तथा सूक्ष्मप्राण. अहंकार, चित्त तथा जीवात्मा, इन सब ६ तत्त्वों का साक्षात्कार होता है। **'हृदये चित्तसम्वित्'** (योग ३-३४) सूत्र इस विषय में प्रमाण भी है और इसी सूत्र पर **'तत्र विजानाति स्वमिति'** ऐसा कहकर वाचस्पति मिश्र ने—'हृदय में अपने 'स्वरूप' की पहिचान करता है', यह स्पष्ट कर दिया है।

कई आचार्य 'हृत्पद्म' के समीप दाईं ओर 'विशुद्ध-चक्र' के नीचे दक्षिण-स्तन के अन्दर एक 'मनश्चक्र' की स्थिति भी मानते हैं, जिसे 'लोअर-माइण्ड' कहते

हैं। कोई 'चन्द्रचक्र' का विकल्प 'मनश्चक्र' को मानते हैं तथा यहाँ पर ध्यान करने से 'मानस-शुचि' की प्राप्ति की श्रद्धा रखते हैं।

७. **विशुद्ध-चक्र**—यह चक्र, हृदय के ऊपर कण्ठ-प्रदेश में, हंसली अस्थि के अन्दर, थाईराइड-ग्रन्थि' के पास 'स्वरयन्त्र' वा 'टेंटुए' में है। यह चक्र अन्दर से श्वेत और बाहर चतुर्दिक से आसमानी, अर्धचन्द्राकार वायु तत्व-प्रधान है। स्वरयन्त्र में लगभग १६ छल्ले होते हैं। सम्भवतः इसी आधार पर 'विशुद्धचक्र' को १६ दलीय-कमल कहा गया है। नाभिचक्र से उठा 'परा' नामक अव्यक्त शब्द 'वैखरी-रूप' से इसी चक्र में स्फुट होता है। गान-विद्या के आधारभूत षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि सप्त-स्वर इसी से प्रकट होते हैं। यहाँ पर वायुतत्व-प्रधान 'उदान-प्राण' का वास भी है। अतः ऐसी मान्यता भी पाई जाती है कि यहाँ पर संयम करने से इस का 'उद्घाटन' होकर साधक 'दिव्य-श्रत' बन जाता है; क्योंकि यह स्थान 'शब्दब्रह्म' को 'मध्यमा-अवस्था' से वैखरी-रूप' में प्रकट करता है। योग इस विषय में इतना प्रकाश और डालता है **कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा-निवृत्तिः**' (योग० ३-३०), तथा '**कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्**' (योग० ३-३१); अर्थात् कण्ठकूपमें संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति और कण्ठकूप के नीचे छाती में 'कूर्माकारा नाड़ी' में प्रविष्ट हो कर 'मन' की स्थिरता हो जाती है।

८. **आज्ञा-चक्र**—यह चक्र भ्रूमध्य में स्थित झर्झरास्थि के खण्ड 'ललाट-कोटर' के गर्त में है। यहाँ पर भूरे रंग की बालू के कणों के समान, माँस की दो ग्रन्थियाँ हैं। शल्यशास्त्रवेत्ता डाक्टर इन्हें व्यर्थ बताते हैं; किन्तु यह भ्रम है। इनके कार्य का यथार्थ ज्ञान न होने से इन्हें निरर्थक कह दिया गया है। किन्तु जब कोई भी मनुष्य कुछ विचार करता है अथवा ध्यान-निमग्न होता है तब इच्छाशक्ति की लहरियों से ये दोनों गोलियाँ घूमने लगती हैं। इन में एक गोली 'ऋणात्मक' और दूसरी 'धनात्मक विद्युत्-युक्त' होने से पारस्परिक-संघर्ष से प्रकाश को उत्पन्न कर देती हैं, जो ध्यानावस्था में कभी दीपशिखा और कभी चक्राकार जैसा दीख पड़ता है। इस चक्र का आकार भी इस दीपशिखावत् और कभी प्रकाशित दो दलों के समान भासता हैं। दो दलों के समान भासने का कारण आगे देते हैं। इस चक्र का वर्ण श्वेत तथा कभी दीपशिखा अथवा मोमबत्ती की ज्वाला के समान शुभ्र होता है; यहाँ पर 'महत्तत्त्व' का वास है—महत्तत्त्व-प्रधान है। अभ्यास तथा संकल्प बल से इस प्रकाश को अनन्त दूरी तक टार्च के बंधे प्रकाश के समान फेंक कर उस स्थान का दर्शन तथा विज्ञान प्राप्त करने में सफलता मिलती है। यह 'दिव्यदृष्टि प्रसारक-यन्त्र' है, जिसकी सहायता से साधक, बाह्य दूर-देशस्थ पदार्थों का द्रष्टा तथा विज्ञाता बनता है। '**मूर्द्धज्योतिषिसिद्धदर्शनम्**' इस (योग, ३-३२) सूत्र कथित, मूर्द्धज्योतिः—'**शिरः कपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिस्तत्र**' ऐसा 'व्यास' ने, तथा 'सुषुम्ना-नाड़ी के ऊर्ध्व-विवर में संयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं,' ऐसा वाचस्पति-मिश्र ने बताया है। यहाँ पर कपाल में होने वाले दर्शन तो सीधे 'दिव्यनेत्र' के द्वारा हो जाते हैं, क्योंकि ध्यानस्थ-दशा में स्थूलदेह का व्यवधान मिटा होता है; और बाहर अन्तरिक्षचारी सिद्धों के दर्शनों के लिए दिव्य-दृष्टि को 'आज्ञाचक्र' के मार्ग से बाहर भेजना पड़ता है। यहाँ पर संयम करते रहने से प्राप्त दिव्यशक्ति की

सहायता से कोई भी संकल्प पूर्ण हुए बिना नहीं रहता। अतः इसे 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। आज्ञा-रूप बना प्रत्येक संकल्प जो इस मार्ग से बाहर निकलता है वह इतना बलिष्ठ बन जाता है कि अन्य कोई शक्ति उसका उल्लंघन या उसे विफल नहीं कर पाती। इसका प्रसिद्ध दृष्टान्त—शिव के इसी 'तृतीय-नेत्र' के द्वारा किया गया 'मदन-दाह' विख्यात है। अब इस के 'दो-दल' दीखने का कारण यह है कि भ्रूमध्य के अन्दर आकर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ मिलती हैं, जिन का आकार ताँत्रिक-ग्रन्थों में चित्रित 'आज्ञा-चक्र' के समान दिया है जो कि (हमारे चित्र सं० ६ पृष्ठ ७४ में दर्शाए) वास्तविक चित्र का विकृत रूप है। इस स्थान को मुक्त-त्रिवेणी या त्रिवेणी-संगम, भ्रामरी-गुहा, शिवनेत्र, ज्ञाननेत्र, आदि संज्ञाओं से भी निर्दिष्ट किया जाता है। योगियों का 'तीर्थ-स्थान' यही है जहाँ पर समाहित होकर विज्ञानोपलब्धि होती है। ये तीनों नाड़ियाँ भ्रूमध्य से कुछ ऊपर को जा कर ब्रह्मरन्ध्र के समीप ही समाप्त हो जाती हैं। आज्ञाचक्र के ध्यान में सिद्धहस्त हो जाने पर ही साधक को आगे सहस्रार-प्रवेश की योग्यता हो जाती है। मानो सहस्रार-रूपी महाविद्यालय में प्रविष्ट होने के लिए आज्ञा-चक्र की 'अधिकारी' परीक्षा में सफल होना आवश्यक है, क्योंकि ब्रह्मरन्ध्र में प्राप्त होने वाले भौतिक एवं आध्यात्मिक-विज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रबल ध्यानशक्ति अथवा एकाग्रता और तन्मयता की आवश्यकता होती है। आज्ञाचक्र' की कुछ व्याख्या 'विज्ञानमयकोशगत' 'ज्ञाननेत्र' नामक शीर्षक में देखें।

इस प्रकार 'आज्ञा-चक्र' पर चक्र विज्ञान समाप्त हो जाते हैं जो कि 'अष्टा-चक्रा नवद्वारा' इत्यादि ऋचा के आधार पर आधारित हैं। किन्तु इन चक्रों के विषय में यह बात निश्चित रूप से स्मरण रख लीजिए कि— इन चक्रों का मूल स्रोत अर्थात् उद्गम-स्थान तो सुषुम्ना में ही विद्यमान है जो अति सूक्ष्म तथा छोटा है। परन्तु ये चक्र वा केन्द्र स्थूल शरीर-गत उन-उन स्थानों को अपनी ज्योति तथा शक्ति से प्रभावित करते हैं जिन में ज्ञानवहा-नाड़ियों के द्वारा इनका प्रकाश तथा गतिवहा-सूत्रों के द्वारा क्रिया-शक्ति कार्य करती है। तभी साधक ध्यानावस्थित-स्थिति में निज देह में उन चक्रों से प्रभावित-स्थलों को विशेष-सुदीप्त तथा विचित्र क्रियायुक्त देखता है। जैसे आधारचक्र के प्रकाश से प्रदीप्त होकर मेरुदण्ड से सम्बद्ध बड़ी आँतों का निम्न-भाग गुदा; स्वाधिष्ठानचक्र के प्रकाश से प्रकाशित हुआ मसाने के पीछे स्थित शुक्राशय, मणिपूरचक्र के प्रकाश से ज्योति-युक्त बना छोटी-आँतों का स्नायु-समूह; प्रकाशित होता है। एवं यकृत् और प्लीहा प्रदेशों को क्रमशः सूर्य और चन्द्रचक्र प्रकाशित करते हैं। हृदय-देश को अनाहतचक्र, कंठ-प्रदेश को विशुद्ध-चक्र, भ्रूमध्य को आज्ञा चक्र प्रकाशित किये हुए हैं। प्राण-प्रेरित क्रियाओं का विज्ञान भी इसी प्रकाश में स्पष्ट भासता है। इन आठ चक्रों के आगे जो सहस्रार अथवा शून्यचक्र माना जाता है, और भ्रूमध्य से लेकर अन्दर तक जो 'सोम', 'ललना', 'मनश्चक्र' आदि भी माने जाते हैं; वे तो हमारे अपने अनुभव तथा शास्त्र-सम्मत दृष्टि से ब्रह्मरन्ध्र के भाग ही हैं, जिनमें 'मनोमयकोश' तथा 'विज्ञानमयकोश-युक्त' पंचतन्मात्रा-गठित सूक्ष्मशरीर का आवास है। किन्तु तन्त्रग्रन्थों के अनुसार—यहाँ से भ्रूमध्यगत आज्ञाचक्र से अगले चक्र के मध्य

में सहस्रार की ओर ललाट-पट्ट में—सोम और मनश्चक्र भी माने जाते हैं। **मनश्चक्र** षट्-दलीय है; इसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ग्राहक तथा छठा-दल, स्वप्नगत अनुभूति एवं 'असम्भ्रान्त-ज्ञान' प्राप्ति का साधक माना गया है—ये इस के ६ दल हैं। **सोमचक्र**—मनश्चक्र से कुछ ऊपर की ओर है। इस में श्रद्धा, सन्तोष, शुद्धता, दम, स्नेह, वैराग्य, अपराध, आराति (दुःख), मान, सम्भ्रम (मनोद्वेग), क्षुधा, तृषा इन १२ वृत्तियों के ही १२ दल हैं। इसे जीवात्मा का तुरीयावस्था में रहने का स्थान, 'निरालम्ब पुरी' भी कहा जाता है। कोई इन चक्रों की 'ललनाचक्र' तथा 'कलाचक्र' संज्ञा भी बताते हैं। आज्ञाचक्र से मिला हुआ ऊपर की ओर 'ललाट-पट्ट' है जो पारदर्शक-प्लेटवत् स्वच्छ है इसे भी एक 'चक्र-सा' मानते हैं। वस्तुतः ये ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि के प्रकाशात्मक केन्द्र हैं जिन्हें 'दल' मान कर वर्णन कर दिया गया है; और कपालगत माने जाने वाले ये 'उपचक्र', ब्रह्मरन्ध्र वा सहस्रार के ही भाग हैं। यह समस्त कपाल-मण्डल अन्दर से सूक्ष्मशरीर के ज्योतिर्मय अङ्ग मन, बुद्धि, १० इन्द्रियों और पंचतन्मात्राओं के प्रकाशों से भास्वर बना हुआ है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन 'विज्ञान-मय-कोश' में किया जायगा।

सहस्रार—इसे 'दशम द्वार' वा 'ब्रह्मरन्ध्र' भी कहते हैं। यह स्थान, कनपटियों से दो-दो इंच अन्दर और भृकुटि से लगभग २½-३ इंच अन्दर, बड़े मस्किष्क के मध्य में, एवं कण्ठविलम्बित 'काक' से दो अँगुल ऊपर, तथा मस्तिष्कगत 'महाविवर' नामक महाछिद्र से ऊपर छोटे से पोल में एक ज्योःतिपुंज के रूप में है। इसे इस प्रकार समझिए—मूलाधार से निकली, इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना-गत सभी नाड़ियां मेरुदण्ड में से होकर कण्ठ में अवलम्बित काक-पिण्ड के पास से दो मार्गों में विभक्त हो जाती हैं। एक भाग तो लघुमस्तिष्क में तथा दूसरा भाग 'महाछिद्र' के पास आज्ञाचक्र से कुछ ही ऊपर जा कर, भास्वर ज्ञानवाहक-सूत्रों के रूप में फैल कर समाप्त हो गया है। शेष मस्तिष्क में 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमयकोश' के १७ 'प्रकाशमय-तत्त्वों' की ज्योति भरी हुई है, जिस से यह समस्त कपाल रजत निर्मित एक उलटे कटोरे या उलटे छाते के समान दीखता है, जो ऊपर से तो भास्वर-सूर्यवत् और अन्दर से रजत के कटोरे में भरी 'मर्करी लाइट' के समान सत्त्वबहुल अवस्था में भासता है, एवं इन १७ तत्त्वों की संगठित ज्योतियों से प्रतिबिम्बित मस्तिष्क के सहस्रों ऊँचे-नीचे स्थल विकसित तथा भास्वर श्वेत-सहस्रदल-कमल के समान प्रतीत होते हैं। इसी कारण इस विज्ञान-मय भास्वर-केन्द्र की संज्ञा 'सहस्रार' है। प्राथमिक-साधकों को इस का प्रथम दिग्दर्शन विभिन्न प्रकार की ज्योतियों के रूप में होता है; संगठित रूप से क्रमिक-दर्शन 'सविचार समाधि' में होता है—वह भी तब, जब कोई आचार्य साधक को अन्तेवासी बनाकर सब-कुछ दिखाए। वस्तुतः यह 'ब्रह्मरन्ध्र' जीवात्मा का कार्यालय तथा भौतिक 'व्यष्टि' तथा 'समष्टि-विज्ञान' प्राप्ति की प्रयोगशाला है और भोगसम्पादन का केन्द्र भी है। ग्रन्थों में 'सहस्रार' पर अधिकार प्राप्त योगी के विषय में अनेक विचार मिलते हैं। जैसे—

सहस्रार में स्थिति लाभ कर लेने पर योगी सर्वावस्था में स्वच्छन्द, सुखासीन एवं शोक और बन्धन-विमुक्त हो जाता है।

(चैनिक योग-दीपिका), एवं सहस्रार के विकसित हो जाने पन योगी को 'अणिमादि' अष्टसिद्धियां, नवनिद्धियाँ, विभूतियाँ प्राप्त होने लगती हैं। वह परम-विज्ञानी, त्रिकाल-दर्शी बन जाता है। किंच—

तेषाँसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'

(छान्दोग्यो० अ० ८। ख १ म ६)

अर्थात् योगी सब प्रकार के भौतिक विज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होकर सब लोकों में विचरण कर सकता है ऐसा छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् कहते हैं।

चक्र दर्शन का फल—इस प्रकार प्रत्येक मुमुक्षु यथार्थ-ज्ञान-प्राप्ति तथा विज्ञान-वृद्धि के लिए इन 'चक्रों' को इसी पूर्वोक्तक्रम से साक्षात् करे। इनका विज्ञान स्थूलदेह-गत 'आत्मभाव' अर्थात् अपने स्थूलदेह को ही आत्मा समझते रहने के भाव को शिथिल करेगा और 'आत्मसाक्षात्कार' की ओर ले जाएगा। परन्तु 'आत्म साक्षात्कार' की यह आकाँक्षा तभी पूर्ण होगी जब कि साधक आत्मा के निवास-स्थान तक पहुँचे; जिस का कि निवास 'आनन्दमयकोश' में है। उससे पूर्व 'प्राणमय' 'मनोमय' और विज्ञानमयकोश' हैं। साक्षात्कार पूर्वक इन का विज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही 'आनन्दमयकोश' की बारी आएगी। इसलिए इस अन्नमयकोश से अगले 'प्राण-मयकोश' का विज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अन्नमयकोश व्यापी प्राणमयकोश का विज्ञान भी उसके अङ्गभूत प्रत्येक 'प्राण' को उसके निवास-स्थान में कार्य करता हुआ देखने पर ही होगा; और वे स्थान स्थूलदेह के अङ्गों और चक्रों में हैं इस लिए प्राण-विषयक विज्ञान-प्राप्ति के लिए विशेष उपयोगी साधना लिखते हैं। इस 'विशिष्ट-साधना' से साधक की 'धारणा' बलवती होकर कुशाग्र बन जाती है। तभी सूक्ष्मतत्व को दर्शन एवं विज्ञान-प्राप्ति की योग्यता बढ़ती है।

विशिष्ट-प्राणस.धना—जिस साधक ने देश, काल, संख्या से परीक्षित योग दर्शन कथित प्राणायाम-विधि का अनुसरण करते हुए '**प्राण**' पर कुछ अधिकार पा लिया है, उस साधक का इस में शीघ्र ही प्रवेश हो जाएगा; अन्यथा इस में प्रवेश करने के लिए कुछ कठिनाई होगी औह समय भो अधिक लगेगा। क्योंकि यह कोरा प्राणायाम नहीं है—'**धारणा**' को परिपक्व करके '**ध्यान**' को दृढ़ करना है। ध्यान रखिए कि 'हठयोग' में ही नहीं वरन् प्रत्येक साधना में उचित '**हठ**' या '**संकल्प-बल**' का प्रयोग करना ही पड़ता है; किन्तु यह हठ उतना ही उचित है जो हानिप्रद न हो।

चक्रों में प्राणोपासना—ध्यान को धारणापूर्वक दृढ़ करने का यह सूक्ष्म-प्रकार है जिस से ध्यान की दृढ़ता के साथ विज्ञान की उपलब्धि भी होती जाती है अभ्यस्त आसनस्थ होकर प्राणायाम के निश्चित नियम के अनुसार प्रथम कुछ रेचक-प्राणायामों को धीरे-धीरे शान्ति से करना चाहिए और तब—

१. **मूलाधारचक्र में**—धारणा कर के ध्यान की विस्तृत दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना चाहिये यहाँ से उष्ण-वाष्प के रूप में कोई वस्तु उठकर पृष्टवंश में सर-

हुई किन-किन विशेष-स्थलों में रुकती और स्पर्श करती हुई नासा छिद्रों से धीरे-धीरे बाहर निकल रही है । स्वाभाविक मन्थर, मन्दगति से चलते श्वास प्रश्वास का अनुसरण करते हुए और अनुभव करते हुए यह धारणा की प्रक्रिया की जाती है—श्वास-प्रश्वास को सवेग नहीं छोड़ा जाता । ध्यान के द्वारा ही इस के साथ मधुर-भ्रमर गुँजार को मिला कर प्रश्वास के साथ बाहर को आते हुए 'मकार' के सानुनासिक-उच्चारण जैसी ध्वनि को सुनने का प्रयत्न करते हुए मन को उसी में तन्मय कर देना चाहिए । प्रश्वास और नाद का तार मार्ग में यदि टूट जाए तो फिर मूलाधार से ही प्रारम्भ कर के इस क्रम को सहस्रार तक ले जाएं; धैर्य और श्रद्धापूर्वक गुंजार-सहित सुखद स्पर्श का आनन्द लेते हुए इस अभ्यास को नियमित रूप से दोहराते रहें जब तक कि आपकी अनुभूति मूर्त्त-रूप धारण नहीं कर लेती । इस प्रक्रिया से प्राण की गति मन्द-तम और अन्त में निरुद्ध-सी पड़ जायेगी; किन्तु गुंजार और प्राण-स्पर्श तीव्र होते जाएंगे । जब तक यह भूमि दृढ़ न हो जाए और आपको आन्तरिक-तुष्टि का आभास न मिले—इस प्रक्रिया को करते रहें, और आगे बढ़ने के 'विकल्प-रूपी-विक्षेप' को सिर न उठाने दें । सदा पूरक-समय भी श्वास को अधिकार-पूर्वक मन्दगति से ही प्रविष्ट होने दें और 'ओंकार' की मानसिक-ध्वनि के साथ प्राण को मूलाधार तक ले जाकर स्थिर करते रहें । प्रिय साधक-वृन्द ! यहाँ पर थोड़ा सावधान रहना ! सम्भव है कि आप इस साधना में लगे हों और आप का 'मन' किसी अज्ञात-देश की सैर भी कर आए, तो क्या आश्चर्य ? इसलिए 'मन' को 'ध्यान की डोरी' में बाँध कर प्राण के साथ-साथ चलाते रहें । इस भूमिका के स्थिर हो जाने पर ही भावी प्रगति सम्भव होगी ।

२. **मूलाधार में ही**—पहले पहल ध्यान-दृष्टि से एक त्रिकोण अग्नि-कुण्ड दिखाई देता है, जिसमें से शुभ्रवर्ण की ज्वालाएँ उठकर मेरुदण्ड को प्रदीप्त करती हुईं ब्रह्मरन्ध्र के द्वार से बाहर को जा रही होती हैं । यह कार्य 'प्रश्वास' के द्वारा ही हो रहा है ऐसा अनुभव कीजिए । गुंजार भी साथ-साथ चल रहा है । फिर पूरक-द्वारा लिया श्वास भीतर जा कर मूलाधार से उठती ज्वालाओं को अधिक प्रदीप्त कर देता है, और 'ॐ' का सम्बोधनात्मक-दीर्घनाद, साथ ही जा कर ज्वालाओं को उभारता है—सुदीप्त बनाता है, जिसे आप सुन रहे होते हैं । मानसिक तीव्र-भावना यह हो कि इस कुण्ड की सुदीप्ताग्नि में आप समाहित हो रहे हैं ।

३. **पुनः मूलाधार में ही**—निश्चेष्ट-भाव से ध्यान से देखने का प्रयत्न करें कि प्रश्वास-रूप 'अपान' गुदा-स्थल में जाकर एक विशेष प्रकार की चेष्टा, क्रिया वा गति को उत्पन्न कर देता है इस गति से 'मल' नीचे को गिरने की चेष्टा करता है । जब यह 'अपान' ऊपर नाभि की ओर गति करता है—चढ़ता है तब मल-निस्सारक-क्रिया रुक जाती है । अपान का कार्य-क्षेत्र नाभि से लेकर आपाद-तल है, इसलिए प्रश्वास को आपाद-तल से आते हुए—चढ़ते हुए और 'भूः' के साथ मिलकर प्रश्वास के द्वारा यहाँ से समस्त-मलिनता को बाहर जाते, और 'ॐ' के साथ, श्वास के द्वारा बाहर से आती पवित्रता-दायक नूतनशक्ति को अन्दर आते हुए अनुभव करने का एवं देखने का प्रयत्न करें । इस प्रकार प्रश्वास-रूप 'अपान' पर ध्यान पूर्वक संयम करने से,

प्राण-निरोध की दीर्घता तथा सूक्ष्मता स्वयं बढ़ती जाती है; जितने समय में एक प्रश्वास पूरा हो उतने समय में 'ॐ भूः' की आवृत्ति पूरी हो जाये रेचक का इतना अभ्यास बढ़ जाना चाहिए।

४. **आपाद-तल से**—'भूः' के साथ प्रश्वास को उठा कर, 'यहाँ की सब मलिनता, प्रश्वास के साथ बही जा रही है' ऐसी भावना के साथ, मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपूर आदि चक्रों से होते हुए मस्तिष्क में भरे 'प्राण' को साथ में लेकर नथुनों से निकलता हुआ अनुभव कर के पुनः देह के रिक्त-स्थान को 'ॐ' के गुंजार-सहित, नथुनों से प्राण को लेकर क्रमशः आज्ञाचक्र, सहस्त्रार, विशुद्धचक्र आदि में से, शक्ति-भरे 'प्राण' को ले जाते हुए, इन स्थानों को शक्ति-पूर्ण अनुभव करते हुए, मन्थर-गति से आपाद-तल चले जाना चाहिए। इस क्रमिक-अभ्यास से प्राण तथा अपान दोनों पर वशित्व प्राप्त होगा। तब स्वेच्छा से भूमि-तल वा आकाश के दूर-प्रदेश से भी वायु के आहार-तत्त्व को आकर्षित कर लेने की शक्ति साधक में आ जाएगी।

इन प्रक्रियाओं के निरन्तर अभ्यास करने से 'चक्र-वेधन' सरलता तथा शीघ्रता से सम्पन्न हो जाता है, और 'अपान-प्राण' का साक्षात्कार, इसके कर्म का विज्ञान, मूलाधार में ज्योति की उत्पत्ति, और कुण्डलिनी-जागरण भी हो जाता है। जब तक मूलाधार वा आज्ञाचक्र आदि में ज्योति प्रकट न हो, तब तक यह 'ध्यानमाला' फिराते रहना चाहिए। केवल 'प्राणोत्थान' अथवा 'अनाहत-नाद' की उत्पत्ति पर ही सन्तुष्ट न हो जाएँ; क्योंकि ज्योति के बिना न तो आन्तरिक साक्षात्कार ही सम्भव होता है, और न विज्ञान की प्राप्ति होती है। यह साधना आन्तरिक, 'तम के आवरणों' को शनैः-शनैः निवारण करती हुई, अर्वाचीन-योगियों के तथा हमारे अनुभव के आधार पर दर्शाये गये 'चक्र-विज्ञान' के साथ-साथ प्राण-विज्ञान' कराने में समर्थ होकर कुण्डलिनी को भी जाग्रत कर देती है।

इसी प्रकार आगे 'स्वाधिष्ठान, आदि चक्रों पर यही प्राण-साधना करते जाइए। तत्पश्चात् आप अगले 'प्राणमयकोश' के सूक्ष्म-विज्ञान को भली भाँति साक्षात् कर सकेंगे।

इति श्रीमदखण्ड ब्रह्मचारि योगिप्रवर श्री व्यासदेव महात्मप्रणीते
आत्म-विज्ञाने सुभाषाविभूषिते
अन्नमय कोषो नामा प्रथमोऽध्यायः सम्पूर्णः।

—:०:—

ॐ

अध्याय : : २

प्राणमयकोश

और उसका विज्ञान

अन्नमयकोश के ज्ञान से विवेक—गत 'अन्नमयकोश' वा स्थूलदेह में कहीं भी जब आत्मदर्शन नहीं होता, तब यह सब पंचमहाभूतों की एक क्रीड़ा मात्र प्रतीत होती है। इससे अभ्यासी को इसके विषय में कुछ गम्भीरता से विचार करने का अवसर मिलता है। आत्मदर्शन की जिज्ञासा प्रबल हो उठती है। देह में बनी ममत्व की भावना न्यून होने लगती है। देहाध्यास भागने लगता है, और कालान्तर में देहानुराग दूर हो जाता है। फलतः, अपने स्वरूप को इस देह में ही खोजने का प्रयत्न करता है। मोह के कारण इस पाञ्चभौतिक देह पर मुग्ध हुआ जो मानव अपने सुन्दर आत्म-स्वरूप को भूल कर अन्नमयकोश के साथ ही अपना भी जीवन तथा मरण मान बैठा था; वह भ्रान्ति—इस काया के यथार्थ रूप को अन्दर और बाहर से देख लेने तथा वास्तविकता के जान लेने पर भाग जाती है। 'अन्नमयकोश' जहां पंचमहाभूतों का विकार तथा 'कार्य' है, वहाँ 'जीवात्मा' सर्वथा इस से भिन्न है। इस काया से उसका स्वरूप सर्वथा भिन्न तथा स्वभाव भिन्न है। यह 'जीवात्मा' अजर-अमर ज्ञान तथा शक्ति-रूप है, और यह देह जन्म-मरण धर्म वाला है। इस में बाल्य, कौमार्य यौवन, वृद्धत्त्व धर्म देखने में आते हैं। इस काया में जब तक आत्मभाव-भावना बनी है तब तक यह बन्धन का हेतु बना हुआ है—यह निश्चयात्मिका बुद्धि 'आत्म-दर्शन' से ही बनती है।

विवेक का फल—इस 'आत्म-विवेक' के उदय होने पर सब ओर से विरक्त हुआ 'चित्त' आत्म-अनुसन्धान में अनुरक्त हो जाता है। तब निश्चित रूप से आत्म-विज्ञान प्राप्ति में शीघ्र सफलता मिलती है। 'पुरुष' पर पड़े स्थूल देह के इस प्रथम कठोर आवरण को क्रियाशील बनाने वाला दूसरा आवरण अति कोमल यह 'प्राणमय-कोश' है, जो इस काया को आच्छादित करके इसके अन्दर बाहर रह कर प्रत्येक समय क्रिया में प्रवृत्त रखता है; और जीवन प्रदान करता है, जिसके अभाव में यह काया एक क्षण भी जीवन धारण नहीं कर सकती। वह 'प्राणमयकोश' इस काया के आकार का इस से अत्यन्त सूक्ष्म, अति कोमल, सदा जागरूक रहने वाला, इसमें व्याप्त होकर रहता है। उसी का वर्णन निम्न प्रकार है :—

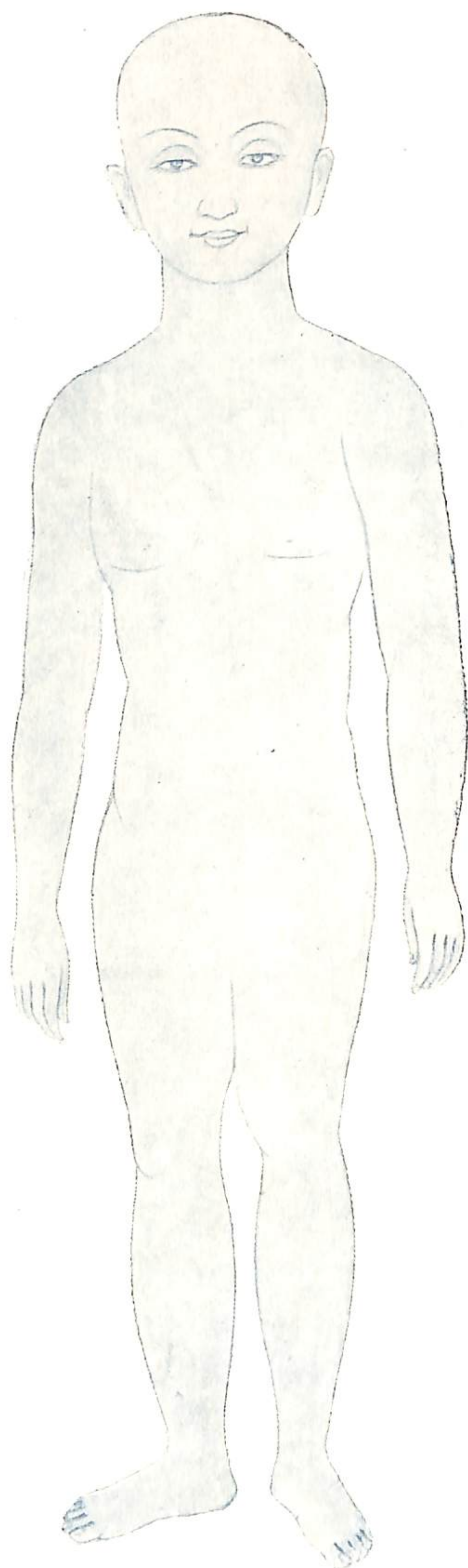
प्राण का सामान्य वर्णन—पंचमहाभूतों से ही यह मानव-देह बनी है और पंचमहाभूतों के विकार ही इस शरीर के आहार हैं। जैसे पार्थिव अन्न-कन्द-मूल-

फलादि और जल तथा तेजस्-उष्णता उत्पादक आहार के सेवन से यह स्थूल देह जीवन को धारण कर रही है, वैसे ही इस अन्तरिक्षचारी रजःप्रधान वायु का आहार भी इस जीवन-धारण के लिए आवश्यक है। साथ ही इस जीवन को धारण करने वाले इस 'स्थूलप्राण' के अतिरिक्त एक 'सूक्ष्मप्राण' भी है जो 'जीवात्मा' और 'चित्त' के संयोग से प्रादुर्भूत होकर हमारे 'कारणशरीर' और 'सूक्ष्मशरीर' को जीवित रखता है। इन दोनों शरीरों के जीवित रहने से ही यह 'स्थूल शरीर' भी जीवित बना हुआ है, ऐसा हमारा अनुभव है। स्थूलप्राण' तो स्थूलदेह के साथ समाप्त हो जाता है, किन्तु जीवनकाल में हमारी हृदय-गुहा से निकला पूर्वोक्त 'सूक्ष्मप्राण' ज्ञानशक्ति के मेल से 'जीवनशक्ति' रूप बन कर 'सूक्ष्मशरीर' के माध्यम द्वारा समस्तदेह-व्यापी 'व्यानप्राण' को गतिशील करता हुआ इस काया को अनुप्राणित, हर्षित, उत्साहित एवं स्फूर्तिमय, और क्रियाशील तथा परितृप्त करता रहता है। इस 'प्राणमयकोश' के साथ पाँच प्राण और पांच उपप्राणों का अङ्गाङ्गीभाव सम्बन्ध है। जैसे स्थूलदेह में मुख, हस्त-पाद आदि अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं; इसी प्रकार ये सब 'प्राण' इस 'प्राणमयकोश' के अङ्ग हैं अब प्राण की उत्पत्ति आदि का वर्णन करते हैं।

प्राण का लक्षण—'प्राणयति-जीवयति इति प्राणः' अर्थात् मुख्य रूप से जो प्राणीमात्र के जीवन का आधार बना हुआ है, वह 'प्राण' है। यद्यपि अन्य महा-भूत भी शरीर के सहायक हैं किन्तु सब भूतों में सूक्ष्म 'आकाश' से दूसरी श्रेणी पर यह सूक्ष्म है। सूक्ष्म शक्ति स्थूल की अपेक्षा प्रबल होती है। इसलिए सूक्ष्मता तथा परम उप-योगिता की दृष्टि से इसको विशेष रूप से 'जीवनदाता' कहा जाता है। महाभूत 'वायु' के समान ही यह 'प्राण' भी सदा गमनशील बना रहता है। किसी भी काल में इसका व्यापार रुकता नहीं; जाग्रत, स्वप्न, निद्रा में भी यह कभी नहीं ठहरता, सदा क्रियारत रहता है। समाधि के आरम्भ काल में केवल श्वास-प्रश्वास की गति मन्द हो जाती है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि प्राणायाम के हठ से इसकी बाह्यगति बन्द हो जाती है, और शेष 'व्यान' आदि तो अपना व्यापार करते ही रहते हैं।

प्राण की उत्पत्ति—'वायुमहाभूत' का सात्त्विक अंश प्राण के रूप में मानव-देह में विद्यमान है, जो वायु के सत्त्वप्रधान अंश से उत्पन्न हुआ है। जब मानवदेह की रचना होती है उस समय इस देह के निर्माता पंचभूतों के सब सात्त्विक भाग ही उपादान कारण होते हैं। इनमें से सत्त्वप्रधान 'वायु' भी 'उपादानकारण' के रूप में 'प्राणरूप' होकर सहकारी रूप में इस देह में विद्यमान होती है। श्वास-प्रश्वास के रूप में हम जो यह बाहर की वायु सेवन या पान, किंवा भक्षण करते हैं, यह अन्न-जल के समान 'आहार' स्वरूप होती है, और उसे ही हम ग्रहण करते हैं। किन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि—रजःप्रधान वायु भी सदा 'जीवनप्रद' नहीं होती। इस में अन्य दूषित पदार्थ—अनेक प्रकार की गैसात्मक वस्तुएँ, विषाक्त गन्ध आदि समाविष्ट हो जाने से यह 'मारक' भी बन जाती है; जैसे अन्तरिक्ष के उच्चतर-स्तर या भूगर्भ की वायु प्रायः जीवन-घातक होती है।

चित्र संख्या ७ (आ)
प्राणमयकोश के विभागशः कर्म



चित्र संख्या ७ (अ)
प्राणमयकोश का स्वरूप

प्राण का स्वरूप—'वायुमहाभूत' के सत्त्वप्रधान अंश से बने 'प्राणवायु' का स्वरूप भी अपने रचयिता के समान ही नेत्रों द्वारा अदृश्य किन्तु 'त्वचा' द्वारा अनुभवगम्य है। यह प्रत्येक मूर्त-पदार्थ के साथ मिलकर उसी आकार-प्रकार का तथा रंग-रूप का बन जाता है। जब साधक इस को 'स्थूल शरीर' से भिन्न 'दिव्यनेत्र' से देखता है, तब ध्यानस्थ दशा में इसका स्वरूप 'नीलाभ-श्वेत-मेघ' के समान वर्ण तथा स्थूल देह के आकार और परिमाण का ही दीखता है (चित्र सं ७ (अ)*; किन्तु शरीर के स्थान भेद से कुछ रूप और क्रिया, दोनों में भेद हो जाता है।

प्राण का निवास-स्थान—प्राण का निवास-स्थान प्रत्येक प्राणी की स्थूल देह ही है; जहाँ पर यह प्राण-वायु १० भागों में विभक्त होकर रहता है। इस देह के जिस-जिस भाग में रह कर जैसा-जैसा कार्य करता है उसके अनुसार ही उस के नाम भी रख दिये गए हैं। स्थूल देह से यह प्राण पृथक् भी है और प्रकारान्तर से उस में व्याप्त भी है। 'अन्नमयकोश' तथा 'प्राणमयकोशों' की उत्पत्ति समकालीन होती है। जैसे स्थूल देह में पृथ्वी-महाभूत का सात्त्विक भाग अस्थि-चर्म आदि के रूपों में मुख्य रूप में सहायक वा 'कारण' होता है; उसी प्रकार वायुमहाभूत का सात्त्विक भाग 'प्राण' के रूप में सहकारी और जीवन का आधार होकर देह-निर्माण में सहायक बना हुआ है।

प्राण का सम्बन्ध—साक्षात् रूप से प्राण का सम्बन्ध हमारी 'स्थूल देह' से है; और गौणरूप से सभी कोशों से है। क्योंकि सभी 'कोश' स्थूल देह में ही रहते हैं। यह एकदेशी होते हुए भी समस्त देह को व्याप्त करके ठहरता है और स्थूल देह को सदा क्रियाशील बनाए रखता है। वस्तुतः, स्थूल देह के जीवन का मुख्यरूप में यही आधार है।

अन्नमयकोश और प्राणमय कोश का सम्बन्ध मृत्युपर्यन्त बना ही रहता है। ये एक दूसरे से अलग होकर जीवित नहीं रह सकते हैं। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सापेक्ष हैं। इन दोनों का परस्पर संयोग सम्बन्ध है। जैसे सूक्ष्मशरीर और कारण

---

*चित्र सं ७ (अ) का विवरण :—प्राणमयकोश का स्वरूप

१. यह नीलाभ-श्वेत-मेघ के समान वर्ण का स्थूल देह के आकार और परिमाण का प्राणमयकोश है।

७ (आ) प्राणमयकोश के विभागशः कर्मः—

२. यह नाभि से पाद अंगुष्ट पर्यन्त अपान प्राण का निवास और कार्यक्षेत्र है।

३. यह नाभि से हृदय पर्यन्त समान प्राण का निवास और कार्यक्षेत्र है।

४. हृदय से लेकर कण्ठ पर्यन्त प्राण का निवास और कार्यक्षेत्र है।

५. कण्ठ से लेकर शिखा पर्यन्त उदान प्राण का निवास और कार्यक्षेत्र है।

६. व्यान प्राण का निवास और कार्यक्षेत्र शरीर-व्यापी है, जिसे दोनों बाहुओं में दर्शाया गया है।

शेष उपप्राणों का मुख, नासिका कण्ठ तथा नेत्र पक्ष्म निवास एवं कार्यक्षेत्र है। पांचवां धनञ्जय उपप्राण व्यान के समान शरीर-व्यापी है।

शरीर के साथ सूक्ष्मप्राण का सम्बन्ध है। मोक्षकाल में ही इन दोनों के सम्बन्ध का सूक्ष्मप्राण से विच्छेद होगा, इसी प्रकार मरणकाल में स्थूल शरीर से स्थूल प्राण का फिर ये दोनों अपने अपने उपादान कारण में विलीन हो जायेंगे।

जिस प्रकार स्थूल देह के हाथ-पैर आदि अंग तथा अंगुलि आदि उपांग हैं, उसी प्रकार इस 'प्राणमयकोश' के भी अपान-समान आदि तो अङ्ग और कृकल-देवदत्त आदि उपाङ्ग हैं।

प्राणमयकोश के विभागशः कर्म—'प्राणमयकोश' जिन से बनता है वे सब १० प्राण हैं, और उन में 'प्राण' के ५ मुख्य भेद तथा ५ उपभेद हैं। देह के विभिन्न प्रदेशों में रहकर वहां का प्राण क्या-क्या कार्य-व्यापार करता है, यह चित्र में देखें। इसका वर्णन निम्न प्रकार है :—

अपान-वात❀—**अपनयति-प्रकर्षेण मलं निस्सारयति, अपकर्षति च शक्तिम् इति-अपानः'**—अर्थात् जो मलों को विशेष रूप से बाहर फेंकता है। अपान का गतिक्षेत्र नाभि से आपादतल है, और इसी प्रदेश में इसका निवास भी है। पार्थिव-तत्त्व की बहुलता के कारण गुरुत्वधर्म युक्त होने से निम्न प्रदेशों की ओर गमन करके—गुर्दों से मूत्र को निकाल कर मूत्राशय में लाना, मूत्राशय से आगे बाहर फेंकना, मैथुन के समय वीर्यकोशों से शुक्र को प्रवाहित करना, योनि से 'रज' को, गर्भ से भ्रूण तथा शिशु को बाहर निकाल देना, आँतों में भोजन का रस बनाना, मल को नीचे धकेल कर गुदा-द्वार से बाहर निकालना, आवेगकाल में इन मलों को धारण करना और कटि-जंघा तथा घुटनों से आपादतल एवं अंगुलिपर्यन्त प्रत्येक अंग को गति देना 'अपान-प्राण' के विशेष कार्य हैं। पार्थिवतत्त्व की बहुलता से इस का वर्ण—पीतबहुलधूसर या धूमिल-सा गुरुत्व लिए है। वातमात्र का वर्ण श्यावक (जामुनी-सा) है—(आयुर्वेद)

समान-वात—**'रसं समं नयति सम्यक् प्रकारेण नयति इति समानः'** अर्थात् जो आहार से रस को ठीक प्रकार से बनाता तथा यथा स्थान वितरित कर देता है वह समान-प्राण कहलाता है। हृदय से नाभि तक इसका निवास एवं कार्यक्षेत्र है; जलतत्व की बहुलता से इसका शुक्लवर्ण, यत्किंचित् लघु एवं शीतल स्वभाव है। भोजन की पाचन-क्रिया में अर्थात् आमाशय-यकृत्-अग्न्याशय और लघुआन्त्र के रसों का स्राव करता है। यह भोजन में द्रवांश का मिश्रण एवं क्लेदन भी कराता है (भोजन के कण-कण को गीला करना—क्लेदन है)। वातमात्र का गुण योगवाही है (आयुर्वेद) 'योग-वाहित्व' गुण के कारण पित्त से मिलकर यह 'समानवात' दाहवत्ता और कफ़ से मिश्रित होकर शीतलता का जनक हो जाता है। जठराग्नि की तीक्ष्णता 'अप्' तत्त्व द्वारा—कफ़ द्वारा न्यून होती है। यह तिल्ली, गुर्दे, मूत्र संस्थान की क्रिया में भी सहायता देता है और अपने नाम तथा गुण के अनुसार ही आहार से बने रस को यथा स्थान वितरित करके देह के नाड़ीमण्डल, मस्तिष्क, हृदय आदि सब अंग-प्रत्यंगों को पुष्टि प्रदान करता है, जिससे देह के सभी भाग पुष्ट रह कर सब कार्यों को करने में समर्थ

❀ वात वायु (प्राण) का ही पर्याय वाची है।

बने रहते हैं। इस में 'अपान' की अपेक्षा गुरुत्व न्यून होता है। **'समान जयात् प्रज्वल-नम्'** (योग० पा० ३-सू० ४०) सूत्र के कथनानुसार यह भाव भी निकलता है कि—'समानवात' को नियमित रखने से अग्निकर्म, पाककर्म ठीक-ठीक संचालित होता है। फलत: योगी का तेज सदा बढ़ा रहता है—योगी तेजस्वी बना रहता है।

प्राण-वात—'प्रकर्षेण आनयति, इति प्रकर्षेण वा बलं ददाति, आकर्षति च शक्तिं सः प्राणः'—अर्थात् जो बाहर से श्वास, भोजन आदि प्रत्येक पदार्थ को खींच लाता है वा जो समस्त देह को विशेष बल देता है और वायु से जीवन शक्ति को खींच लेता हैं, वह 'प्राण' संज्ञक वात है। प्रत्येक क्षण कार्यव्यग्र रहने से श्वास-प्रश्वास के द्वारा ह्रास हो रही शक्ति को यह 'प्राणवायु' वायुमण्डल से विशेषशक्ति को आकृष्ट कर के 'श्वास' रूप से देह में आकार पूर्ण करता रहता है। इसी कारण देह कार्य-क्षम बनी रहती है। प्राय: सभी का ऐसा अनुभव है कि जब किसी कार्य को करने के लिए अधिक बल की आवश्यकता होती है तब श्वास को अन्दर भर कर कार्य करते हैं; इस प्रक्रिया से देह में कार्यशक्ति बढ़ जाती है और भार भी अधिक उठाया जा सकता है। प्राण-वात का निवास-स्थान मुख से हृदयपर्यन्त है और इसका कार्यक्षेत्र भी यही है। आग्नेय तत्त्व की इसमें प्रधानता होने से इसका वर्ण सुनहरा तथा हल्का होने से ऊर्ध्वगमन धर्म से युक्त है। यह श्वास-प्रश्वास रूप में नथुनों से हृदय पर्यन्त गति करता है। वर्णोच्चारण में सहायता देना, भुक्त-पीत को नीचे आमाशय में धकेल देना, स्वेद बनाना, रक्त में ऊष्मा बनाए रखना, रुधिर को रंग कर लाल बनाना, रक्त-संचार करना, क्षुत्-पिपासा लगाना इसी के कर्म हैं।

उदान-वात—'उन्नयति यः उद् आनयति वा इति उदानः,' अर्थात् जो शरीर को ऊपर उठाए रहे—गिरने न दे वा ऊपर को ले जाए, अथवा जो नीचे से (आमाशय से वमन के रूप में आहार को) उठा कर बाहर फेंक दे, वह 'उदान' संज्ञक वात है। यह कण्ठ प्रदेश में रहता तथा कार्य करता है। वायुतत्व की प्रधानता से यह लघुस्व-भाव तथा नीलमिश्रित हरित-से वर्ण का है, कण्ठ से नीचे खाद्य-पेय पदार्थों को धके-लना तथा वमन के द्वारा आहार को बाहर फेंक देना, वर्णोच्चारण, और गायन में विशेष सहायता देना इस के मुख्य व्यापार हैं। उदानवात का जय लाभ कर लेने पर देह को संकल्प-विशेष से अति हल्का बनाया जा सकता है। योग दर्शन (३-३९) सूत्र के व्यासभाष्य में—**'उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति, तां वशित्वेन प्रतिपद्यते'** ऐसा कहा है। इसका भाव यह है कि योगी अपने उदान-प्राण पर वशित्व प्राप्त करके अपने प्राणों को दशम-द्वार से विसर्जित करके ऊर्ध्वलोकों में गमन कर सकता है। यह भी एक प्राण-जय द्वारा प्राप्त विभूति है। किन्तु जीवन-काल में भी यह 'उदानवात' देह को ऊपर उठाए और थामे रखने में सहायक है, अर्थात् हम अनायास जो इधर-उधर घूम जाते हैं, दौड़े फिरते हैं और गिर नहीं पड़ते-यह सब कुछ हम 'उदान' की सहायता से ही करने में समर्थ होते हैं। इस की गति का क्षेत्र कन्ठ से कपाल तक है तथा यह 'वायु' के समान तिर्यक् गामी है।

व्यान-वात—'व्याप्नोति शरीरं यः सः व्यानः' अर्थात् जो समस्त देह-व्यापी है वही 'व्यान' है। यह आकाश तत्व प्रधान, आसमानी वर्ण का लघुस्वभाव वाला

है और समस्त देह-व्यापी क्रियाएं कराता हैं। ज्ञान-वाहक स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियो को गतिशील बनाए रखना, धड़कन, फड़कन रक्त-संचरण, एवं सब प्राण-उपप्राणों के कार्यों में सहायता देना इसका कार्य-व्यापार है।

उपप्राणों का वर्णन—इन सब का कार्यक्षेत्र स्थानिक और सीमित होता है। जैसे :—

१. **देवदत्त**—यह नासिका-स्थानीय है तथा पार्थिवतत्व प्रधान, पीतबहुल धूसर वर्ण का गुरुस्वभाव युक्त है। कोई इसे मुखस्थानीय मान कर 'जृम्भा' लाने वाला मानते हैं; यह छींक भी लाता है।

२. **कृकल**—यह कण्ठ-स्थानीय, जलतत्व प्रधान, धवलवर्ण, किंचित् लघु स्वभाव है। जृम्भा लाता है और क्षुधा-तृषा उत्पादक माना जाता है। **'कण्ठकूपे क्षुत्-पिपासा निवृत्तिः'** (योग० पा० ३-सू०३०) इस योग-सूत्र का भाव यह है कि कण्ठ के निचले भाग में स्थित गढ़े (कण्ठकूप) में निवास रखने वाले 'कृकल' अथवा 'उदानवात' पर संयम करने से प्राप्त वशित्व से क्षुधा और पिपासा योगी को क्षुभित नहीं करतीं अर्थात् सताती नहीं।

३. **कूर्म**—नेत्रपक्ष्म (पलकों) में रहता है। आग्नेयतत्व प्रधान, स्वर्ण वा नारंगी रंग का संकोच-विकास धर्मी है। यह पलकों के निमेष-उन्मेषरूप पलकों को झपकाने का कार्य करता है।

४. **नाग**—यह मुख-स्थानीय, वायुतत्व प्रधान, नीलमिश्रित हरित वर्ण का लघुस्वभाव है। उद्गार-डकार लाना, हिक्का—हिचकी लाना इस का कर्म है। कोई-कोई इसे कुण्डलिनी जागरण में सहायक कहते हैं।

५. **धनञ्जय**—यह समस्त देह-व्यापी, आकाशतत्व प्रधान, आसमानी रंग का लघुस्वभाव है। मरण के पश्चात् तथा जीवितकाल में भी शोथ उत्पन्न करता है, यही इसका व्यापार है। गमनागमन में सहायक एवं देह-पोषक भी है।

प्राणमयकोश के कार्य—समस्त प्राणों से बने 'प्राणमयकोश' के कार्यों का वर्णन निम्न-प्रकार है:—प्राणमनकोश सत्वप्रधान वायुतत्व से निर्मित एक सूक्ष्म आवरण है जो मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयकोशों पर चढ़ा हुआ है। इस आवरण से आवृत आनन्दमयकोशस्थ 'पुरुष' को यह 'प्राणमयकोश' ही दाता-वक्ता-कर्ता-भोक्ता-क्षुधातुर-पिपासाकुल आदि विकार-युक्त दर्शाता है; यह इसी का धर्म है। इस कोश पर 'प्रत्याहार' तथा 'धारणाओं के द्वारा अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस कोश के द्वारा जहाँ भूख-प्यास,विषय-विकलता आदि कष्ट भोगा जाता है, वहां इन की निवृत्तिजन्य तृप्ति तथा रति-सुख आदि आनन्द का उपभोग भी मिलता है। स्थूल देह में सर्वत्र 'प्राणमयकोश' के अंगभूत, प्राण, उपप्राण ही तो अनेक प्रकार की क्रियाओं को कर रहे हैं; जैसा कि पिछले चित्र विवरणों में हम वर्णन कर आए हैं। इस प्रकार इसी 'प्राणशक्ति' के अंशों से बना यह 'प्राणमयकोश' प्राणियों के देहों में विद्यमान है, जिस से प्राणिवर्ग जीवित अवस्था में है। स्थूलदेह तो इस का घर अथवा आधार है।

स्थूल देह एक क्षरण के लिए भी तो इस का वियोग सहन नहीं कर सकती क्योंकि श्वास-प्रश्वास के द्वारा ही स्थूलदेह का 'जीवन' तथा सम्पूर्ण कार्य करने वाला बल बना हुआ है। प्राणों के निवास का चित्र सं० ७ आ पृ० ८५ में देखें।

प्राणमयकोश का आकार—इस के आकार के विषय में स्वानुभूत साक्षात्कार की पुष्टि तैत्तिरीय-ब्रह्मानन्द वल्ली, अनु० २, छन्द १-२ के द्वारा होती है—

तस्माद् वो एतस्माद् अन्नरसमयात्, अन्योऽन्तरे आत्मा-प्राणमयः तेनैषपूर्णः ।

स वाव एष पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुर्षविधः, ।'

अर्थात् इस अन्नरसमय स्थूलदेह से भिन्न अन्दर एक अन्य आत्मा है जो प्राणमय है। उस प्राणमय से यह स्थूलदेह परिपूर्ण है। वह इस 'प्राणमय' स्थूलदेह के समान पुरुषाकार ही है। इस स्थूलदेह के पुरुषाकार के सदृश ही यह प्राणमय-पुरुषविध है—ठीक उसके अनुरूप है। इसी प्रकार आगे इसी वल्ली में पंचकोशों का वर्णन है जो सब पुरुषाकार रूप में ही इस मानवदेह में व्याप्त हैं। समाहित होकर देखने पर यह धवल मेघ वा 'छायापुरुष' के समान ही वर्ण का हल्का, ज्योतिर्मयवाष्प के बने गुब्बारे के समान अंग-प्रत्यंग सहित मानवाकृति वाला इन चर्मचक्षुओं से अदृश्य है, किन्तु व्युत्थान के जाग्रतकाल में स्थूलदेह को व्याप्त करके ठहरा हुआ है। ध्यानावस्था में यद्यपि यह स्थूलदेह को त्याग नहीं देता, तथापि स्थूलदेह से भिन्न दीखता है, और 'सत्वगुण' की बहुलता से शुभ्र-पारदर्शी, रजो बहुलता में स्वर्ण-आभायुक्त, और तमःआधिक्य में धूम्रवर्ण का भासता है। ध्यानी इसको 'दिव्यनेत्र' से समाधि में स्पष्ट देखते हैं। मरण के पश्चात् स्थूलदेह के साथ ही यह 'प्राणमयकोश' भी अपने कारण-भूत 'वायुमहाभूत' में जा मिलता है।

प्राणों की क्रिया का दर्शन—इन प्राणों की क्रिया का दर्शन अपनी 'दिव्य-दृष्टि' के द्वारा स्थूलदेह को आधार बना कर और ध्यानवस्थित होकर साक्षात्-रूप से किया जाता है। पूर्वतः स्थूलदेह के विषय में इतने विशदरूप से लिखने का तात्पर्य यह है कि स्थूलदेह-वासी प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि ज्योतिष्मान् पदार्थों का स्थूलदेह को आधार बना कर ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है; और इन की क्रियाएं भी ध्याना-वस्थित दशा में 'दिव्यदृष्टि' द्वारा देखी जा सकती हैं क्योंकि ये सब सूक्ष्मतत्व देह के ही विभिन्न अंगों में वास करते हैं। जैसे हमारे स्थूल देह के स्थूलभाग मांस, अस्थि आदि स्थूल आहार के सेवन से पुष्टि एवं शक्ति पा कर कार्य कर रहे हैं, उसी प्रकार श्वास-रूप वायु के आहार से देहव्यापी 'प्राण-शक्ति' शरीर में कार्य कर रही है। मुख से लेकर हृदयपर्यन्त न्युषित 'मुख्यप्राण' नथुनों से अन्तःप्रविष्ट होने वाले 'श्वासरूप वायु' का आहार पाकर फेफड़ों में रक्त-शोधन और ऊष्मा-उत्पादन का कार्य करता है। जब देह के स्थूलभाग 'फुफ्फुसों' में वह 'प्राणशक्ति' बंधी या स्थित हो तभी इस क्रिया का दर्शन होता है। यहाँ पर ऊष्मा की अनुभूति फेफड़ेगत 'त्वचा' तथा रक्तशोधन की प्रक्रिया का दर्शन—काले से मलिन रक्त को लाल बना देने की क्रिया का दर्शन

'दिव्यनेत्र' के द्वारा होता है । ये दोनों ही बातें मिलकर हमारे विज्ञान को पूर्ण बनाती हैं।

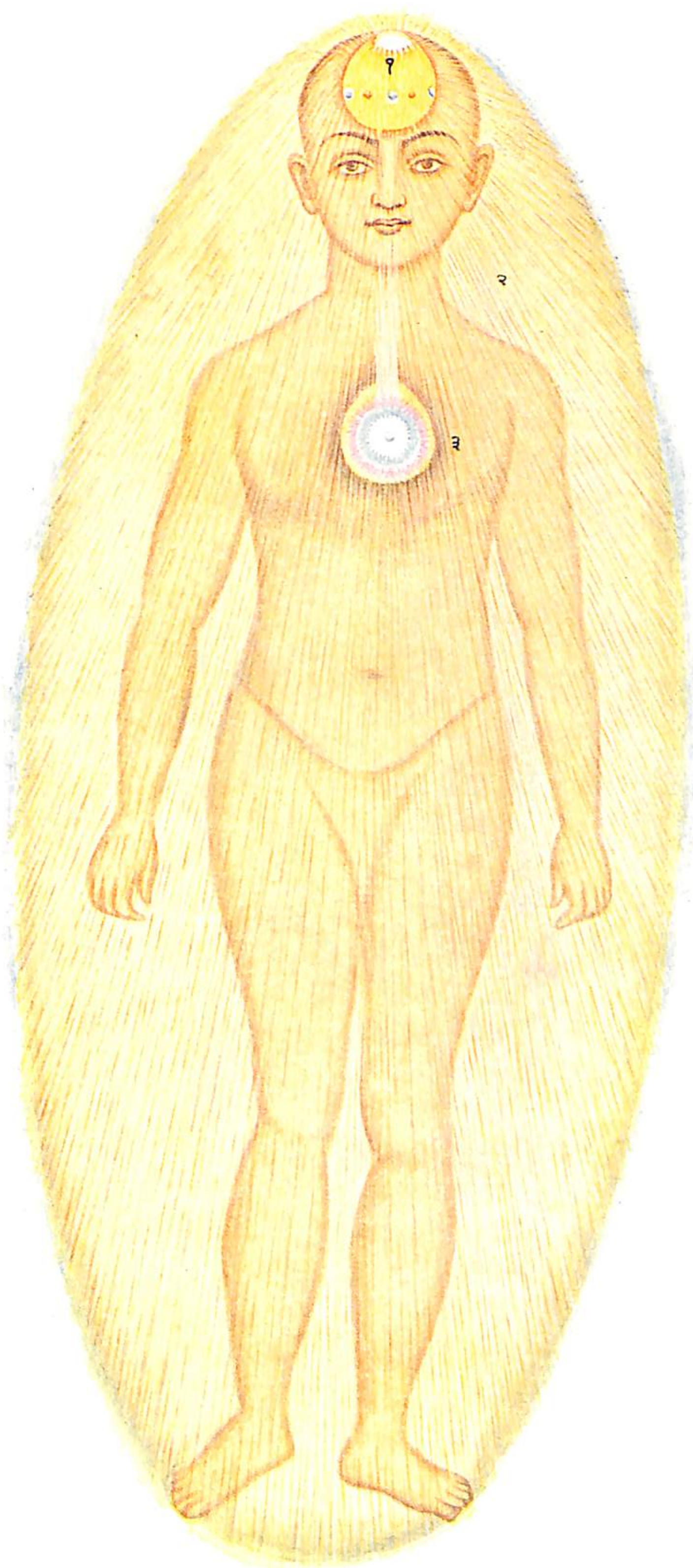
इसी प्रकार अगला 'समान-प्राण' श्वास-रूप आहार को प्राप्त कर आमाशय में पड़े आहार को गीला करता है । पुनः वहाँ की पेशियों के द्वारा पीसी जा कर लेही-सा बनाया जाता है, और पित्ताशय से पित्त को एवं यकृत्-प्लीहा आदि अवयवों से वहाँ के रसों को पक्वाशय में एकत्रित करता है । अनंतर, उन्हें तद्रूप बना कर इस रस को—रक्त को किस प्रकार देहांगों में विभक्त करता हुआ उन्हें पुष्टि देकर अपने 'समान' नाम को चरितार्थ करता है । इससे आगे 'अपान-वात' आँतों में आए उस अर्द्ध पक्व आहार का परिपाक कर के 'गुदा' की ओर धकेलता जाता है । वृक्क इस अपान-प्राण की सहायता से रक्त को कैसे स्वच्छ करते हैं, और रक्त में से मूत्र छन कर मूत्राशय में जा कर कैसे एकत्रित होता है ? एवं रस-रक्तादि के सारभूत 'शुक्र' का निर्माण कैसे होता है ? फिर मूत्रपुरीष आदि का विसर्जन कैसे करता है ? आपादतल समस्त मांसपेशियों को कैसे गति देता है ? और किस रूप को धारण कर के इसकी 'अपान' संज्ञा बन जाती है ? ऐसे ही 'उदान-' 'व्यान' आदि सब प्राण तथा उपप्राण अपने-अपने कार्यों को किस-किस प्राण की सहायता से देह-संचालन में सहयोग दे रहे हैं—यह सब कुछ बड़ी तीव्र दृष्टि से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता है; जिस से हमारी बुद्धि कुशाग्र बने और निर्भ्रान्त यथार्थ विज्ञान की प्राप्ति हो । इस प्रकार इन्हें साक्षात् करते समय आश्चर्य का अन्त नहीं रहता, बुद्धि इस चमत्कार से चकित रह जाती है । साधकवृन्द ! आप स्वयं भी यह सब कुछ और इससे भी अधिक सूक्ष्म और आश्चर्य-जनक व्यापार अपने इसी पिण्ड में ध्यानाभ्यास से देखेंगे ।

मन और स्थूल तथा सूक्ष्म प्राण का पारस्परिक सम्बन्ध—यहां पर विज्ञानात्मक एक अन्य तथ्य को समझ लेने की आवश्यकता है और वह यह है कि—प्राणतत्व हमारे देह में—देहांगों में एवं देह के अन्दर फैले गतिवाहक सूत्रों से व्याप्त है, तथा इन सूत्रों में 'मनोमयकोश' भी अपनी रश्मियों के द्वारा देह भर में व्याप्त है । तांबे के तार में व्याप्त होकर जैसे विद्युत् एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा कर यत्र-तत्र लगे विभिन्न बल्वों में जाकर अपना रूप' प्रकाश के रूप में प्रकट करती है, इसी प्रकार आत्मिक केन्द्र से चली जीवनी-रूपी यह सूक्ष्म प्राणशक्ति, हृदयगत 'आनन्दमयकोश' में से होती हुई मस्तिष्कगत 'विज्ञानमयकोश' तथा 'मनोमयकोशों' को परितृप्त करती हुई 'प्राणमयकोश' के माध्यम से स्थूलदेह में पहुँच कर अपना तेज प्रकट करती है। जैसा कि *चित्र ८ में स्पष्ट किया है । और यह तेज 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' के रूपों में सर्वत्र फैल कर मानव के समस्त भोगों का सम्पादन करता है । इस ज्योति वा शक्ति का प्रकाश 'अन्नमयकोश' में वर्णित 'चक्रों' में विशेष रूप से उद्भासित होता है । ये कोश

* चित्र सं० ८ का विवरण :—

प्राणमय कोश के साथ सूक्ष्म तथा कारण शरीर का सम्बन्धः—

प्राणमय कोश ने अपनी रश्मियों से अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों को आच्छादित किया हुआ है ।



चित्र संख्या ८
प्राणमयकोश का सूक्ष्म तथा कारण शरीर का सम्बन्ध

भी क्रमशः स्थूलता को त्यागते हुए सूक्ष्म होते गए हैं जैसे 'अन्नमयकोश' सब से स्थूल और इसी क्रमिकरूप से 'आनन्दमयकोश' सब में सूक्ष्म है, और ये सब परस्पर इतनी घनिष्टता से आबद्ध हैं कि जीवित-काल में इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। किन्तु इन सब की शक्ति अपने-अपने केन्द्रों में एकत्रित की जा सकती है, जैसे सम्पूर्ण ज्ञान एवं क्रियाशक्ति का केन्द्र हृदयगत अन्तःकरण हैं। निर्बीज समाधि-असम्प्रज्ञात अवस्था में, जब कि 'आत्मा' स्वरूप में स्थित होता है, तब यह देह सर्वथा निश्चेष्ट सा, बुद्धि शान्त, एवं सब इन्द्रियां-मन-प्राण स्तब्ध-से हो जाते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्कगत 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमयकोशों' के केन्द्रों में अधिकाँश रूप में 'ज्ञान' तथा क्रिया को रोका जा सकता है, जैसे, सविचार और निर्विचार समाधियों की स्थिति में 'प्राणमय' और 'मनोमयकोशों' की क्रिया शिथिल तथा अवरुद्ध के समान हो जाती है। अन्यथा ये समाधियाँ हो ही नहीं सकतीं। यथा विद्युत्-प्रवाह को केन्द्र में रोक देने पर अगले प्रदेश में वह प्रवाह नहीं जाता, रुक जाता है; तथा जिस-जिस प्रदेश का स्विच बन्द कर दिया जाता है उस-उस स्थान में प्रकाश भी नहीं होता, इस से मिलती-जुलती स्थिति उपर्युक्त समाधियों में होती है। ऐसे ही 'चित्त-रूपी' स्विच को बन्द कर देने पर ज्ञान और क्रिया का प्रवाह अवरुद्र-सा या मन्दतम पड़ जाता है जब कि असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इसी तरह 'बुद्धि' के स्विच को बन्द कर देने पर 'विज्ञानमयकोश' का व्यापार भी ठप्प हो जाता है जैसे तमःप्रधान समाधि अथवा सुषुप्ति में ज्ञान का कुछ भी आभास नहीं मिलता। एवं 'मन-रूपी' स्विच को बन्द कर देने पर इन्द्रियविषयक आदान प्रदान एवं 'प्राणमयकोश' और 'अन्नमयकोश' के कार्य शिथिल पड़ जाते हैं—यथा निद्रा में स्थूल देह निश्चेष्ट हो कर पड़ जाता है—किन्तु आन्तरिक रक्तपरिभ्रमण, अन्नपचन आदि के एवं श्वास-प्रश्वास के कार्य तो होते ही रहते हैं। जाग्रत् अवस्था में प्राण से मिला अन्तःकरण ही 'वृत्तिरूप' से बहता हुआ देह के विभिन्न भागों में पहुँचकर ज्ञान और क्रिया का संचार रक्तप्रवाह के साथ-साथ करता रहता है। इसी पारस्परिक घनिष्ठता के कारण प्राणशैथिल्य से और मानसिक शिथिलता से प्राण में शिथिलता तो आ जाती है, किन्तु सर्वथा 'स्थूल प्राण' का अवरोध हो जाए—यह बात 'साक्षात्कार' एवं 'बुद्धि' संगत नहीं है। अर्थात् जिस वेग से जाग्रत्-काल में प्राण, मन आदि तत्व कार्य करते हैं—शारीरिक व्यापार करते और कराते हैं, वह वेग ध्यान-समाधि-सुषुप्ति-निद्रा में शिथिल या सूक्ष्म पड़ जाता है। '**प्राणः सुप्तेषु जाग्रति**' यह उपनिषद् वचन भी इसी तथ्य को प्रकट कर रहा है। विशेषरूप से 'चित्त-निरोध' पर ही यह निर्भर है कि प्राण, मन और काया कितने निश्चेष्ट बनते हैं। 'चित्त-निरोध' जितना अधिक होगा उतने ही अधिक ये सब भी निश्चेष्ट प्रतीत होंगे। फलतः इस समस्त विक्षेप के शान्त होने पर जीवात्मा 'स्व-स्वरूप' का तथा आभ्यन्तर में विद्यमान, परमात्मज्योति 'भगवान्' का साक्षात्कार असम्प्रज्ञात समाधि में ही अबाध रूप से कर सकता है।

प्राणमय कोश के सम्बन्ध में एक शंका का समाधान :—

शंका—'प्राणमय-कोश' को ही इतना महत्व क्यों दिया गया है; जबकि यह वायुभूत का ही कार्य-विशेष है और 'स्थूल-शरीर' के निर्माण में अन्य भूतों के समान ही सहकारी कारण है ?

समाधान—इस स्थूल शरीर में स्थूल प्राण ही मुख्य रूप से जीवन का आधार बना हुआ है। शरीर की रचना होते समय वायुभूत ही मुख्यरूप से इसमें सहकारी उपादान-कारण के रूप में सम्मिलित होता है। प्रधान रूप से अन्नमयकोश के जीवन का आधार होने एवं स्थितिस्थापक होने से ही इसे 'प्राणमयकोश' की संज्ञा दी गई है। इसे वायवीयकोश भी कह सकते हैं, क्योंकि इसका उपादान-कारण वायु ही है अथवा वायु से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। वायु का कार्य होने से प्राण के रूप में या जीवनी-शक्ति के रूप में वायु इस स्थूल शरीर का या अन्नमयकोश का संचालन करता है तथा वायुभूत का कार्य होने से इस शरीर का सहकारी उपादान कारण भी है। ये पाँच भूत मिल कर या संघात को प्राप्त होकर इस स्थूल शरीर की रचना करते हैं। आकाश अवकाश प्रदान करता है; पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुभूत मिल कर स्थूल शरीर का निर्माण करते हैं वायु भूत प्राण रूप होकर जीवन का आधार बन कर इस स्थूल अन्न-मय शरीर में क्रिया या गति का मुख्य हेतु बना, इसीलिए इसकी 'प्राणमय कोश' संज्ञा हुई। इसी प्रकार अग्नि भूत परिणाम को प्राप्त होकर कार्य रूप से शरीर में प्रधानतः जठराग्नि के रूप में एवं गौणतः समस्त शरीर में व्याप्त होकर तेज के रूप में, उष्णता के रूप में, पाकज रूप धर्म के रूप में या समस्त पदार्थ, रस, एवं धातुओं को पकाकर अन्य रूपों में परिणत करने में जीवन का आधार बन कर सहकारी उपादान-कारण होकर आग्नेय-कोश के रूप में स्थित हुआ है। यद्यपि शास्त्रकारों ने इसकी प्राणमय-कोश के समान अग्निमय या आग्नेय-कोश की संज्ञा नहीं रखी तथापि प्राणमयकोश के समान ही यह आग्नेय-कोश भी जीवन का आधार बना हुआ है। जिस प्रकार वायु, अग्नि, परिणाम को प्राप्त होकर शरीर के जीवन का आधार बने हुए हैं, इसी प्रकार जल का कार्य होने से जलीय-कोश भी शरीर के जीवन का आधार बना हुआ है। जल के सात्त्विक भाग ने सहकारी-उपादान कारण होकर सम्पूर्ण शरीर को संगठित किया है। रस-रुधिर या रज-वीर्य के रूप में परिणाम भाव को प्राप्त होकर जीवन का आधार बना हुआ है। प्राण तथा जठराग्नि जिस प्रकार से शरीर में व्याप्त होकर ठहरे हुए हैं, इसी प्रकार सात्त्विक जलभूत भी परिणाम भाव को प्राप्त होकर कार्यरूप से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्थित हुआ है। यह भी अन्य भूतों की भाँति पार्थिव शरीर के लिए एक प्रकार के कोश जैसा ही है। अतः इसे जलीय-कोश की भी संज्ञा दे सकते हैं। न्याय-शास्त्रकार स्थूल शरीर में मुख्य रूप से पृथ्वी को ही उपादान कारण मानते हैं। अस्थि इत्यादि जो ठोस पदार्थ इस शरीर में हैं, ये सब सात्त्विक पृथ्वीभूत ही परिणामभाव को प्राप्त होकर इस अस्थि इत्यादि के रूप में शरीर में स्थित हुआ है, इसलिए इसकी भी 'पार्थवकोश' संज्ञा हो सकती है। इसने भी जल, अग्नि, वायु अर्थात् जलीय, आग्नेय, वायवीय कोशों को अपने गर्भ में धारण किया हुआ है। जिस प्रकार यह स्थूल, सूक्ष्म पदार्थों को अपने गर्भ में धारण कर लेता है उसी प्रकार सूक्ष्म भी स्थूल पदार्थो को अपने गर्भ में धारण कर लेता है। अतएव इन चारों की भी कोश संज्ञा हो सकती है यद्यपि शास्त्रों में प्राणमय-कोश का ही मुख्यरूप से वर्णन किया गया है। तथापि इनको भी कोश संज्ञा दी जा सकती है।

ये पाँचों कोश पंचभूतों के सात्त्विक भाग के ही कार्य हैं। ये सब परस्पर सम्बद्ध या संगठित होकर मानव के भोग एवं मोक्ष का हेतु बने हैं। प्रत्येक कोश एक

2900-32

दूसरे के आधार पर ठहरता है, स्वतन्त्र या निराधार होकर कोई भी कोश कुछ भी कार्य नहीं कर सकता है। जैसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आनन्दमय को 'कोश' संज्ञा मानते हैं वैसे ही स्थूल शरीर अर्थात् पार्थव-कोश के अन्तर्गत जलीयकोश, आग्नेय-कोश, वायवीय-कोश की भी 'कोश' संज्ञा मानने में क्या आपत्ति है ? वायु की प्रधानता होने से केवल प्राणमयकोश का ही व्यवहार किया है। हमने भी शास्त्रकारों की एकता को सुस्थिर रखने के दृष्टिकोण से प्रधान और प्राणमय' कोश की चर्चा की है, और जलीय तथा आग्नेय-कोश का भी प्रासङ्गिक सङ्केत करना समुचित ही समझा है। प्रामाणिक शास्त्रों में 'जलीय' और 'आग्नेय' तत्त्व जब 'वायवीय तत्त्व' में मिलते हैं तभी तीनों मिले हुए तत्त्वों, का 'प्राण'—इस संज्ञा से व्यवहार किया है।

इति श्रीमदखण्ड ब्रह्मचारि योगिप्रवर श्री व्यासदेव महात्मः-प्रणीते
आत्म-विज्ञाने सुभाषाविभूषिते
प्राणमय कोषो नामा द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः।

—:o:—

ॐ

अध्याय : : ३

मनोमयकोश

और उसका विज्ञान

अन्तःकरण चतुष्टय

इसके अङ्गों की व्याख्या, विश्लेषण तथा वृत्तियों का वर्णन❀।

सूक्ष्मशक्ति का प्राबल्य—पंचमहाभूतों से निर्मित कठोर 'देह-दुर्ग' के दोनों खण्डों को हम पार कर आए हैं; किन्तु ये तो उस दिव्यशक्ति के आधारभूत आवरण हैं—रहने के स्थान हैं, जिन के अन्दर वह 'चेतन' छिपा बैठा है। इनकी विजय तो ऐसी ही समझनी चाहिए जैसे पाषाण शिलाओं में छिपी अग्नि पर दौड़ते बालक अपने

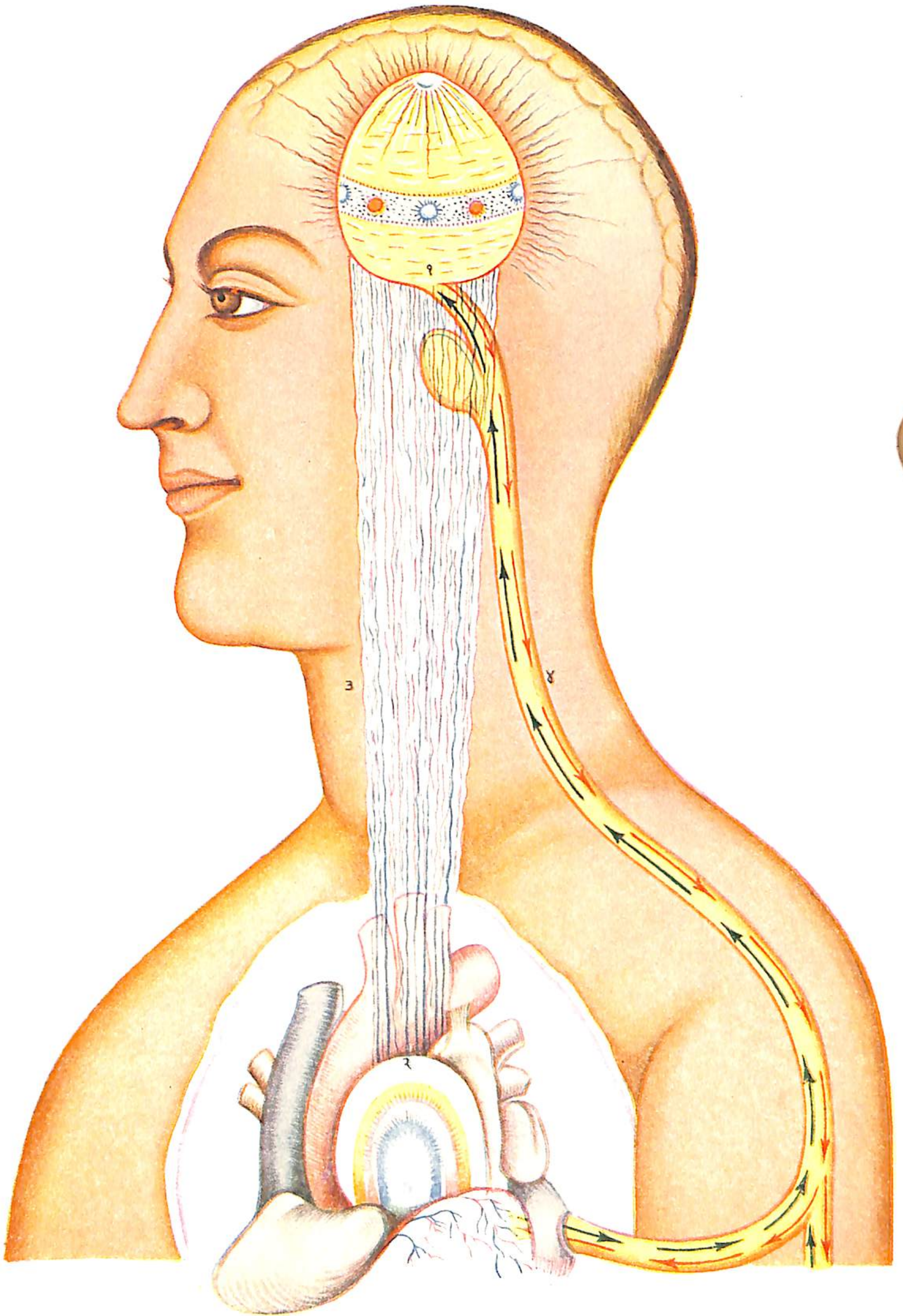
❀ चित्र संख्या ६ का विवरण :—अन्तःकरण चतुष्टय का परस्पर सम्बन्ध।

१. पीत वर्ण अण्डाकृति के समान यह बुद्धि का मण्डल है जिसके शिखर पर शुक्रतारे के समान मन का मण्डल है। बुद्धि मण्डल के मध्य में श्वेत वर्ण के ज्ञानेन्द्रियों और सन्तरीय वर्ण के कर्मेन्द्रियों के केन्द्र हैं।

२- तिरछी ओर से मध्य से काटा हुआ हृदय जिसमें श्वेत वर्ण का हृदयाविछिन्न ब्रह्म का मण्डल है, जो पीत वर्ण के सूक्ष्म प्रकृति के मण्डल, गुलाबी वर्ण के सूक्ष्म प्राण के मण्डल, नीलाभ वर्ण के अहंकार के मण्डल व अतिशुभ्र श्वेत चित्त के मण्डल तथा चित्तस्थ जीवात्मा को लेकर स्थित है।

३- इन रश्मियों द्वारा हृदयस्थ ६ पदार्थों सहित (आनन्दमय कोश) कारण शरीर व ब्रह्मरन्ध्र गत १७ पदार्थों सहित (मनोमय, विज्ञानमयकोश) सूक्ष्म शरीर का परस्पर सम्बन्ध दिखाया गया है। नील वर्ण, श्वेत वर्ण तथा रक्त वर्ण की रश्मियों द्वारा हृदयस्थ चित्त, अहंकार व ब्रह्मरन्ध्रगत बुद्धि, मन में हो रहे परस्पर संस्कारों के आदान- प्रत्यादान की प्रक्रिया का दर्शन।

४- पृष्टभाग में हृदय से मस्तिष्क तक पीतवर्ण की सुषुम्ना नाड़ी का सम्बन्ध दर्शाया है जिसमें हरित नील वर्ण व रक्त वर्ण के वाणों के द्वारा ज्ञान तथा क्रिया का गमनागमन दर्शाया गया है।



चित्र संख्या ६

अन्तःकरण चतुष्टय का परस्पर सम्बन्ध

भोलेपन से यह समझ लें कि हमने अग्नि को वश में कर लिया अथवा जीत लिया है। वे यह नहीं जानते कि इन पाषाणों में छिपी अग्नि दुर्बल नहीं है, और जब वह अग्नि अपने विशाल रूप को प्रकट करती है तब 'दुर्निवार' होती है। उस विद्युत् रूपा सूक्ष्म अग्नि की महत्ता को वे वैज्ञानिक जानते हैं जिन्होंने अनुसन्धान करते हुए एक 'अणु' में अन्तर्निहित-गुप्त आग्नेय शक्ति के सूक्ष्मभाव 'इलेक्ट्रोन' (विद्युत्-अणु) तथा इस के समीपस्थ, इस को फाड़ने वाली शक्ति 'प्रोटीन' को जाना और इस रहस्य को जान कर, अतिविनाशकारी 'अणु-बम' बना कर जगत् को भयभीत कर दिया है। इस दृष्टान्त के अनुसार मानव के 'अन्नमयकोश' तथा 'प्राणमयकोश' अपने उत्पादक 'शक्ति-रूप' उन 'सूक्ष्मभूतों' की अपेक्षा देखने में यद्यपि महान् तथा कठोर दीखते हैं, तथापि उन सूक्ष्मतत्त्वों की शक्ति के सामने दुर्बल हैं। इसलिए 'सूक्ष्मतत्वों' से निर्मित 'सूक्ष्मशरीर' का विज्ञान तथा विजय 'स्थूलशरीर' की अपेक्षा 'कठिनतर' है। हमारा 'सूक्ष्म-शरीर', जो शक्ति-प्रसारण का केन्द्र है—किन तत्वों से, किस प्रकार बना है, इसी रहस्य को समझाने के लिए हम यह—'अन्तःकरण-चतुष्टय' नामक प्रकरण लिख रहे हैं। सृष्टि में हमारे देह की तथा देह में रहने वाले इन 'सूक्ष्म' और 'कारण' शरीरों की उत्पत्ति किस क्रम से हुई है, इसको बिना जाने साधक अगले 'कोषों' में प्रवेश नहीं कर सकेंगे तथा उन तत्वों से कार्य नहीं ले सकेंगे, इस बात को ध्यान में रखते हुए 'सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम सूत्र रूप से दर्शाते हैं,

सृष्टि उत्पत्ति क्रम में मानव के स्थूल देह का स्थान—सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, नित्य, चेतन, सर्वव्यापक 'ब्रह्म' तथा सत्त्व, रज, तम इन गुणों की सम्मिश्रित साम्यावस्था रूप प्रकृति का संयोग सम्बन्ध नित्य है, क्योंकि ये दोनों नित्य हैं। प्रलय के पश्चात् जीवात्माओं के भोगवशात् जब भगवत ईक्षण इस प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है तब यह प्रकृति विषमभाव को प्राप्त होकर त्रिगुणात्मक कार्य-जगत्की उत्पत्ति करने लगती है। यद्यपि ब्रह्म और प्रकृति इन दोनों नित्य पदार्थों का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक रूप से नित्य है, अतः प्रलयकाल में भी इस सम्बन्ध का अभाव नहीं होता। यह सम्बन्ध केवल अव्यक्त हो जाता है जैसे निद्राकाल में जीवात्मा के जाग्रत अवस्था के स्थूल व्यापारों का अभावमात्र हो जाता है। इसी प्रकार प्रलयकाल में ब्रह्म के स्थूल व्यापार का अभाव मात्र होता है। जब यह प्रकृति अपने साम्य रूप का परित्याग करती है तब कार्य के रूप में सर्वप्रथम महा आकाश 'दिशा' काल और महत सत्व महत रज महत तम ये पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इनमें महत सत्त्व महत रज और महत तम अन्तःकरण चतुष्टय के उपादान कारण होते हैं। वह इस प्रकार कि—प्राकृतिक नियमानुसार त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों ही गुण न्यूनाधिक रूप में अवश्य विद्यमान रहते हैं। कोई एक या दो गुण भी किसी पदार्थ के निर्माण करने में समर्थ नहीं होते। इसी आधार पर इस महत के भी त्रिगुणात्मक भेद होते हैं:—

१. विशुद्ध 'महत्त सत्त्व' जिस में 'सत्त्व' का भाग मुख्य होता है—'समष्टि-चित्त' को उत्पन्न करता है, और जीवमात्र का व्यष्टि 'चित्त' इसी का कार्यात्मक एक सूक्ष्म—छोटा अंश है। इस कारण सब 'व्यष्टि चित्तों' का उपादानकारण यह

'समष्टि-चित्त' ही है। यह एक कार्यात्मक अंश❀ ही प्रत्येक जीवात्मा को भोग देने के लिए 'स्व-स्वामी भाव सम्बन्ध' से संयुक्त होकर बिम्ब-बिम्बी भाव को प्राप्त होता है।

२. तब महत रज से 'राजस' भाग की अधिकता हो जाने के कारण अगले उत्पन्न होने वाले तत्त्व का नाम 'समष्टि-बुद्धि' होता है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ विद्यमान 'बुद्धि तत्त्व' इसी का एक कार्यात्मक अंश है। इसलिए सब 'व्यष्टि-बुद्धियों' का उपादान-कारण यह 'समष्टि-बुद्धितत्त्व' ही है। यह अन्तःकरण चतुष्टय का दूसरा भाग है।

'समष्टिचित्त' और 'समष्टि-बुद्धि' में यह स्पष्ट अन्तर है, जिसका 'योग', साँख्य के आचार्यों ने वर्णन नहीं किया है। इसलिए इनके सिद्धान्त में चित्त और बुद्धि दोनों एक ही तत्त्व माने गए हैं। चतुष्टय अन्तःकरण को मानने वाले "अस्मदादि" इस भेद को स्वीकार करते हैं।

३. इसके आगे तीसरा परिणाम आत्मक महत तम समष्टि 'अहंकारों को उत्पन्न करता है। यही 'समष्टि-अहंकारों के नाम से प्रतिपादित होता है। यह तीन प्रकार का होता है और प्रत्येक 'व्यष्टि अहंकार' इन्हीं 'समष्टि-अहंकारों का एक-एक भाग है, और ये 'समष्टि अहंकार व्यष्टि अहंकारों का उपादान कारण है।

इस प्रकार ये तीन मुख्य भाग त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रथम परिणामों से प्रकट होते हैं।

४. इसके आगे फिर 'समष्टि अहंकारों में त्रिगुणात्मक-परिणाम होते हैं: सत्त्व अहंकार रजःअहंकार तमःअहंकार। तब सत्त्व अहंकार से पंचज्ञानेन्द्रियों की, राजस से कर्मेन्द्रियों की, **सात्त्विक और राजस** से 'मन' की उत्पत्ति होती है

उभयात्मकंमनः

(साख्य० अ० २। सू० २६।)

इसी उभयात्मकता के कारण 'मन' ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से कार्य कराने

❀ इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र अंश शब्द का जहां भी प्रयोग हुआ है वहाँ कार्यात्मक अंश समझना चाहिए। जैसे अनेक आभूषण स्वर्ण तत्त्व के कार्यात्मक अंश होते हैं, ऐसे ही व्यष्टिचित्त, व्यष्टि-अहंकार, व्यष्टि बुद्धि, व्यष्टि-मन, व्यष्टि-इन्द्रियां और व्यष्टि-पञ्चतन्मात्रिक मण्डल भी इन समष्टियों के ही कार्यात्मक अंश हैं, साक्षात् अंश नहीं। तभी तो प्रत्येक व्यष्टि-चित्त, संस्कार भेद से एक दूसरे से पृथक् बना हुआ है। इसी प्रकार बुद्धि आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिये। यहां पर अंश का तात्पर्य, कार्यात्मक अंश से ही है न कि साक्षात् अंश से, क्योंकि साक्षात् अंश में कोई परिणाम नहीं होता, किन्तु 'कार्यात्मक अंश' परिणामविशेष से ही उत्पन्न होता है।

हृदयावच्छिन्न ब्रह्म एवं कारणरूप प्रकृति के मण्डल भी अविकार रूप से घटाकाश-मठाकाश की भांति मान लिए हैं।

में समर्थ हो पाता है ? सत्व और रज के समभाग में होने से मन अति बलवान्, अति वेगवान्, तीव्र क्रियाशील तथा शीघ्रकारी है। तमः अहंकार से 'पंचतन्मात्राओं' की उत्पत्ति होती है।

अन्तःकरण का अर्थ—अन्तःकरण का अर्थ है:—गुप्त या छिपे साधन, जो कार्य करते हुए भी स्थूल दृष्टि से दीख न पड़ें। 'जीवात्मा' भी इन्द्रियों से न दीखने वाला स्वयं सम्वेद्य 'तत्त्व' है। इसलिए वह जिन साधनों से अपना काम लेता है स्पष्ट ही वे भी सूक्ष्म तथा इन स्थूल इन्द्रियों से दीखने वाला नहीं होने चाहिएं—और वे हैं भी ऐसे ही। इन में से एक भाग तो कुछ स्थूल है जिसे हम 'सूक्ष्मशरीर' कहते हैं। इसके दो भागों में से एक 'क्रिया-प्रधान' भाग का नाम 'मनोमयकोश' और दूसरे 'ज्ञान-प्रधान' भाग का नाम 'विज्ञानमयकोश' है; किन्तु ये 'क्रिया' तथा 'ज्ञान' रूपी शक्तियां भी इन कोशों की अपनी शक्तियाँ नहीं हैं। ये दोनों शक्तियाँ जहाँ पर उत्पन्न होकर इन दोनों कोशों के मार्गों से स्थूलदेह को निरन्तर जा रही हैं, उसे 'कारण-शरीर' अथवा 'आनन्दमयकोश' कहते हैं। और उस प्रकाशात्मक,किन्तु जड़-रूप'आनन्दमयकोश' में ये शक्तियाँ कहाँ से, और कैसे उत्पन्न होती हैं,और किस क्रम से आकर समस्त'देह-दुर्ग'में अविर्भूत होने पर क्या-क्या कार्य कराती हैं; यह सब विवेचन इस अन्तःकरण-चतुष्टय' नामक संदर्भ में वर्णन किया गया है।

वर्णन-क्रम—इस भाग में भी हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर ही चले हैं और मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त के स्वरूप निर्माण आदि को दर्शा कर, इन 'करणों' के कार्य करने की सारणि अर्थात् जिन 'वृत्तियों' के द्वारा ये चारों तत्त्व कार्य करते हैं उन 'वृत्तियों' का वर्णन तथा अनुकूल वृत्तियों को प्रकट करने एवं प्रतिकूल वृत्तियों के निरोधक उपायों को दर्शाते हुए इस प्रकरण को समाप्त कर दिया है।

अन्तःकरण ही सब विज्ञान कराता है—सम्भव है कि आपको इस रहस्य का अभी तक ज्ञान न हो किन्तु यह मत भूलिए पिछले दोनों कोशों का दर्शन तथा जो विज्ञान आप प्राप्त कर आए हैं वह सब 'अन्तःकरण-चतुष्टय' की सहायता से ही कर सके हैं। अगले समस्त 'सूक्ष्मतर' विज्ञान का प्रत्यक्ष भी इन्हीं के द्वारा होगा, अतः इनके निर्माण, रंग, रूप, आकार, क्रिया आदि का ज्ञान प्रत्येक साधक को होना चाहिए; अन्यथा वह आगे बढ़ ही नहीं सकेगा। इसी दृष्टि को सम्मुख रख कर यह प्रकरण पृथक् लिखना पड़ा।

शास्त्रों का मन्तव्य—अन्तःकरण के विषय में शास्त्रों की मान्यताएं विभिन्न हैं। जैसे, 'न्याय' और 'वैशेषिक' अन्तःकरण का स्थानापन्न केवल 'मन' को मानते हैं और इसी से सब 'करणों' का काम चला लेते हैं। 'सांख्य' तथा 'योग' मन, अहंकार और चित्त, इन तीन को ही अन्तःकरण मानते हैं, और 'चित्त' में 'बुद्धि' का समावेश कर लेते हैं। उपनिषत्कार मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के संगठन को ही 'अन्तःकरण-चतुष्टय' का स्वरूप बताते हें—यह हमें भी स्वीकार है। अपने साक्षात्कार के आधार पर इन चारों के गुण, धर्म, कर्म, व्यापार भी निश्चित कर दिए हैं, जिस से इन चारों को समझने और प्रत्येक के व्यापार का प्रत्यक्ष-ज्ञान प्राप्त करने में साधक मात्र को सुविधा हो।

इन चारों के कर्म-व्यापार का निर्णय—सम्भवतः, इस व्यापार-विवेचन को सामान्य समझ कर अथवा इस ओर ध्यान न जाने के कारण ही साँख्य और योग ने भी 'अन्तःकरण-त्रयी' मान लिया हो; किन्तु इस त्रित्व-धर्म वाले अन्तःकरण से विज्ञान-प्राप्ति का कार्य पूर्ण नहीं होता। अतः 'चित्त' को बुद्धि से पृथक् मानना ही उचित है, और तभी 'विज्ञानमय' तथा 'आनन्दमयकोशों' का निर्माण सम्भव हो पाता है, एवं 'सूक्ष्मशरीर' और 'कारणशरीर' का पृथक्-पृथक् रूप से साक्षात्कार हो सकता है। उत्पत्तिक्रम में 'महत् सत्व के सात्विक अंश से समष्टि व्यष्टि: 'चित्त' की, और 'महत्' रज के भाग से समष्टि और उससे व्यष्टि 'बुद्धितत्व' की उत्पत्ति होती है। इसीलिए 'चित्त' और 'बुद्धि' ये योनों तत्व 'ज्ञान-प्रधान' हैं। 'अहंकार' के रजोऽंश और सत्वांश से 'मन', सत्वबहुल भाग से 'ज्ञानेन्द्रियाँ' और राजसिक भाग से 'कर्मेन्द्रियाँ' उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार 'अहंकार' का रजोगुणी अंश इन सब में आने से ये सब 'कर्म-प्रधान' हैं। 'मन' उभयात्मक होने के कारण साक्षात् रूप से केवल 'ज्ञानेन्द्रियों' तथा 'कर्मेन्द्रियों' से ही समस्त कार्य लेता वा कराता है, न कि बुद्धि से। इसी कारण दोनों प्रकार की इन्द्रियों को 'मनोमयकोश' से सम्बद्ध माना है, और उभय-इन्द्रियों से व्यापार कराने अथवा कार्य लेने की शक्ति रखने वाला 'मन' 'इन्द्रिय-राज' कहा जाता है। इस भाँति जब 'मन' उभय-इन्द्रियों के साथ मिल कर इस से कर्म कराता है तब इस संगठन की संज्ञा 'मनोमयकोश' होती है, और जब 'बुद्धि' इन मन-इन्द्रियों से कार्य लेती है तब इस की संज्ञा 'विज्ञानमयकोश' हो जाती है। अगले सूक्ष्म शरीर विषयक समस्त व्याख्यान का यही सार है।

त्रिगुणात्मक पंचतन्मात्राओं के द्वारा ही सूक्ष्मशरीरों का निर्माण, और उनके दिव्य विषयों का उपभोग भी होता है। वस्तुतः ये पंचतन्मात्राएं सूक्ष्म दिव्य विषय और सूक्ष्म पदार्थों के निर्माण में उपादान कारण हैं।

अन्तःकरण चतुष्टय का मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त के रूपों में कार्यभेद से सूक्ष्मशरीर और कारण शरीरों में विभाजन होता है। मन, बुद्धि, और दसों इन्द्रियाँ मिलकर जब संघात को प्राप्त होती हैं तब पंचतन्मात्राएं इस संघात को संगठित करने के लिए एक पंचतन्मात्रिककोश का निर्माण करती हैं। इस पंचतन्मात्रिक कोष के अन्दर विद्यमान मन, बुद्धि और दशों इन्द्रियों से बने संघात की संज्ञा 'सूक्ष्मशरीर' है, और यह संघात ही सब ज्ञान-विज्ञान सम्पादन का कार्य सम्पन्न करता है।

यहाँ पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि 'कारण शरीर' का निर्माण 'सूक्ष्मशरीर' से पूर्व हो चुकता है; और इस में चित्त तथा अहंकार दोनों 'जीवात्मा' के साथ मिलकर भोग-सम्पादन करते हैं। इस में प्रकृति ही 'उपादान कारण' के रूप में रहती है।

सात्त्विक तन्मात्राओं से देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, तथा स्थावरों के सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होते हैं। इन सूक्ष्मशरीरों में भी सात्त्विक, राजस आदि की तारतम्यता से कुछ-कुछ अन्तर या भेद होता है, जैसे स्थूल शरीरों में होता है। ये सूक्ष्मशरीर संकोच—विकास धर्म वाले होते हैं।

रजःप्रधान तन्मात्राओं से सूक्ष्मशरीरों के भोगों के लिए सूक्ष्मपदार्थों का निर्माण होता है। इन में रजःप्रधान तन्मात्राओं की मुख्यता होती है, शेष सहकारी होती हैं; और यह सूक्ष्मशरीर उन दिव्य-सूक्ष्मभोगों के उपयोग का भी एक साधन है जो कि स्वर्गलोक में भोगे जाते हैं। अर्थात् जीवित रहने के लिए भी सूक्ष्मशरीर पंच-तन्मात्रिक सूक्ष्म-पदार्थों का ही सूक्ष्म आहार ग्रहण करता है। अतः इस आवश्यकता की पूर्ति 'रजःप्रधान' तन्मात्राओं के द्वारा निर्मित भोग्य-पदार्थों से होती है।

तमःप्रधान तन्मात्राओं से स्थूल पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। ये महाभूत भी त्रिगुणात्मक हैं। इन पंचमहाभूतों के सात्त्विक भाग की मुख्यता और रजस-तमस् की न्यून मात्रा के सम्मिश्रण से देव, गन्धर्वादि देवयोनियों और मनुष्यों के शरीर बनते हैं; किन्तु पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि के शरीरों में फिर इन भूतों का राजस्, तामस् भाग बढ़ जाता है।

रजःप्रधान महाभूत लोक-लोकान्तरों के अन्तराल में—अन्तरिक्ष में निवास करते हैं जो कि प्राणियों के लिए भोग्य-पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। जैसे अन्तरिक्ष व्यापी वायु, अन्तरिक्ष में रहने वाले जल-कण और मेघ के रूप में विद्यमान जल; विद्युत् आदि के रूप के रहने वाली अग्नि एवं पृथिवी तत्व के कण, ये सब महाभूतों के रजःप्रधान रूप हैं।

तमःप्रधान महाभूतों से यह पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह आदि ठोस लोकपिण्ड बनते हैं, जो प्राणियों के वास से युक्त तथा रहित हैं। इसका विस्तार तो यथास्थान वर्णित किया जायगा। परंच जैवी-जगत् के पशु, पक्षी आदि भोक्तव्य अन्नादि पदार्थों की उत्पत्ति के पीछे यथासमय अमैथुनी देव, मानव-सृष्टि होती है, तभी मानव-देहों का वर्तमान आकृति में आविर्भाव होता है। आगे मैथुनी सृष्टि प्रवृत्त होती है। इस प्रकार सूत्र रूप से सृष्टि-निर्माण के वर्णन में 'मानव देह' का यह स्थान है; इसी भोग और मोक्ष दायक परम रहस्य मानव देह में जीवात्मा का आवास है। इसी तथ्य को आपको प्रत्यक्ष करना होगा। इस स्थूल देह के अन्दर छिपे उन 'करणों' की उत्पत्ति आदि के क्रम का विस्तार से वर्णन करते हैं, जिनसे जीवात्मा कार्य लेता है।

दर्शन तथा उपनिषद् आदि श्रद्धेय-ग्रन्थों में मन-बुद्धि,अहंकार,चित्त तथा अन्तःकरण के नाम आते हैं। इन ग्रन्थों के भाष्य भी हुए हैं। इनका 'मनन' तथा'निदिध्यायसन पूर्वक स्वाध्याय करते रहने पर भी हमें इन ऊपर कथित 'तत्वों' का स्पष्टीकरण अथवा ऐसा व्याख्यान दृष्टिगोचर नहीं हुआ जिस से इन के 'स्वरूप' 'कर्म-व्यापा' स्पष्टतः सन्मुख आ जायें। अर्थात्—अन्तःकरण के विषय में सब आचार्यों की समान रूप से एक-सी मान्यता देखने को नहीं मिली, और न ही इन मन, बुद्धि आदि के निर्माण, स्वरूप, स्थान, एवं धर्म-कर्म व्यापारों के विषय में पृथक् रूप से निरूपण किया दृष्टिगत हुआ है प्रत्युत सर्वत्र सम्मिश्रित सामान्य-सा उल्लेख ही देखने में आया है। इसलिए 'जीवात्मा' के अति निकटवर्ती इन 'करणों' पर निरन्तर ध्यानयोग के द्वारा अनुशीलन तथा अनुसन्धान पूर्वक साक्षात्कार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। तब वर्षों ऐसा करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकला उसे स्पष्टरूप से आगे दर्शाते हैं, क्योंकि 'आत्म-

साक्षात्कार' एवं समस्त विज्ञान के आधार-भूत मुख्यतम साधन तो ये ही हैं। इन में 'अन्तःकरण' तो 'अङ्गी' है और मन, बुद्धि, अहंकार चित्त, ये चार अङ्ग हैं।

कोशों के साथ इन चारों का सम्बन्ध—अन्तःकरण के इन चार विभागों में से 'चित्त' तथा 'अहंकार' का सम्बन्ध विशेष तथा साक्षात् रूप से हमारे 'आनन्दमय-कोश' अथवा 'कारणशरीर' के साथ है; एवं मन, बुद्धि, का सम्बन्ध 'सूक्ष्म-शरीर' के साथ है, जिसमें १० इन्द्रियां तथा 'पंचतन्मात्राओं' के साथ मनःसंयोग से बना 'मनोमयकोश' तथा मनोमय के साथ 'बुद्धि' के संयोग से बना 'विज्ञानमयकोश' संगठित रूप से विद्यमान हैं। इन में से सर्वप्रथम हम 'मन' का वर्णन करते हैं।

—:०:—

२०००

प्रथम अङ्ग

कर्म प्रधान मनस्तत्व

मानस तत्व—न्याय तथा वैशेषिक दर्शनकार 'मन' को **'यथोक्तत्वाच्चाणु'** (न्या० अ ३ आ० २ । सू०६३) इस सूत्र के अनुसार अणु मानते हैं, तथा इस के अस्तित्व का लक्षण—

युगपज ज्ञानाऽनुत्पत्तिर्मनसोलिंगम'

(न्याय० अ० १ । आ० १। सू० १३)

अर्थात् एक समय में एकट्ठे दो ज्ञानों को न होने देने वाला तत्व 'मन' है, ऐसा करते हैं । किन्तु इतने ही कथन से तो कुछ हस्तगत नहीं होता ।

१. मन का लक्षण—विषयमात्र के 'ज्ञान' का आदान-प्रदान करने वाला, सब इन्द्रियों से कार्य लेने वाला, इन्द्रियों का जो स्वामी है, वह 'मनस्तत्त्व', है; जिसकी सहायता के बिना न तो कोई ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान-सम्पादन कर सकती है; और न कोई कर्मेन्द्रिय क्रिया तथा कोई व्यापार करने में समर्थ है । इस शक्तिशाली तत्त्व की सहायता के बिना 'बुद्धि' विषय-विवेचन का, 'प्राण' क्रिया तथा जीवन के प्रसार का, 'स्थूल-शरीर' कोई कर्म-व्यापार नहीं कर सकते । अपनी शीघ्रकारीसामर्थ्य से प्रत्येक कार्य को ज्ञात न हो सकने वाली द्रुततम् गति से कर देने के कारण प्रतीत यही होता है कि 'मन' ने एक समय में ही अनेक कार्य कर डाले हैं । जैसे कि पचासों कागजों को बींधता हुआ एक 'सुआ' कागजों को बींधता तो क्रम से ही है, किन्तु क्रिया की द्रुतता से एक-दम बींधे गए प्रतीत होते हैं ।

२. **मन की उत्पत्ति**—सृष्टि के रचनाक्रम में 'महत्' तम के बाद समष्टि 'अहंकार', फिर 'समष्टि-अहंकारों' के रज और सत्त्व प्रधान अहंकार के संयोग से 'मन' की उत्पत्ति होती हैं । इस प्रकार मन में सत्त्वगुण के साथ रजोगुण भी है । अतः, यह 'मन' सत्त्व के प्रभाव से ज्ञानेन्द्रियों से तो ज्ञान सम्पादन कराने और स्वयं भी विषय के ज्ञान को ग्रहण' कर लेने एवं रजोगुणी प्रभाव द्वारा कर्मेन्द्रियों से कर्म कराने तथा स्वयं इन्द्रियों के द्वारा लाए हुए विषय एवं कर्मों से प्रतिबिम्बित होकर विषय-ज्ञान तथा कर्मों को तुरंत क्षणांश में ही स्थानान्तरित कर देने की अलौकिक सामर्थ्य से विभूषित है । 'मन' का उपादान कारण 'अहंकार' हैं, इसलिए अहंकार तो 'पिता' और मन 'पुत्र-सम' है । यह 'मन' भी सर्वथा तमोगुणहीन नहीं है ।

३. **मन का स्वरूप**—यह 'मन' अनुद्भूत-प्रकाश का एक लघु-सा 'पिण्ड' है, जिस में दाह तथा स्पर्श नहीं है। प्रकाश धर्म वाला और संकोच-विकासशील होने से यह 'मध्यम परिमाणी' है तथा यह सदा ही अपने स्थान पर स्थिरता से चमका करता है। त्रिगुण के प्रभाव से इसके रंग-रूप तथा कर्म में भेद होता रहता है; किन्तु मन का निजी स्वरूप शुभ्र चन्द्रबिम्बवत् अथवा शुक्रतारे के समान देदीप्यमान, वा कभी किसी झरोखे में से सूर्य किरणों के साथ आते-जाते चमकीले बिन्दुक (कण) के समान भी भासा करता है। विषयों को ग्रहण करते हुए विषयज्ञान से प्रतिबिम्बित होते समय 'मन' का वर्ण 'विवर्ण' होता रहता है। जैसे सात्त्विक कर्म कराने के समय यह 'मन' शान्त, चन्द्र बिम्बवत् सौम्य वर्ण होता है, भयंकर, क्रूर-घोर कर्मों को करते समय मन में से भयंकर रक्तवर्ण अथवा धूम्र-मिश्रित लाल रंग की रश्मियाँ निकला करती हैं, जैसे अनार के छूटने पर निकलती हैं, एवं भय तथा तामसिक प्रभाव में आकर मन संकुचित-मलिन-मुर्झाया-सा हो जाता है। एक देशी यह मन विषयों एवं क्रियाओं के आदान-प्रदान करने के अपने सब कर्म-व्यापार, अपनी रश्मियों का प्रसार करके स्वयं करता और इन्द्रियों से कराता है।

(इन अवस्थाओं के चित्र सं० ११ में देखें)

४. **मन का निवासस्थान**—मानव-मस्तिष्क के 'ब्रह्मरन्ध्र' नामक स्थान में, जिसे 'सहस्रार' वा 'सहस्रदल-कमल' किंवा 'दशमद्वार' भी कहते हैं, मानव का 'सूक्ष्म-शरीर' रहता है। यहीं पर स्थित स्वर्णिम ज्योतिर्मय अण्डाकृति पिंड 'बुद्धिमण्डल' के शिखर में 'मन' स्थित है।

(देखें, मनोमयकोश के चित्र सं० १० में।)

५. **मन का सम्बन्ध**—'मन' का सम्बन्ध विशेष रूप से इन्द्रिय-समूह, बुद्धि, तथा स्थूलदेह के साथ है। प्रति क्षण इन्द्रियों के द्वारा बाहर से लाये गये विषय-ज्ञान, क्रिया, सम्वाद तथा आन्तरिक सम्वेदनों से प्रतिबिम्बित होने के आदान कर्म फिर इन्हें 'बुद्धिमण्डल' में समर्पित कर देने के प्रदान कर्म और इसी प्रकार 'बुद्धितत्त्व' के द्वारा कृत-निर्णय तथा आदेशों का आदान कर के इन्द्रियों को प्रदान करने का कार्य करता है। इन्द्रियों से सब आदेशों का परिपालन कराने के लिए बुद्धि तथा इन्द्रियों में सदा सम्बन्ध स्थापित रखना अनिवार्य होने के कारण मन का सदा ही दोनों से सम्बन्ध रहता है। 'बुद्धि' की प्रेरणा के बिना 'मन' तथा अन्य भी कोई इन्द्रिय स्वतः कोई कर्म नहीं कर सकती। प्रत्येक विषय वा कर्म के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करके यह 'मन' जब 'बुद्धिमण्डल' में इनका निर्णय कराता है, उस समय ऐसा भासता है जैसे जल-कुण्ड में 'मीन' गतिशील हो कर विचर रहे हों। इस प्रकार 'बुद्धितत्त्व' की आज्ञा-पालन में सदा तत्पर बना 'मन' इन्द्रियों को भी ज्ञान और कर्म में प्रवृत्त रखता है। यह 'मन' मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त बुद्धि के साथ सहकारी बन कर रहता है इस का 'बुद्धि' तथा इन्द्रिय-समूह के साथ घनिष्टतम सम्बन्ध है, जो प्रतिक्षण बना रहता है, जैसे 'प्राण' का 'काया' के साथ है।

६. मन के त्रिगुणात्मक भेद तथा स्वरूप—संसार का प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से प्रत्येक समय किसी-न-किसी 'गुण' से प्रभावित रहता है। इस सार्वभौम नियम के अनुसार ही 'मन' भी इन से प्रभावित रहता है।

(क) सात्विक मन—शुभ्र चन्द्रबिम्बवत् सौम्य दीप्ति से युक्त, शान्त, स्थिर, क्रियारहित-सा; किन्तु बाह्य रूप में स्थिर दीखता हुआ भी, स्वाभाविक परिणाम स सदा परिणमित होते रहने वाला, विषयों तथा इन्द्रियों से असंग-सा 'प्रत्याहार' का प्रशान्तरूपतायुक्त होता है।

(ख) राजसिक मन—रजोगुण से प्रभावित 'मन' शुक्रतारे के समान प्रदीप्त किंचित् नीलिमा लिए, अपूर्व आभा युक्त, अतिचपल, द्रुततर गति युक्त, 'बुद्धि' तथा इन्द्रियों को भी चंचल बनाये रखने वाला, सुदूर देश तक को अपनी दिव्य-रश्मियों से आवृत्त कर लेने वाला, दिव्य-विषयों तथा इन के विज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियगण को अपनी दिव्य-शक्ति के सहयोग से विशिष्ट सामर्थ्य युक्त तथा दूरगामी बना देने वाला, विद्युत्-गति के समान शीघ्रकारी तथा सशक्त, चकाचौंध-दीप्ति युक्त होता है, और विज्ञान-ग्रहण के समय अति सतर्क एवं विशिष्ट दीप्तियुक्त प्रतीत होता है।

(ग) तामसिक मन—स्लेटी, धूम्र अथवा नीहार (कोहरे) जैसी मन्द आभा वाला, सत्यान (जी चुराने) के दोष से युक्त जड़वत्, और चिरकारी, देह को जड़वत्-निष्क्रिय बना देने वाला और इन्द्रियों पर भी जड़ता छा देने वाता होता है। इसके अतिरिक्त, सर्वत्र तम को आच्छादित करके देहेन्द्रियों को अकर्मण्य बना कर स्वयं भी अकर्मी बन, इन्द्रियों को भी ज्ञान तथा कर्म में प्रवृत्त न कर सकने की प्रवृत्ति युक्त होता है।

७. मन के धर्म-कर्म स्वभाव—**'चंचलत्वं मनोधर्मो, वह्न धर्मो यथोऽणता'** पद के अनुसार 'मन' सदा गतिशील, चंचल, चपल स्वभाव युक्त है। इसी क्रियाशीलता तथा शीघ्रकारिता गुण के कारण यह 'मन' प्रत्येक पदार्थ का 'क्रमिक' ज्ञान-विज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ होता है; किन्तु यह शीघ्रकारिता जब नियमित न रह कर उच्छृङ्खलता का रूप धारण कर लेती है तब किसी प्रकार का साक्षात्कार न करा कर ज्ञानोपलब्धि में बाधक वन जाती है। जैसा कि, नित्य ध्यान तथा समाधि के समय अथवा उपासना और आत्मचिन्तन के समय प्रायः साधक अनुभव करते हैं और आन्तरिक कष्ट से व्यथित हो जाते हैं। इस मनस्तत्त्व की आदान-प्रदान रूप मुख्य दो ही वृत्तियां हैं। इन्हीं को 'संकल्प-विकल्प' कह दिया गया है। मन, 'सन्देशवाहक' किंवा पत्रवाहक 'डाकिए' के समान सब सन्देशों को किसी भी इन्द्रिय के द्वारा गृहीत विषय, पदार्थ-ज्ञान और कर्म की 'तदाकारता'(वृत्ति) से उपरक्त होकर 'आदान' रूप करता हैं। पुनः इससे प्रतिबिम्बित सर्व पदार्थों का निर्णय कराने के लिए 'बुद्धिमण्डल' में बखेर देने वा इस बुद्धितत्त्व को अपनी 'तदाकारा वृत्ति' से रंग-सा देने का 'प्रदान' रूप व्यापार करता है। इसी प्रकार पुनः बुद्धि-द्वारा प्रदत्त निर्णय या आदेशों का आदान करना, उन्हें इन्द्रियों को प्रदान करना और स्थूल देह में यत्र-तत्र प्रसार तथा वितरण करा कर चरि-

तार्थ करना 'मन' का कार्य है। किसी प्रकार की कोई तर्क-वितर्क, टीका-टिप्पणी या विवेचन करने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि 'आनन्दमयकोश' गत 'चित्त' के सूक्ष्मतम अव्यक्त से व्यापारों का सम्पादन करने में कर्म-प्रधान तत्त्व 'अहंकार' है। अहंकार से उत्पन्न 'मनस्तत्त्व' भी क्रियाप्रधान है, और उधर विज्ञानमय' तथा मनोमयकोशों' की सब क्रियाओं को 'मन' सम्पन्न किया करता है। 'ब्रह्मरन्ध्र' की सभी क्रियाएं चित्तगत क्रियाओं से अपेक्षाकृत स्थूल तथा विस्तृत होती हैं। इसलिए 'मन' चित्त की क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करता, और न 'अहंकार' ही 'ब्रह्मरन्ध्र' के व्यापारों में कोई भाग लेता है। इस प्रकार 'अहंकार' और 'मन' दोनों ही 'कर्म प्रधान-तत्त्व' हैं। अधिक विस्तार से समझाने के लिए उपरिकथित सार का विस्तार यह हो सकता है, कि—यह 'मन' अपनी स्वाभविक क्रियाशीलता से सदा स्वयं गतिशील रह कर इन्द्रियगण-बुद्धि-प्राण-स्थूलदेह—सब को क्रियाशील बनाये रखता है; अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-सम्पादन करने में; कर्मेन्द्रियों को कर्म करने में; बुद्धितत्त्व को विषय-ज्ञान के निर्णय करने में प्राणों को ज्ञान-क्रिया तथा जीवन को सर्वत्र फैलाने में; और स्थूल देह को 'जीवात्मा' के स्थूलभोगों की प्राप्ति करने में प्रवृत्त किये रखता है तथा, स्वयं भी इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञान-कर्म-परम्परा को, 'बुद्धि' के साथ मिल कर प्रत्येक प्रकार के विषय-निर्णायक कर्म को, सब 'कोशों' की क्रिया तथा सम्वेदनों को प्रतिक्षण 'तदाकारता' से प्रतिबिम्बित करके अपनी स्वामिनी 'बुद्धि' को देने-लेने में सदा ही रत रहता है। साथ ही सब इन्द्रियों को अपनी दिव्यता प्रदान कर के उन्हें दूरगामी, पारदर्शी बनाना तथा उन में अज्ञात दूरी पर स्थित, छिपे पदार्थों को देखने, सुनने, सूंघने आदि की शक्तियां विकसित कर देना, दिव्य स्थूल-सूक्ष्म विषयों के उपभोग करने की योग्यता प्रदान कर देना और इन्द्रियों को उन विषयों के उपभोग करने के योग्य बना देना 'मन' का धर्म-कर्म है। जाग्रत् या स्वप्न, दोनों अवस्थाओं में प्रतिक्षण अपनी रश्मियों से सर्व 'कोशों' को आच्छादित रखते हुए अथक रूप से उनमें हो रहे व्यापारों से 'बुद्धि' को सदा अवगत रखना, तथा प्रत्येक विषय-ज्ञानादि से प्रतिबिम्बित होकर जल में फैले तैल-बिन्दुवत् बुद्धिमण्डल को इन प्रतिबिम्बों से अनुरंजित कर के सदा निर्णय कराते रहना 'मन' का स्वभाव है। बुद्धि का सदा सहकारी रहकर चिन्तन-मनन-निदिध्यासन कराना, बाह्य तथा आन्तरिक 'धारणा' तथा 'ध्यान' के समय शान्त-एकाग्र होकर विषयों का ज्ञान कराना, विषय-ग्रहण तथा बुद्धि के आदेशों को क्रियान्वित कराने के लिए अति विशाल रश्मियाँ फेंकना, एवं 'प्रत्याहार' के समय समस्त रश्मिजाल को समेट कर अणु-रूप' हो जाना—यह संकोच-विकासी धर्म भी मन का है। हृदय से उठते भावों तथा संस्कारों का आकर्षण कर के 'बुद्धिमण्डल' अथवा 'विज्ञानमयकोश' में भोगप्रदान के लिए उनको स्थापित कर देना, और इन्द्रियों को भोगने के लिए प्रेरित करना, अपनी अदम्य शक्ति से इन्द्रियों को पराक्रमी बना देना, त्रिगुण से प्रभावित होकर सम या विषमभाव तथा छोटे-बड़े आकार को धारण कर लेना आदि कर्म इस 'मनस्तत्त्व' का स्वभाव अथवा धर्म-कर्म तथा गुण है।

किन्तु अन्तकरण के चारों अंगों में सब से अधिक क्रियाशील होने के कारण इस 'मन' में शीघ्रकारिता' का गुण 'विशेष' है। इसी गुण के कारण इसकी अबाध गति

की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट होता है। इसलिए मनकी गति को दर्शा देना भी संगत तथा उचित प्रतीत होता है।

८. **मन की गति**—विश्व के सब गतिमान् पदार्थों में सर्वाधिक तीव्रतम अथवा द्रुततम् गति 'मन' की है। इसकी गति को 'काल' की गति के समान ही कहा जा सकता है। क्योंकि योगदर्शन के—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्'

(योग० पा० ३। सू० ५२)

सूत्र में क्षण-क्रम-परम्परा में संयम करने का निर्देश है। इस से जहाँ योगज-प्रज्ञा से भी दो ऐसे पदार्थों में भेद-ज्ञान न हो सके वहां इस क्षण-क्रम में संयम का अभ्यास करने से, भेद दीख पड़ता है। तो वह क्षण क्या है? इसे इस रूप में समझाया है कि—'द्रव्यों के परमाणुवत् लघुतम भाग के समान 'काल' की विभक्त न हो सकने वाली अविभाज्य गति की इकाई का अंश ही 'क्षण' कहा जाता है। और जो 'तत्त्व' ऐसे क्षणों के पूर्वापर क्रम-परम्परा को दर्शाता है वह 'मन' कम-से-कम 'काल' के समान गतिमान् तो अवश्य मानना ही पड़ेगा, अन्यथा 'क्षणों' से क्रम-भेदों का विभेद कैसे जाना जा सकेगा? इस के साथ ही 'मनोगति' अबाध भी है। आकाश-पाताल में सर्वत्र कहीं पर भी स्थित पदार्थों तथा परमाणु से लेकर परम-महत् पिंडों को दूरतम, समीपतम, छिपे-प्रकट, सब को जानने तथा दिखाने में भी समर्थ है। इसीलिए वैदिक ऋचाओं में मन को '**दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकम्**' कहा गया है।

एक सिद्धान्त-सदगति—एक 'ध्रुव-नियम' स्मरण रख लेना चाहिए, त्रिगुण समुदाय का एक अंश 'रजोगुण' सृष्टि के पदार्थमात्र में विद्यमान है। अतः जगत् का कोई भी पदार्थ कभी पूर्ण अचल नहीं होता, तो फिर अन्तःकरण के ये चारों अंग तथा इन्द्रियगण जैसे तैजस-दिव्यपदार्थ, जो कि अविनाशी तथा चेतन 'जीवात्मा' के संयोग परम्पराक्रम से सदा चेतन से बने रहते एवं क्रिया-रत रहते हैं, भला कैसे निश्चल हो सकते हैं? चेतन 'जीवात्मा' का 'चित्त' के साथ व्यवधानरहित निकटतम संयोग सम्बन्ध होने के कारण संयोग से उत्पन्न ज्ञान और क्रिया के रूप में प्रतिक्षण प्रादुर्भूत हो रहा 'सूक्ष्मप्राण' आमरण स्वयं गतिशील रहकर पाँचों कोशों के सभी तत्त्वों को सदा गतिमान् बनाए रखता है—क्षणभर को भी गतिविहीन नहीं होने देता। इस क्रिया के अभाव में मानव-जीवन एक क्षणभर भी स्थिर नहीं रह सकता। यहाँ तक कि 'कूटस्थ-आत्मा' भी चित्त-संयोग से 'चल-स्वभाव' भासता है। परम-पुरुष 'परमात्मा' के जड़-प्रकृति में नित्यव्यापक होने के कारण प्रकृति में सर्वत्र उत्पन्न हो रही क्रिया को देख कर ऐसा ज्ञात हो रहा है, कि—ईश्वर ही यह-वह, ऐसा-वैसा कर-करा रहा है। सर्वथा चल अचल एवं ध्रुव से दीखने वाले सूर्य-चन्द्र, तारागण, धरा, पर्वत आदि भी प्रति-क्षण हो रहे प्राकृतिक, 'अवस्थापरिणाम' से प्रभावित हैं, और ऐसी सब सूक्ष्मतम क्रियाएं तथा 'परिणाम-विशेष' 'दिव्यदृष्ठि' से देखने में आते हैं। इस त्रिगुण समुदाय को गति भगवत नियम 'ऋत्' अथवा सर्वव्यापी 'ब्राह्मीचेतना' के द्वारा प्रतिक्षण मिल रही है और मिलती जाएगी जब तक कि 'प्रलय' नहीं होती। इसी परमम्परागत गति-

क्रम के कारण जगत् का प्रत्येक पदार्थ चल-स्वभाव है; और एक 'ब्रह्म' ही कूटस्थ-नित्य, सत्य, अपरिणामी और अचल है।

दूसरा सिद्धान्त दूर का दिखना क्यों ?—सर्वत्र, सब पदार्थों में विद्यमान 'सत्त्वगुण' के कारण सूक्ष्मतम आकाश सहित, संसार का प्रत्येक पदार्थ दिव्य-दृष्टि' के द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन का विषय बन जाता है।

इस प्रकार अन्तःकरण-चतुष्टय का एक 'अंग' यह 'मनस्तत्त्व' दिव्यशक्ति-मय एवं क्रिया-प्रधान आदान-प्रदान मात्र कर्म करने वाला अनुद्भूतप्रकाश का एक छोटा-सा पिण्ड है, जो कि विवेचना शक्तिरहित ब्रह्मरन्ध्र में बुद्धि के साथ सहकारी बन कर रहता है।

—:o:—

द्वितीय अंङ्ग

ज्ञान प्रधान बुद्धितत्त्व

१. बुद्धि का लक्षण—'बोधनात्-बुद्धिः' समस्त ज्ञान तथा विज्ञान मात्र को ग्रहण करके, विभेदों के निश्चयात्मक रूप से निर्णायक तत्त्व की संज्ञा 'बुद्धिः' है; इस के पर्यायवाची शब्द—धीः, प्रज्ञा, मतिः, मनीषा (मनस्+ईषा), धिष्णा, शेमुषी, प्रेक्षा, उपलब्धिः, ज्ञप्तिः, मेधा, स्मृतिः, ज्ञान-प्रतिपत्, तथा बुद्धिः हैं, किन्तु एक गुणविशेष के कारण इसके योगप्रोक्त नाम 'ऋतम्भरा' 'प्रज्ञाऽऽलोक' 'प्रतिभा' आदि भी हैं। इस प्रकार सृष्टि के समस्त पदार्थों, रूप-रस आदि विषयों, और विषय-प्रभेदों को तर्क-वितर्क द्वारा काट-छांट कर इन सब के निश्चयात्मक रूप को दर्शाने वाला तत्त्व 'बुद्धि' कहलाता है।

२. बुद्धि की उत्पत्ति—सृष्टि के उत्पत्तिकाल में 'ब्रह्म' के ईक्षण रूप संकल्प विशेष से जो साम्यावस्था प्रकृति से एक प्रकाशात्मक तत्त्व 'महत्' सत्त्व उत्पन्न होता है।

१. सर्वोत्कृष्ट महत्तत्त्व से 'समष्टि-चित्त सत्त्व।'

२. महत रजोगुण से 'समष्टि-बुद्धितत्त्व' बनता है।

३. समष्टि महत तमोगुण से समष्टि अहं तत्त्व तीन पदार्थों के रूप में बनते हैं।

इसी 'समष्टि-बुद्धितत्त्व' का एक-एक कार्यात्मक अंश 'व्यष्टि-बुद्धि' के रूप से प्रत्येक देही के साथ मिद्यमान् है। अतः स्पष्ट है 'बुिद्धि' का उपादान कारण महत रजोगुण है।

३. बुद्धि का स्वरूप—यह 'बुद्धितत्त्व' भी समुज्ज्वल अनुद्भूतरूप-स्वच्छ-ज्योति का पारदर्शी अण्डाकृति पिण्ड वा पुंज है, जो सूर्य बिम्ब जैसा भास्वर, दाह तथा स्पर्श से रहित, संकोच-विकास शील, मध्यम-परिमाणी—त्रिगुण-धर्मी है। इस बुद्धि के दो स्वरूप हैं—

१. बुद्धि के विशेष 'ऋतम्भरा' स्वरूप की ज्योति अतिस्वच्छ, भास्वर तरलतायुक्त, प्रकृति पुरुष भेद की बोधक होती है।

२. साधारण बुद्धि में रजोगुणी चपलता के साथ तमोगुण की मलिनता भी बनी रहती है। इसी कारण इस बुद्धि का निर्णय निर्भ्रान्त नहीं होता।

४. बुद्धितत्व का निवास—पूर्वोक्त ब्रह्मरन्ध्र में है, जैसा कि चित्र सं० ६ पृष्ठ ६४ में दिया जा चुका है।

५. बुद्धितत्व का सम्बन्ध—साक्षात् रूप से 'बुद्धि' का सम्बन्ध सब कोशों के साथ नहीं है। प्रथम सम्बन्ध 'मन' के द्वारा सदा 'हृदय' से बना रहता है जिसमें स्थित 'आनन्दमयकोश' में अपने सेवक 'चित्त' 'अहंकार' और 'सूक्ष्मप्राण' सहित 'जीवात्मा' विराजमान है। संस्कारों के आगार 'चित्त' से प्रतिक्षण ही उठते रहने वाले भोगोन्मुख संस्कारों को हृदय तक फैली मानसिक रश्मियां आकृष्ट करके प्रतिक्षण बुद्धि-मण्डल में पहुँचाती रहती हैं। फिर यह बुद्धि अपने सहकारी 'मन' की सहायता से इन संस्कारों को स्थूल-मूर्त्त रूप देकर भोग्य रूप में परिणत करके मन द्वारा इन्द्रियों के उपभोग योग्य बना देती है। आगे 'मन' ही इन्द्रियगण, प्राण, तथा स्थूलदेह से निरंतर कार्य कराता है, पुनःबुद्धि इन्द्रियों के द्वारा बाहर से संगृहीत ज्ञान तथा भोग्य विषय का, जो मन के द्वारा लाये जा कर बुद्धि-मण्डल में पहुँचाए जाते हैं, उन्हें वह तर्क-वितर्क पूर्वक विवेचन, और सूक्ष्म-संस्कारों के रूप में परिणत करके हृदय निवासी 'चिति' की ओर फेंक देती है। दूसरी ओर इन्द्रियों का 'प्राणमय' तथा 'अन्नमयकोशों' के साथ, 'मन' के द्वारा ही क्रियात्मक रूप में सम्बन्ध बना रहता है; उस मन के द्वारा 'जीवात्मा' के समस्त स्थूल भोगों का सम्पादन यह 'बुद्धि' ही करती-कराती है। यह सम्बन्ध देह-व्यापी 'ज्ञानसूत्रों' में भी व्याप्त मानस-रश्मियों द्वारा सदा बना रहता है। भोगप्रद सभी संस्कारों तथा मन सहित इन्द्रियादियों पर 'बुद्धितत्त्व' का पूर्ण वशित्व है, निद्रा की अवस्था में 'बुद्धि' अपने समस्त व्यापार शिथिल कर के शान्त हो जाती है। भोगोन्मुखी 'बुद्धि' के द्वारा यह 'पुरुष' बन्धन में पड़ता है, और वैराग्यवती 'बुद्धि' की सहायता से 'मुक्त' होता है।

६. बुद्धितत्त्व के त्रिगुणात्मक भेद से उत्पन्न स्वरूप, रूप-रंगः—

(क) सात्विक बुद्धि के धर्म—शुक्ल धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, दया-आनृशंस्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, आस्तिकता, धर्माचरण प्रवृत्ति, विवेचना, याथातथ्य रूप से अर्थ-विभाजन-रुचि, न्याय, तितिक्षा, शम, दम, नम्रता, धैर्य, श्रद्धा, स्नेह, भक्ति, हर्ष, प्रसन्नता, प्रसाद गुण, आह्लाद, आनन्द, निष्कामता-अनभिषंग, वात्सल्य-भाव, सुख, मेधा-धारणा शक्ति-स्मृति, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, पदार्थ-निर्णायक शक्ति, एवं शान्ति, एकाग्रता, भावनिष्ठा, सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधियों को प्रादुर्भूत करना, भगवत-निष्ठा, अध्यवसाय (निश्चय) इत्यादि समस्त सात्त्विक शुभ गुणों को धारण करना इस 'बुद्धितत्त्व' के धर्म हैं। इस समय में 'बुद्धि' की प्रभा शान्त-निस्तरंग, उषःकालीन सूर्य के समान मनोरम, दिव्य, स्वर्णमयी-सी स्वच्छ-प्रख्याशील होती है।

सात्त्विकता के भी भेद हैं—योगज प्रज्ञाऽऽलोकों में से 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' उत्कृष्टतम है। यह प्रज्ञा अवर्णनीय, किन्तु यदा-कदा पारद के समान स्वच्छ, चमकीली, शुक्ल भी होती है और इस का धवल प्रकाश 'मर्करी-लाइट-सा भासता है।

(ख) राजसिक बुद्धि के धर्म—उपरिकथित सात्त्विक भावों में रजोगुण के प्रभाव से कुछ विकार उत्पन्न होकर 'बुद्धि' में चपलता, अस्थिरता आ जाने से सत्व-गुण के विपरीत आचरण होने लगता है। तब चिन्ता, विषाद, मान, दर्प, अधृति, क्रूरता, विषय-तृषा, विलासिता, शृङ्गार, प्राण-तृप्ति की भावना- काम, क्रोध, लोभ,

मोह, शोक, भय ईर्ष्या, राग, द्वेष, स्पर्द्धा, असूया, निन्दा आदि भावों की प्रबलता, लोक-संग्रह, आखेट, प्रतिशोध, बदला, लेने की भावना, उद्वेग, मिथ्याचार, शासन और दमन करने की लिप्सा आदि अनेक अवगुणों में प्रीति तथा प्रवृत्ति—अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य में प्रीति होना आदि—राजस-बुद्धि के धर्म हैं। इस रजोगुणी बुद्धि में अहंमन्यता,आत्मश्लाघा,भावावेश प्रचुरता से उत्पन्न होते हैं। इस समय का निर्णय प्रायः विपर्यय- विकल्प, संशय से युक्त होता है। आसुरीवृत्तियों की इस समय प्रबलता होती है। इस समय इस बुद्धि की आभा सन्तरी-रंग से मिलती-जुलती पीतता के साथ लालिमा मिली-सी सन्तरी वा गुलाबी, तथा अति चपलतायुक्त और चकाचौंध करने वाली होती है।

(ग) **तामसिक बुद्धि के धर्म**—अज्ञान, हिंसा, क्रूरता, विषाद, नास्तिकता, तम, अविवेक, आलस्य, जड़ता, प्रमाद, भय, रुदन, मूढ़ता, कपट, छल, दम्भ, चोरी, निर्बुद्धिता, व्यभिचार, दुराचार, मदिरा-माँस, आदि सेवन की प्रवृत्ति, वञ्चना, विस्मृति, मद, मोह, पाप-रति, इत्यादि की सभी मलिन प्रवृत्तियाँ इस समय होती हैं। तब इस का वर्ण धुन्धला पीला (धूसर)-सा, अपारदर्शी, विषय-विज्ञान को स्पष्ट न दर्शाने वाला (मलिन) होता है।

७. **बुद्धि के व्यापार**—पूर्वकथित तीनों प्रकार की बुद्धियों के जो धर्म-कर्म लिख चुके हैं, वे सब कर्म बुद्धि करती है। इन सब का संक्षेप यह है कि—पंचज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संगृहीत शब्द, स्पर्शादि विषय तथा कर्मेन्द्रियों के द्वारा कृत सब कर्मों को 'मन' के द्वारा प्राप्त करके और उन्हें तर्क की तुला पर तोल कर अपनी विवेचनाशक्ति की 'छलनी' से छान कर एक स्थिर निर्णय कर देना। और धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, भले-बुरे, ज्ञान-अज्ञान में से चुन कर अपने स्वामी 'जीवात्मा' के लिए सांसारिक अभ्युदय तथा पारमार्थिक कल्याण के लिए जो भावना 'कर्त्तव्य' के रूप में सुखकर तथा उपादेय है—उसे ग्रहण करके शेष सब कुछ त्याग देना वस्तुतः, जीवात्मा के लिए यह 'बुद्धितत्त्व' एक महान् प्रदीप अथवा 'ज्योतिस्तम्भ' के समान इस कार्मक्षेत्र-पथ में 'पथप्रदर्शक', किंवा 'महामन्त्री' के समान मंत्रणा देने वाला, 'सारथि' के समान सन्मार्ग में ले जाने वाला और 'सुहृद' के समान परमस्नेही एवं हितकारी तत्त्व है। बुद्धि के बिना यह ज्ञानस्वरूप 'पुरुष' इस 'कर्मक्षेत्र' में अन्धा-सा है। इस प्रकार जाग्रत् काल के सब व्यापार 'बुद्धितत्त्व' के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। यद्यपि 'बुद्धि' भय, क्रोधादि विकारों में फंसकर संकल्प-विकल्प वा तर्क-वितर्कों के भंवर में उलझ जाती है तथापि अपनी स्वाभाविक प्रख्याशीलता तथा विवेचना-शक्ति के बल द्वारा उसमें से निकल भी आती है। सम्प्रज्ञात समाधियों में धारणा, ध्यान, द्वारा एकाग्रता आदि की अवस्था-विशेष को धारण करके पदार्थों का विज्ञान कराना, और 'ऋतम्भरा' रूप धारण करके प्रकृति के कार्य-कारण भावों का साक्षात्कार कराते हुए 'प्रकृति-पुरुष-बोध' करा देना ही इस बुद्धि का 'मुख्यतम-धर्म' है। ऋतम्भरा की ही 'स्थित-प्रज्ञा' संज्ञा है। यही कठिन-से-कठिन समस्याओं का समाधान करती है तथा अविद्या-अस्मिता आदि क्लेशों का समूल उच्छेद करके जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ा कर मुमुक्षु को मोक्ष के द्वार तक पहुँचा देती है। अन्यथा रजस्-तमस् के मल विक्षेप से भरी बुद्धि इस

'जीव' के समस्त क्लेशों का कारण बन कर अनन्तकाल तक दुःखद संसार-चक्र में घुमाती रहती है।

८. **बुद्धि की वृत्तयां**—जिस प्रकार 'मन' की 'अदान-प्रदान' रूपा दो ही वृत्तियाँ (कर्म) हैं, उसी प्रकार इस 'बुद्धितत्त्व' के जितने भी कर्म हैं, उनका यौगिक नाम 'वृत्ति' है। इस रूप में 'बुद्धितत्त्व' की असंख्य वृत्तियाँ हैं। इनका विस्तार से आगे वर्णन करेंगे।

इस भाँति अन्तःकरण-चतुष्टय के दूसरे ज्ञानप्रधान-अंग—'बुद्धितत्त्व' की व्याख्या तो समाप्त हो गई। आगे 'आनन्दमय कोश' से सम्बद्ध, कर्म-प्रधान तृतीय अंग 'अहंकार का इसी प्रकार से विस्तार पूर्वक व्याख्यान करते हैं।

—:o:—

तृतीय अङ्ग

कर्म प्रधान अहङ्कारतत्व

'अहंकार'—अन्तःकरण का तृतीय अङ्ग है। उसका वर्णन निम्न-प्रकार है :—

१-**अहंकार का लक्षण**—प्रत्येक ज्ञान, कर्म, पदार्थ तथा भावना में 'आत्मभाव'-ममत्त्व का उत्पादक तथा 'विज्ञानमयकोश'-गत बुद्धिमण्डल से प्राप्त प्रत्येक निर्णय, या आदेश के सूक्ष्म-स्वरूप 'संस्कारों' को लेकर 'चित्तपटल' पर स्थापित कर देने तथा 'चित्तभूमि' से उठे प्रत्येक संस्कार को 'बुद्धिमण्डल' की ओर चलता करते रहने, एवं 'जीवात्मा' को 'अहमस्मि' तथा 'अयमस्ति' का भान कराने वाला, बुद्धिमण्डल के द्वारा भेजे प्रत्येक ज्ञान, कर्म, निर्णय, आदेश तथा सम्वेदनों का आदान करके तथा उक्त रूप में प्राप्त प्रत्येक संस्कार पर 'ममत्त्व' की मोहर वा छाप लगाकर 'चित्त' में स्थापित करके 'पुरुष' को दर्शाने, और अवगत कराके बुद्धिमण्डल को यहाँ के समस्त संस्कार प्रदान कर देने वाला संकोच-विकासशील मध्यम-परिमाणी तत्त्व—अहंकार है। अहंकार, दर्प, अभिमान, गर्व, मद, मान, ममेदम, अहंकृति, घमण्ड, ममता, अस्मिता ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

२. **अहंकार की उत्पत्ति**—महत तम से 'समष्टि-अहंकारों' की उत्पत्ति होती है। उन्हीं 'समष्टि-अहंकारों' का एक कार्यात्मक अंश प्रत्येक देह में विद्यमान है। अतः अन्तःकरण-चतुष्टय के तृतीय भाग 'अहंकार' का उपादान-कारण 'समष्टि-अहंकार' ही हैं।

३. **अहंकार का स्वरूप**—अहंकार का अपना स्वरूप हल्की नीलमणि के समान चन्द्र-वर्ण युक्त, अनुद्भूत-प्रकाशात्मक एक 'वृत्त' वा 'चक्र' अथवा 'पहिए' के समान है। इस 'वृत्त' ने आत्मा को अपने गर्भ में धारण करने वाले दिव्य ज्योतिर्मय 'चित्त' को आवृत किया हुआ है—चित्त के चतुर्दिक घेरा डाला हुआ है। त्रिगुणात्मक होने से गुणों से प्रभावित हो कर इस के रंग, रूप, स्वभाव में परिवर्तन होता रहता है।

४. **अहंकार का निवास-स्थान**—अहंकार का निवास हृदय-प्रदेश में स्थित 'आनन्दमयकोश' वा 'कारणशरीर' में है। गोल बादाम की गिरी पर मढ़े छिलके अथवा गोल तकिए पर चढ़े गिलाफ के समान ही सुन्दर मनोज्ञ मयूर-ग्रीवा के समान दिव्य रंग का मानो एक गिलाफ-सा यह 'चित्त' पर चढ़ा हुआ है। इसे 'दिव्य-दृष्टि' द्वारा ही देखा जा सकता है, और यह अपनी 'अहंवृत्ति' के द्वारा विशुद्ध ज्योतिः-स्वरूप

'पुरुष' के धारक 'चित्त' को सदा आच्छादित रख कर ममता में बांधे हुए है। अहंकार के बाहर चतुर्दिक 'सूक्ष्मप्राण' का ज्योतिर्मय आवरण (गिलाफ या एक कोश), इस 'अहंकार-मण्डल' पर चढ़ा हुआ है, जो जीवनी शक्ति के रूप में प्रतिक्षण जीवन का संचार तथा कोशों तक प्राणों के द्वारा जीवन का प्रसार भी करता है। अर्थात्—चित्त और सूक्ष्मप्राण के मध्य में जो मण्डलाकार होकर हृदय-प्रदेश में अवस्थित है, इसी को हम 'अहंमण्डल' वा 'अहंकार-मण्डल' कहते हैं। यह 'अहं' ही 'अस्मिता' के रूप में 'चित्त' के साथ 'तम' अथवा 'अविद्या' के प्रतिनिधि रूप में विद्यमान है। (देखो चित्र सं० ९ पृष्ठ ९४)

५. अहंकार का सम्बन्ध—मुख्य रूप से अहंकार का सम्बन्ध 'चित्त' तथा 'सूक्ष्मप्राण' के साथ है, और गौण रूप से 'जीवात्मा' तथा अन्य सब 'करणों के साथ है। इसका कार्य चित्त में पड़े संस्कारों को उथल-पुथल कर और इन्हें क्रियाशील बनाए रखकर भोगोन्मुख संस्कारों को बुद्धिमण्डल की ओर फेंकना—उसको प्रदान करना तथा बुद्धिमण्डल से आए नवीन संस्कारों का आदान करके बुद्धि से भी इस चित्त का सम्बन्ध बनाए रखना है। इसका सम्बन्ध समिष्ट-चित्त से भी है क्योंकि समष्टि-चित्त से निरन्तर प्रवाहित होकर 'समष्टि-अहंमण्डल' में से आ रहे संस्कार-प्रवाह को यह व्यष्टि-अहं ही ग्रहण करता एवं इधर से उधर भी फेंकता रहता है। इस व्यापार में यह भी मन की तरह चंचल ही बना रहता है।

६. अहंकार के त्रिगुणात्मक भेद से उत्पन्न रंग-रूप का वर्णन :—

(क) सात्विक अहंकार के धर्म—सत्त्व की प्रधानता में अहंकार का रंग बिशुद्ध उत्कृष्ट नीलम-नीलमणि के समान स्वच्छ पारदर्शी और सौम्य बोधक एवं स्वरूप को दर्शाने वाला तथा आत्मसाक्षात्कार करने में परमसहायक होता है। अहंकार निश्चल होकर चित्त तथा सूक्ष्मप्राण के व्यापार का अभाव करके आत्मा की स्वरूप-स्थिति का हेतु बन जाता है। अस्ति रूप से ब्रह्म के साक्षात्कार का हेतु तथा कारण-रूप प्रकृति के साक्षात्कार का भी हेतु बनता है।

(ख) राजसिक-अहंकार के धर्म—'रज' की प्रधानता में विशेष दीप्ति मान कर के मयूरग्रीवा के समान आभा उत्पन्न कर देता है। रजोगुण से प्रभावित हो कर स्वयं भी यह चंचल हो उठता है। चित्त तथा सूक्ष्मप्राण को तीव्र क्रियाशील बनाए रख कर जीवन का संचार कराते रहना; सूक्ष्मप्राण और चित्त को शक्ति देते रहना, और इनके कार्यों में सहायता देते रहना, एवं इन्हें सदा जागरूक रखना, प्रत्येक पदार्थ तथा ज्ञान और कर्म आदि के प्रति अहंकृति वा ममत्त्व की विशेष भावना रखना; ममत्त्व की भावना को अति प्रबल बना देना; पंचकोशों को क्रियाशील, बुद्धि को उत्तेजित, अस्मिता को उद्दीप्त करके काम-क्रोध-लोभ-मोह-राग-द्वेष आदि विकारों के संस्कारों को उभार कर प्रचंड बना देना; चित्त के सब कार्यों—कर्म-व्यापारों में सहायता करना; 'ममेदम्' की भावना को दृढ़ीभूत करना; चित्त तथा सूक्ष्मप्राण में उद्वेग बढ़ा कर इन्हें शान्त न होने देना; संघर्षों को उत्पन्न कर देना; और कभी-कभी इन्द्रधनुष के समान मनोज्ञ रूप को धारण कर लेना 'रजस-अहं' का धर्म है।

(ग) **तामसिक अहंकार के धर्म**—तामसिक अवस्था में अहंकार का वर्ण आसमानी तथा कुछ धूमिल-सा हो जाता है। चित्त को मूढ़, दुरभिमानी तथा—आत्म-श्लाघी बना देना; पाप-अधर्म आदि कुकर्मों को करने में प्रवृत्त करना; कुमार्ग-गमन में सहायता देना; क्लिष्ट संस्कारों को अधिक दृढ़मूल करना; जघन्य-घृणित भावनाओं को उद्दीप्त करना; 'तम' तथा अविद्या-अज्ञान को चित्त पर फैला देना; पाँचों क्लेशों को प्रचण्डता देना; बुद्धि वा ज्ञान तथा दिव्यनेत्र को कुण्ठित कर देना; सूझ-बूझ हर लेना एवं पुरुष की साक्षी-वृत्ति को ग्रस लेना इत्यादि कर्म तमआक्रान्त 'अहं' के हैं।

७. **अहंकार के व्यापार**—मन के समान अहंकार भी चित्त की अपेक्षा कर्म-प्रधान तत्त्व है। यह अहंकार जिन संस्कारों का आदन-प्रदान करता है, मन के समान ही इस को भी उन संस्कारों के विषय में विवेचना करने का कुछ ज्ञान नहीं होता कि ये संस्कार किस प्रकार के हैं और इन संस्कारों से उत्पन्न कर्मों का क्या फल होता है तथा इन का भुगतान किन रूपों में होगा, इत्यादि। जैसे कि बुद्धि का सहकारी मन है वैसे ही चित्त के सभी व्यापारों में अहंकार सहायक होता है। पूर्वकथित सब कर्मों के साथ अपने रजोगुणी भाव से प्रभावित हो कर 'अहं' के बलवान् और पराक्रमशील हो जाने पर जीवात्मा को अधर्म, अज्ञान, अनैश्वर्य तथा भोगविलास आदि अनर्थों में बलात् नियोजित कर देना है। जब रजोगुण से प्रभावित हुआ अहंकार 'अस्मिता' की छाया से 'चितमण्डल' को आच्छादित कर लेता है तब जीवात्मा इसी की गाँठ में बंधा ऐसा ही सोचा करता है कि यह शरीर, परिवार, जाति, ग्राम, घर-बार, देश, धन-धान्य, पदार्थ, भूमि आदि मेरी हैं। ऐसी बुद्धि को जगाना तथा 'अहंवृत्ति' को दृढ़तम बना देना 'अहं' का काम है। समस्त अन्तःकरण-चतुष्टय ही अविद्यात्मक है।

यह अहंकार विशेष रूप से अपने स्वभाविक धर्म के कारण 'आसक्ति' को उपजाने और इसे दृढ़भूमि बनाने में प्रवीण है। अविद्या-ग्रन्थि-'अहन्ता' वा 'ममता' की दृढ़ता ही तो जीवात्मा को जन्म-मरण के चक्र में फांसे हुए है और अभिनिवेश-क्लेश इसी ममता का ही रूपान्तर है। 'अहं' कभी निश्चल नहीं बैठता। चित्त में पड़े संस्कारों को उलट-पुलट करता हुआ स्मृति के द्वारा उन्हें उत्तेजित करके 'बुद्धिमण्डल' में फेंक कर मन-बुद्धि को सदा कर्म-निरत बनाए रखने और राग-द्वेषात्मक क्लिष्टवृत्तियों को उद्दीप्त करके मानव को अन्धन्तमः कष्ट के गर्त्त में गिरा देने में यह बड़ा चतुर है। यह एक विशेष बात है कि 'जीवात्मा' को चित्त के द्वारा जब अपने स्वरूप का बोध होता है तब 'अहमस्मि' रूप से एतद्-विशिष्ट ही होता है। अथवा इसे यों कह सकते हैं कि आत्मा की प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब का दर्शन अथवा भान 'अहं' के द्वारा ही होता है। यदि 'अहं' न हो तो जीवात्मा को अपने स्वरूप का बोध भी नहीं हो सकता; क्योंकि 'चित्त' और 'जीवात्मा' के बिम्ब-बिम्बी-भाव सम्बन्ध को प्रत्यक्ष कराने में यह ही सहायक होता है। रागद्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, भ्रान्ति, विपर्यय, विकल्प आदि; अविद्या की इस समस्त सन्तति के 'अभाव' अथवा 'क्षय' हो जाने पर अन्त में 'अहंकार' का भी अभाव हो जाता है कि जो इन सब का मुखिया है। त्रिगुणों से प्रभावित हुआ यह सदा ही परिवर्तनशील बना रहता है। अतः इसमें सदा परिणाम होते रहते हैं। जैसे—मेरा चित्त प्रसन्न है, मेरी बुद्धि इस समय स्वच्छ और प्रबुद्ध है,

मैं आनन्दित हूँ, मैं इस तथ्य को समझ गया हूँ, इत्यादि प्रतीति 'सत्त्व' गुण की अधिकता का फल है। मेरा चित्त खिन्न है, मेरा मन विक्षिप्त है, मेरा अमुक शत्रु वा मित्र है, इत्यादि, रूप से सर्वत्र खिन्नता सहित 'ममता' की भावना का प्रदर्शन इस राजस् अहंकार के कारण होता है। मेरी बुद्धि में यह बात नहीं समाती, मैं कुछ सोच नहीं सकता, मेरा चित्त इस बात की साक्षी नहीं देता, मेरा मन कुछ भी नहीं करना चाहता, एवं सर्वत्र 'ममता' के साथ एक ग्लानि-सी, अकर्मण्यता-सी छाई रहना तमोग्रस्त-अहंकार का कर्म है।

८. **अहंकार की व्याख्या**—अन्तःकरण का यह भाग अहंकार' तमोगुण महत सत्त्व के कार्यों से उत्पन्न 'अविद्या' का प्रतीक-सा बना चित्त के साथ सदा विद्यमान रहता है। इसकी उत्पत्ति आदि का वर्णन तो हम पीछे कर ही आए हैं; किन्तु इसके विषय में कुछ-एक भावों को स्पष्ट करना आवश्यक है। चित्त तथा अहङ्कार ये दोनों ही 'जीवात्मा' के अति-समीपवर्त्ती और अन्तःकरण के सूक्ष्म-तत्त्व हैं, एवं इन सब कोशों में सूक्ष्म 'आनन्दमय कोश' के ये निर्माता भी हैं। अतः इनके विषय में विशेष व्याख्यान की आवश्यकता को समक्ष रख कर आगे कुछ और लिखते हैं।

'चित्त' जहां ज्ञानप्रधान तत्त्व है, वहाँ 'अहंकार' कर्मप्रधान है। इसलिए ज्ञान और कर्म का सम्बन्ध बना रहता है, किन्तु यह 'अहं की विशेषता है कि यह 'चित्तगत' सभी भावों की प्रतिच्छाया को 'जीवात्मा' के सम्मुख रखने वाला, और चित्त तथा जीवात्मा के मध्य माध्यमभूत, एवं चित्त का सहायक है, किन्तु स्वभावतः प्रख्याशील 'चित्त-सत्त्व' के प्रकाश को ही नहीं वरन् प्रकाशमात्र को आवृत तथा सीमाबद्ध करना 'अहंकार' का स्वभाव है, चाहे वह प्रकाश चित्त' का हो वा जीवात्मा का हो अथवा समस्त अन्तःकरण का। अनात्म जड़ चित्त के प्रति 'आत्मभावना' उत्पन्न करके इसने 'पुरुष' को देह तथा भोग रूप संसार की ओर आकृष्ट और प्रवृत्त कर रखा है। अहं-युक्त चित्त के संयोग से ही सुख, दुःख की अनुभूति या ज्ञान जीवात्मा को होता है, अन्यथा 'आत्मा' तो केवल ज्ञान-ज्योतिर्मयी एक चेतना-मात्र' शक्ति है, और 'अन्तःकरण' इस के भोग तथा अपवर्ग का साधक एक 'करण' है। 'अहंकार-रूप' से यह अविद्या का बीज अनादिकाल से 'चित्त' या अन्तःकरण के साथ चिपटा हुआ है, जिसका अन्तिम रूप 'अभिनिवेश-क्लेश' है।

महत तम से समष्टि अहंकारों की उत्पत्ति हुई है, इस व्यष्टि अहंकार में विद्यमान तमोंऽश के कारण ही चित्त के प्रति 'जीवात्मा' की 'अहं-बुद्धि' आत्मभाव-भावना' बनी रहती है और यह अविद्या का बीज इस अन्तःकरण में 'अहंभावना' के रूप में सदा विद्यमान रहता है। 'पुरुष' इसी ग्रन्थि के कारण अनात्म-चित्त से बंधा हुआ है। मानव की प्रवृत्तियां 'ममता' के ही कारण होती हैं और प्रवृत्ति का समस्त-पथ राग-द्वेष की सीमा में बंधा है। अहंभाव के द्वारा उत्पन्न ममत्त्वभाव से राग-द्वेष की उत्पत्ति तथा संसार में प्रवृत्ति होती है। ममतावश ही प्रत्येक सुखसाधन को प्राप्त करने तथा उन साधनों को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए मानव-बुद्धि योजनाएं बनाती है। उनमें से कुछ-एक के विफल हो जाने पर क्रोधाग्नि भड़क उठती है और तब सूक्ष्म ज्ञानतन्तु इस ऊष्मा से संतप्त होने लगते हैं। फलतः 'बुद्धि' की विवेचनाशक्ति

क्षीरण या लुप्तप्राय हो जाती है। तमस्से आच्छादित 'बुद्धितत्त्व' में उस समय विवेक रहता ही नहीं। इस समय मनुष्य जो दुष्कृत्य कर बैठता है, कालान्तर में 'सत्त्व' के उदय होने पर स्वयं अपनी करतूत पर लज्जित हो उठता है। इस प्रकार का सब व्यापार 'द्वेष-जनित' ही है। कहा है कि **'विवेक-भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'**। अतः विज्ञजन सब को सावधान करते हैं कि—**'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।'** अशुभ कर्मों का कारण 'चरक' के मत में बुद्धि की भ्रष्टता है—**"धी धृति स्मृति-विभ्रष्टः कर्म कुरुतेऽशुभम्, प्रज्ञाऽपराधं तं विद्यात् सर्वदोष-प्रकोपनम्'** (चरक, शरीर स्था० १-१०१)। परन्तु इस क्रोधाग्नि और द्वेषभाव का शामक 'सत्त्व-गुरण' या 'विवेक' है; किन्तु नष्ट होकर भी ये द्वेष तथा क्रोध दोनों ही अपने कुसंस्कार तो इस 'चित्तपटल' पर अंकित कर ही जाते हैं।

शास्त्रों में अहं-युक्त चित्तमण्डल का नाम 'आनन्दमयकोश' कहा गया है। अहंकार और चित्त सदा मिल कर ही कार्य करते हैं। किन्तु चित्त के समस्त व्यापार पर आधिपत्य 'अहंकार' का बना रहता है—इसी कारण 'चित्त-सत्त्व' पर प्रायः अविद्या का प्रभाव छाया रहता है। कभी उदार रूप में और कभी गुप्त या परिच्छिन्न रूप में। इस अविद्या के अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश—सभी रूप कष्टदायक हैं; क्योंकि यथार्थ को अयथार्थ समझना, जैसे अपने स्थूलदेह को 'आत्मा' समझना और इस में आत्मभाव रखना 'अविद्या' है; अन्तःकरण (चित्त वा बुद्धि) को आत्मा की तरह समझना 'अस्मिता' है। सदा सुखी बने रहने के उपायों में रत रहना 'राग' है; और लोभ-प्रलोभन जो कि तृष्णा ही है वह राग का अंश है। सुख के विनाशक पदार्थों को नष्ट कर देने की भावना या प्रवृत्ति का नाम 'द्वेष' है; और सदा सुखपूर्वक जीने की कामना का नाम 'अभिनिवेश' है—ये चारों क्लेश अविद्या की सन्तति हैं और निम्न चार रूपों—प्रसुप्त्, तनु, विच्छिन्न और उदारभाव में से किसी-न-किसी रूप में चित्त-भूमि में पड़े रहते हैं। इस अविद्या का स्वरूप—अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्म पदार्थ 'देह', 'चित्त' आदिकों को नित्य (स्थायी), शुद्ध, पवित्र, सुखदायी, तथा चेतन मान कर आचरण करना है। इसी मिथ्याचार से सब कष्ट उपजते हैं। ये सब 'अहं' से उत्पन्न और 'ममत्व' बँधे 'चित्तभूमि' को नहीं त्यागते, और पैर में चुभे काँटे अथवा नेत्रों में पड़े रज-करण के समान सदा ही कष्ट देते रहते हैं। जैसे— बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान—ये तीनों पद एक ही भाव के द्योतक हैं, वैसे ही—स्थितिशील 'तम' के भावों को जताने वाले शब्द—अविद्या, अज्ञान, अहंकार आदि हैं; अर्थात् जो ज्ञान के प्रकाश को आवृत कर ले और रजोगुरण की क्रियाशीलता को बाँध दे, और इसके पीछे कुछ भी प्रतीत न हो, अर्थात्, अभाव ही अभाव दीखे; ऐसा गुरण इन तीनों नामों से प्रतिपादित पदार्थ में स्पष्ट दीखता है। 'अहं' की विद्यमानता का स्पष्ट अर्थ यही है कि यदि 'चित्त-सत्त्व' के साथ 'अहंकार' विद्यमान है तो वहाँ पर पूर्वोक्त अविद्या, अज्ञान, राग, द्वेष, अशुचि, दुःख आदि के संस्कारों के साथ इस विवेकज ज्योति का आवरण 'तम' भी 'चित्त-मण्डल' में अवश्य छिपा हुआ है, ऐसा निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए। तभी तो योग सूत्रों में से एक सूत्र।

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य (चित्तस्य) ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्

(योग०पाद ४ सू० ३१)

इस सूत्र के द्वारा उपरिकथित भाव को ही शब्दान्तर से स्पष्ट कर दिया है, कि तमोगुण के विभिन्न रूप, मल तथा आवरण आदिकों का अवधारक 'अहंभाव' जब तिरोभाव को प्राप्त हो जाता है तभी 'चित्त-सत्त्व' की ज्योति विश्वव्यापी-सी हो जाती है, तब जानने के योग्य जो शेष रह जाता है वह अति अल्प है।

इस भाँति अहंकार की उपज 'मोह' वा 'आसक्ति' की रज्जु में बँधा जीवात्मा 'कर्त्ता' और 'भोक्ता' बना हुआ है। इससे यह भाव स्पष्ट अनूदित होता है कि— 'चित्तसत्त्व' तो मोक्ष में सहायक है और इस 'चित्त' के साथ चिपटा अहंभाव ही बन्धन का हेतु बना हुआ है। जब यह 'ममत्वरूप' अहंता तनुत्त्व को प्राप्त हो कर जितने काल तक प्रसुप्त रहती है उतने काल तक 'आत्मा' स्वरूपस्थ हो जाता है। (सांख्य और योग के सिद्धान्तानुसार इस विश्व में किसी पदार्थ का अत्यन्ताभाव या विनाश नहीं होता। पदार्थ का केवल भूत, वर्तमान, और भविष्यत् काल में रूपान्तर या परिणाम हो जाता है।

विनाशः कारणलयः

(सांख्य० अ० १। सू०। १२१)

इस प्रकार से 'जीव' और 'ब्रह्म' के मध्यगत अहंभाव का तमोगुणी आवरण (पर्दा या दीवार) है, जो दोनों को संयुक्त नहीं होने देता। यदि यह पर्दा मध्य में न हो तो स्वभावतः चेतन, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, समान जातीय तत्त्व सदा ही संयुक्त हों। इस प्रकार जीव का ब्रह्म के साथ संयोग हो जाने रूप मोक्ष में जहाँ यह 'चित्त' सहायक है वहाँ 'अहंकार' बाधक है; ऐसा तत्त्ववेत्ताओं का अनुभव है।

इस प्रकार यह 'अहंकार' भी हाथों के समान आदान-प्रदान करने वाला चित्त का परम सहायक आत्मा का 'करण' है; और अन्तःकरण का सूक्ष्म भाग तथा 'आनन्दमय कोश' का अभिन्न अंश है। इसके विषय में विस्तार से कह दिया है। अब अन्तःकरण के चतुर्थ भाग 'चित्त-सत्त्व' का, जो कि 'आनन्दमय कोश' का आधार है, विस्तार से व्याख्यान करते हैं।

चतुर्थ अङ्ग

ज्ञान वासना प्रधान चित्त

१. **चित्त का लक्षण**—'चिति संज्ञाने' धातु से 'चित्त' शब्द बनता है। इस का अर्थ है 'ज्ञान प्राप्ति का साधन'। यह ज्ञान स्वरूप 'जीवात्मा' के संयोग से अथवा प्रतिबिम्ब के पड़ने से बिम्ब-बिम्बी भाव को प्राप्त हो एवं चेतनवत् बन कर 'जीवात्मा' के लिए ज्ञान तथा कर्म द्वारा समस्त भोगों का सम्पादन करता है। जीवात्मा सहित सब संस्कार वा वासनाओं तथा स्मृति को 'बीज-रूप' से—अव्यक्तभाव से—अवधारण करने वाला, आत्म-संयोग से सदा विशेष प्रख्याशील वा सुदीप्त एवं गतिशील बना हुआ सदा 'सूक्ष्मप्राण' रूपी क्रिया वा जीवनी शक्ति का उत्पादक 'जीवात्मा' के स्वरूप का प्रकाशक वा द्योतक, आत्म-संयोग से सदा सचेतन-सा भासने वाला, और संकोच-विकासशील होने से 'मध्यमपरिमाणी है।

२. **चित्त की उत्पत्ति**—'ब्रह्म' और 'प्रकृति' के नित्य व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध के कारण महाप्रलय के पश्चात् पुनः जब 'ब्रह्म' के ईक्षण द्वारा 'सर्ग' का आविर्भाव होता है, तब अव्यक्त प्रकृति से सर्वप्रथम महा आकाश, काल, दिशा के पश्चात् 'महत्-सत्त्व' प्रकट होता है। समिष्ट चित्त के निर्माण में कारण है यह 'समिष्ट-चित्त-सत्त्व', यह ही सब'व्यटि-चित्तों' का निर्माण करता है, इस लिये व्यष्टि-चित्तों की उत्पत्ति का 'उपादानकारण' यह समष्टि-चित्त है और परम्परया प्रकृति तो उपादानकारण, तथा 'ब्रह्म' निमित कारण है। **'चित्त हि प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्'** (योग पा० १ सू० २) सूत्र के व्यास भाष्य में भी चित्त को त्रिगुणात्मक ही कहा है।

३. **चित्त का स्वरूप**—यह स्फटिकमणि या बिल्लौर जैसा निर्मल, हीरे के समान कान्तिमान्, हिम या नवनीत—माखन या बगुले के परों के समान शुक्ल किन्तु पारदर्शक, पारदीय-ज्योतिः (मर्करी लाइट) के समान मनोज्ञ, पारद या पालिश किये चमकीले रजतपत्र के समान प्रख्याशीलता के कारण दिव्य चक्षु को चौंधिया देने वाला, सदा परिणामशील, विशुद्ध, स्वच्छ, आह्लादक, मोहक और अनुद्भूत प्रकाशात्मक एक छोटा अण्डाकृति का पुञ्ज या पिण्ड है।

४. **चित्त का निवास-स्थल**—वक्ष वा छाती के अन्दर दोनों फुफ्फुसों के मध्यगत वामस्तन की घुंडी के ठीक नीचे जो 'रक्ताशय' नामक 'हृदय' स्थान है, और जहां पर 'लुप-डप' शब्द होता रहता है, इसी के मध्य में शिशु-अंगुष्ठ के अगले पोरे के समान

या छोटे बेदाना श्वेत अंगूर के प्रमाण का एक 'पोल' है। इसी 'हृदयाकाश' या 'हृदय गुहा' कहे जाने वाले स्थान में विद्यमान अनुद्भूत ज्योतिर्मय अण्डाकृति छोटा-सा पिंड ही 'चित्त' का निवास-स्थान है। इसी चित्त में 'जीवात्मा' का निवास भी है। वर्तमान के अङ्गरेजी सरजरी के विशेषज्ञ डाक्टरों ने भी हृदय में देखा है कि यहाँ पर पोल में ऊपर को उभरा हुआ रक्ताशय में एक स्थान है। इसे अङ्गरेजी में ओरिक्यूलो वैन्ट्रिक्यूलर वनडल औफहिस, (Auriculo ventriculer Bundle Of Hiss) कहते हैं। यह एक बहुत छोटा सा उभरा हुआ स्थान होता है। इसमें निरन्तर ही स्वाभाविक गति रहती है। चित्त और आत्मा का या कारण शरीर का प्रभाव यहाँ ही सर्व प्रथम पड़ता है। इसी के प्रभाव से हृदय में गति प्रारम्भ होकर सारे शरीर में नाड़ियों द्वारा फैल जाती है और चेतना का संचार हो जाता है। ये लोग चित्त और आत्मा के स्वरूप को देख नहीं पाए हैं। इस विषय में होने वाली आचार्यों की मान्यताओं के भेदों का स्पष्टीकरण आगे 'आनन्दमय कोश' में करेंगे।

५. **चित्त का सम्बन्ध**—चित्त का सम्बन्ध मुख्य रूप से 'जीवात्मा' के साथ तथा गौण रूप से अहङ्कार, सूक्ष्मप्राण, बुद्धि, मन, और सब इन्द्रियों के साथ भी है। 'जीवात्मा' के सोथ 'चित्त' का सम्बन्ध अनादिकाल अर्थात् मोक्ष से पुनरावर्त्तन के पश्चात् से चला आ रहा है। सृष्टि के उत्पत्तिकाल से ही जीव के साथ चित्त का संयोग-सम्बन्ध, या बिम्ब-बिम्बी भाव सम्बन्ध, किंवा स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अथवा भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध बना हुआ है, एवं 'अहङ्कार' के साथ भी 'चित्त' का संयोग सम्बन्ध है। -जीवात्मा' प्रतिक्षण अहंवृत्ति से कार्य लेता रहता है। 'जीवात्मा' तथा चित्त दोनों ही एक-देशी हैं और इनका आधार-आधेय सम्बन्ध भी है। जीवात्मा को अपने गर्भ में धारण करके यह 'चित्त' हृदयगुहा में ठहरा हुआ है। आनन्दमयकोश में देखिये 'चित्र' सं० १९ से चित्तस्थ जीवात्मा तथा बाहर अहङ्कार, और सूक्ष्मप्राण की स्थिति स्पष्ट है।

६. चित्त के त्रिगुणात्मक भेद से उत्पन्न रंग-रूप :—

(क) सात्त्विक चित्त के धर्म—सत्त्वप्रधान चित्त स्फटिकमणि-बिल्लौर के समान पारदर्शी और निर्मल, हीरे के समान कान्तिमान् या प्रतिबिम्बित रवि-रश्मियों के द्वारा चमचमाती हिमखण्ड किंवा पालिश किये रजतपत्र की आभा के समान अथवा पारदीय-ज्योतिः (मर्करीलाइट) के समान शुभ्र तथा मनोज्ञ, माखन-सी शुभ्रता तथा कोमलता लिए, पारदर्शी, निर्भ्रान्तिदर्शी, प्रख्यायुक्त, शान्तिदायक, परमानन्दप्रद एवं आत्म तथा परमात्म दर्शन में समर्थ होता है। निस्तरंग निर्मल सरोवर के समान निश्चल, सात्त्विक श्रद्धादि भावनाओं, धर्म, ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्य के संस्कारों का धारक होता है। जब तक सत्त्व की बहुलता रहती है यह दिव्य-सौम्यभाव भरपूर और सौम्य आभामय रहता है। इस अवस्था में 'चित्त' सिकुड़ कर अणुरूप भी बन जाता है। तब 'आत्मसाक्षात्कार' सम्भव तथा सुगम हो जाता है।

(ख) राजसिक चित्त के धर्म—रजोगुणी प्रभाव से यह 'चित्त' अति विशाल, उत्ताल जलीधवत् तुङ्ग तरङ्गों से तरङ्गित, चपल लहरियों से आपूर्ण, अतिसम्वेदन-

(एहसास) शील, तथा इच्छा-कामना-संकल्प-राग-द्वेष-मत्सर-मोह-मन-मान-प्रयत्न-सुख-दुःख-तृष्णा-गर्व आदि राजसिक संस्कारों को उभारने वाला, चिन्ता आदि से युक्त, स्वप्नोत्पादक विपर्यय-विकल्प वृत्तियों के संस्कारों से युक्त और स्मृति द्वारा संस्कारों को उथल-पुथल उलट-पुलट करके उन्हें उद्दीप्त करने वाला होता है। इस समय यह धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, वैराग्य तथा रागादि के उभय संस्कार युक्त होता है। राजसिक 'चित्त' के प्रकाश में तीव्रता वा तीक्ष्णता होती है।

(ग) तामसिक चित्त का स्वभाव—तमोगुण की अधिकता से 'चित्त' का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। अज्ञान-अविवेक-अधर्म-अनैश्वर्य आदि बीभत्स तथा क्रूर कर्मों, विषाद, भय, शोक, जड़ता, तन्द्रा, निद्रा, भ्रान्ति, मोह, ग्लानि, आदि की अभद्रता से युक्त बुद्धि, को भी कुण्ठित कर देने वाला, एवं निष्क्रिय तथा समस्त दुष्प्रवृत्ति की कुवासनाओं से भरपूर होता है। इस समय कोई सत्-संस्कार चित्त में नहीं उठता और न ही सत्कर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है।

७. चित्त के मिश्रित कर्म—सर्ग के प्रारम्भ काल से 'जीवात्मा' के साथ संयुक्त हो कर और इसे अपने गर्भ में तथा अहंकार को अपने साथ धारण करके मोक्षपर्यन्त 'पुरुष' के भोगों को सम्पादित करते हुए मोक्ष-द्वार पर लाकर खड़ा कर देना, जड़ होकर भी आत्म-संयोग से चेतना को धारण कर के प्राप्त क्रियाशीलता से प्रतिक्षण 'सूक्ष्मप्राण' रूप 'जीवन' को उत्पन्न करते रहना, एवं 'अहंकार' के द्वारा 'कारणशरीर', 'सूक्ष्मशरीर' तथा 'स्थूलशरीरों' में जीवन का संचार तथा प्रसार करते रहना, भोग-साधक सब संस्कार वा वासनाओं सहित 'स्मृति' तथा 'निद्रा', ज्ञान-अज्ञान विद्या-अविद्या, धर्म-अधर्म एवं संसार के सभी भावों का अव्यक्त-संस्कारों के रूप में धारण करना तथा भोगोन्मुख संस्कारों को 'अहं' के द्वारा 'बुद्धि-मण्डल' से प्रेषित करके भोग-दान के लिए प्रवृत्त करा देना, भोगवशात् प्रवृत्त सत्त्व-रज-तम गुणों के वशवर्त्ती हो कर वैसे ही रङ्ग-रूप से उपरक्त होकर प्रतिक्षण परिणामशील या क्रियाशील बने रह कर 'पुरुष' को तद्भाव-भावित दर्शाना अर्थात्—असङ्ग, अग्राह्य, अशीर्ण, सुख-दुःख रहित, शुद्ध, बुद्ध 'आत्मा' को संगी, ग्राह्य, शीर्ण, दुःखी, सुखी, अशुद्ध अज्ञानी आदि रूपों से आरोपित करना 'चित्त' के ही कर्म हैं। 'जीवात्मा' का बन्ध और मोक्ष भी 'चित्त' के हाथ में है।

जब से 'चित्तसत्त्व' उत्पन्न हुआ है, अर्थात् कारण रूप से कार्यरूप में 'वर्तमान रूप में' आया है, और जब तक इसी रूह में रहेगा और अपनी कारणभूता 'प्रकृति' में विलीन नहीं होगा। तब तक यह सतत्-निरन्तर—प्रतिक्षण क्रियाशील ही रहेगा। क्षणभर के लिए भी निष्क्रिय नहीं रह सकता, यह 'चित्त' का स्वभाव है। किन्तु 'असम्प्रज्ञात' समाधि में 'परवैराग्य' के निरोध-संस्कारों से निरुद्ध हो कर अहंकार के द्वारा 'आत्मदर्शन' तथा 'ब्रह्मदर्शन' करा देने की सामर्थ्य भी इसी 'चित्त' में है। इस समय भी 'चित्त' निरुद्ध-संस्कारों के 'प्रवाह' में ही बहता रहता है सर्वथा 'निष्क्रिय' या 'अचल' नहीं होता - चित्त की यह 'प्रशान्तवाहिता' अवस्था कही जाती है। चित्त के गर्भ में स्थित 'पुरुष' को 'अहं-वृत्ति' के द्वारा 'चित्तपटल' में ही 'स्वरूप' का दर्शन

होता है—यही निश्चित तथ्य है ।

जाग्रदवस्था में ज्ञान-प्राप्ति तथा कर्म करने की प्रेरणा सदा चित्तगत इन अव्यक्त संस्कारों के द्वारा ही होती रहती है और यह 'चित्त' प्रतिक्षण 'सूक्ष्मप्राण' की उत्पत्ति के द्वारा 'अहंकार' को क्रियाशील रखकर पांचों कोशों को क्रियाशील बनाए हुए है । जब बाह्यकर्म का अभाव हो जाता है, ऐसी 'निद्रा' 'सुषुप्ति' और 'तुरीय' अवस्था में भी 'चित्त' अपने व्यापार में रत रहता है । इसी लिए निद्रा, सुषुप्ति, समाधि के पश्चात् अभ्यासी उन अवस्थाओं का कथन करता है, जिन का अनुभव उन अवस्थाओं में हुआ था । ये कथन उन अवस्थाओं में हो रहे व्यापार-परम्परा की 'चित्तपटल' पर अङ्कित होती हुई स्मृतियों के आधार पर ही हुआ करते हैं । 'लुप-डप' का शब्द सुनाई देने वाले स्थान 'हृदय' में स्थित अनुद्भूत प्रकाशात्मक यह 'चित्त-पिंड' आनन्दमयकोश का मुख्यतम भाग है, और सदा अव्यक्तरूप से समस्त देह को संचालित करता है । चित्तगत सभी भाव, समस्त क्रिया-कर्म सूक्ष्मतम-अव्यक्त रूप में रहते तथा होते हैं । इसी लिए गहन और रहस्यपूर्ण भी होते हैं; जो कि दिव्य-नेत्र के द्वारा देखे तथा कुशाग्र बुद्धि के द्वारा ही समझे जा सकते हैं । इस प्रकार 'चित्त' के धर्म-कर्म तथा उचित व्याख्यान तो यहाँ समाप्त हो जाते हैं; और जो-कुछ शेष है वह यथा-स्थान लिखते जाएँगे ।

अङ्गी अन्तःकरण—ये 'चित्तादि' जिस ज्योतिर्मयपिण्ड 'अन्तःकरण' के अङ्ग हैं, उसी की आकृति आदि को स्पष्ट करते हैं, जिस से साधकों को इस का स्वरूप तथा चित्तादिकों की स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सके । जैसे मानव-सूक्ष्मशरीर का निर्माण—(अन्तःकरण के दो भाग 'मन' तथा बुद्धि' और १० इन्द्रियों की दिव्य ज्योतियों को पंचतन्मात्राओं से बने ढाँचे वा कोश में आबद्ध करके) किया गया है, उसी प्रकार अन्तःकरण के शेष 'चित्त' तथा 'अहंकार' दोनों ज्योतिर्मय सूक्ष्म अंगों को 'सूक्ष्मप्रकृति' के कोश (खोल) में बन्द कर के इस 'कारणशरीर' वा 'आनन्दमयकोश' का निर्माण होता है । किन्तु इस से यह नही समझना चाहिए कि 'अन्तःकरण' को काट कर इस का विभाजन कर के ये दोनों अंग पृथक् कर दिए गए हैं । इन्हें एक कोठी या बंगले के उन दो भागों से उपमा दी जा सकती है, जिसमें अन्य कमरों के साथ एक 'शयनकक्ष' और दूसरा 'कार्यालय' भी हो । इसी प्रकार यह 'कारण शरीर', जिसकी रचना के अनुसार इसके आनन्दमय कोश, ब्रह्मपुर तथा हिरण्यमयकोश आदि नाम हैं, अपने स्वामी 'पुरुष' का 'शयन-कक्ष' या 'प्रासाद' है, और जैसा पहले कथन कर आए हैं 'सूक्ष्म-शरीर' कार्यालय-रूप है । इस प्रकार चित्तादिकों के संगठन से बना यह 'अन्तःकरण' ज्योतिष्मान् होता हुआ भी जड़ है, किन्तु आत्म-संयोग से चेतनवत् बनकर 'पुरुष' के लिए 'सार्थक' बनता है—अन्यथा निरर्थक है । चेतन से संयुक्त होकर अन्तःकरण के ये चारों अंग एक महान् 'अस्त्र' के समान कार्य करते हैं, और अहंकार तथा चित्त मिल कर वस्त्रों के समान सरक्षण तथा 'शयान-कक्ष' का काम देते हैं ।

'जीवात्मा' अपनी स्वरूपावस्था में जब स्थित होता है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्' **(योग० पा० १ सू० ३)** सूत्र कथित **'स्वरूपावस्थानम्'** 'पुरुष' की स्वरूपस्थिति की अवस्था अकथनीय है। स्वरूपस्थिति से विपरीत अवस्था, चाहे वह 'आनन्द' और 'अस्मितानुगत' की स्थिति ही हो, 'स्वरूपस्थिति' की अपेक्षा **'वृत्तिसारूप्यम्इतरत्र'** (योग० पा १ सू० ४) में कथित अवस्था स्थूल होने से कथन में कुछ-न-कुछ आ ही जाती है। यद्यपि ये 'आनन्द' तथा अस्मितानुगत' अवस्थाएं सांसारिक 'व्युत्थान' की हैं, और यौगिक दृष्टि में भी ये अत्युन्नत अवस्थाएं हैं, तथापि 'स्वरूपस्थिति' की 'केवली' अवस्था से निम्नस्तर की हैं।

शक्ति का केन्द्र—अब प्रश्न यह होता है कि ये 'पांचों कोश' वा 'तीनों शरीर' तो जड़ हैं, इन के लिए कार्य करने की शक्ति कहां से आती है, कौन उत्पन्न करता और कौन इन्हें देता है ? उसका उत्तर यह है कि यह समस्त अन्तःकरण ही जीवात्मा का 'शक्ति केन्द्र' है। विशेषरूप से, यह 'चित्त' तो प्रतिक्षण ज्ञान तथा क्रिया रूपी 'धन' और 'ऋणात्मक' दो विद्युत् धाराएं अथक रूप से और इतनी मात्रा में उत्पन्न करता है, जिन का नाप-तोल करना और अतिसूक्ष्मता के कारण 'चित्त' में साधारण ध्यान-दृष्टि से अवलोकन कर सकना अति कठिन है। 'चित्त-सरोवर' से उठ कर, और 'अहं-मण्डल' से बाहर आकर यह क्रिया 'सूक्ष्म-प्राण' के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इन में से 'ज्ञान' की 'धन-धारा तो स्वयं चित्त तथा बुद्धितत्त्व को ज्ञान द्वारा करती है और 'क्रियात्मक' 'ऋण-धारा' अहं तथा तृप्त मन को क्रियाशक्ति प्रदान करती रहती है। यौगिक भाषा में 'जीवन-तत्त्व' का स्वरूप यह 'सूक्ष्मप्राण' है जो 'अहं-मण्डल के बाहर ज्वलन्त-वाष्पमण्डल के रूप में भासता है, और रश्मियों अथवा प्रकाशित-वाष्प के रूप में मस्तिष्कस्थित पंचतन्मात्रा-वेष्टित 'सूक्ष्म-शरीर' के साथ मिल कर पंचमहाभूत निर्मित स्थूल-देह का पालन-पोषण-तर्पण एवं संचालन करता है। जैसे सूक्ष्मशरीर में कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियाँ अपना-अपना व्यापार-कर्म और ज्ञान का सम्पादन करती हैं उसी प्रकार अङ्गी-अन्तःकरण के चित्त और बुद्धि ये दोनों अङ्ग ज्ञान-प्रधान हैं और अहं तथा मन कर्मप्रधान हैं।

ज्ञान तथा क्रिया के प्रसरण की प्रक्रिया—इस का वर्णन शब्दान्तर में तो हो चुका है, यहाँ पर पुनः दोहरा देते हैं कि ज्ञानस्वरूप चेतन जीवात्मा और स्वभाव से भास्वर जड़ अन्तःकरण के संयोग से उत्पन्न 'क्रिया', और चेतन 'पुरुष' की स्व-शक्ति 'ज्ञान', ये दोनों ही गति द्वारा अन्तःकरण को चेतनायुक्त करते हुए आगे समस्त 'आनन्दमयकोश' को उज्जीवित बनाते हैं। यहाँ से यह क्रिया 'सूक्ष्मप्राण' के रूप में प्रकट होती है। सूक्ष्मप्राण में चेतना-सी 'चमक' तो ज्ञान की हो जाती है और 'चपलता' क्रिया के कारण होती है। अब ये दोनों मिल कर 'जीवनी-शक्ति' का रूप बन जाते हैं। इस जीवनी-शक्ति को यह हृदय चमकीली-वाष्प के रूप में या रश्मि-निर्मित धारा के रूप में 'ब्रह्मरन्ध्र' की ओर प्रतिक्षण अक्षुण्ण प्रवाह के रूप में फेंकता रहता है, और 'विज्ञानमयकोश' इन रश्मियों को प्रतिक्षण आकर्षित कर के 'मनोमयकोश' को रंजित करता है। इन्हीं रश्मियों द्वारा 'मन' 'प्राणमयकोश' को अनुप्राणित कर 'प्राणमयकोश' के माध्यम से 'जीवन-रश्मियों' को स्थूल-देह में बखेर कर या बरसा कर जीवन-प्रदान करता है।

देहयन्त्र का संचालक—जैसे भौतिक जड़-मशीन में मुख्यभाग गरारी को बिजली का मोटर गतिमान् बना देता है और उस के साथ 'पटों' से जुड़ी सब मशीनें कार्य करने लगती हैं, उसी प्रकार कारण-शरीर, सूक्ष्मशरीर, और स्थूलशरीर की जड़ मशीनें भी चेतन 'पुरुष' के संयोग से गतिशील हैं। ये तीनों शरीर और पंचकोश पारस्परिक रश्मियों से आबद्ध हुए 'पुरुष-शक्ति' द्वारा अहर्निश कार्य कर रहे हैं।

'पुरुष' के आवरण और उन से छुटकारा—प्रश्नोपनिषद् के पंचम प्रश्न में ॐकार की त्रिमात्रिक उपासना के प्रसंग में दर्शाया गया है कि जो व्यक्ति त्रिमात्रिक ॐ अक्षर के द्वारा उस 'परमपुरुष' का ध्यान करता है वह सब पापों (कुवासनाओं के स्थान कर्माशय या अन्तःकरण) से ऐसे छूट जाता है जैसे सर्प केंचुली से। फिर वह इस जीव को बाँधने वाले अन्तःकरण से निकल कर आदित्य के समान भास्वर विश्वव्यापी या 'ब्रह्मपुरवासी' परम-पुरुष का दर्शन करता है। इस से यह स्पष्ट है कि जब 'जीवात्मा' को 'विवेकख्याति' के द्वारा 'स्वरूप' का साक्षात्कार हो जाता है, तब निश्चयात्मक रूप से वह 'चित्त' से विरक्त हो जाता है। अनन्तर, अपने बन्धन से कारणीभूत अन्तःकरण को सर्प-द्वारा केंचुली त्याग देने के समान ही इस 'चित्त' को भी त्याग देता है। मृत्यु के समय सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर एकत्रित होकर और पंचतन्मात्रिक मण्डल में बंधकर एक अण्डाकृति अथवा ज्योतिर्मय शिव-पिण्ड के समान रूप धारण करके इस देह को त्याग जाते हैं देखो चित्र सं० २४ आगे दिव्य-लोक में गमन करने वाले स्थूल और सूक्ष्मभूत जयी-योगियों के सूक्ष्म-शरीरों की आकृतियाँ इह-लौकिक शरीर के समान ही होती हैं जिनको कि वे त्याग कर जाते हैं। दिव्य-लोकों के देह भी सात्त्विक आदि भेद से विभिन्न देखे जाते हैं। सत्त्वप्रधान दिव्यशरीर विशेष रूह से चन्द्र के समान धवल वर्ण के तेजस्वी, चमकीले तथा अति सुन्दर होते हैं। इनकी देहाकृतियाँ मांसल-पुष्ट स्थूलदेह के समान मनोज्ञ होती हैं। ये सदा प्रसन्न-वदन रहते हैं। रजः-प्रधान देह आकार में लम्बे, स्वर्णवर्ण व सुन्दर और तेजस्वी, किन्तु पतले-से होते हैं। तमः-प्रधान शरीर धूसर या धूम्रवर्ण के-से छोटे (नाटे), चौड़े तथा विशेष दर्शनीय नही होते। इनकी गति उनसे मन्द होती है। ये सब आकाशगामी होते हैं। फलतः, 'पुरुष' को बाँधने वाले 'शरीर-त्रयी' का आवरण नष्ट हो जाता है। इसी भाव को शब्दान्तर में—

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टेपरावरे'

(मुण्डक० मु० २, खं० २, छन्द ८)

के द्वारा प्रकट किया है। देह त्यागते समय साधारण मनुष्यों का कारण-शरीर सूक्ष्मशरीर के साथ मिल कर—संगठित हो कर—एक ज्योतिर्मय 'शिव-पिण्ड' या अण्डाकृति का रूप धारण कर के परलोकगमन कर जाता है।

अन्तःकरण का अन्त—जैसे अग्नि के स्वाभाविक धर्म दाह और प्रकाश कभी नष्ट नहीं होते वैसे ही अन्तःकरण के स्वाभाविक धर्म 'वृत्ति' और 'संस्कार' किसी भी अवस्था में नष्ट नहीं होते। सर्ववृत्तिनिरोध की 'असम्प्रज्ञात' दशा में भी प्रथम निरुद्ध-संस्कार के अस्त होते ही दूसरा निरोध-संस्कार उदित हो जाता है और यही क्रम 'असम्प्रज्ञात' की समाप्ति तक चलता है। यह ठीक है कि 'वृत्ति' तो किसी भावना का स्थूल रूप है और 'संस्कार' या वासना उसका सूक्ष्मरूप है। किन्तु यह अन्तःकरण अपने इस स्वाभाविक परिणाम को अपने उपादान-कारण में विलीन हो कर ही त्यागता है, और इसका अपने कारण में विलीन हो जाना ही इसका अन्त है। इसका 'उपादान-कारण' सूक्ष्म प्रकृति है।

अन्तःकरण के अंशों का विश्लेषण तथा उनकी व्याख्या।

अन्तःकरण—अलिंग 'प्रकृति' से सर्वप्रथम उत्पन्न हुए हृदार्थों का 'कार्यात्मक' अंश' ही यह 'व्यष्टि-अन्तःकरण' है, जो कि इस अणु-जीव को मिला है। शास्त्रों में इस की संज्ञा सूक्ष्म और 'कारणशरीर' की है, और यही जीवात्मा का आवास-स्थान है।

अन्तःकरण चतुष्टय—इसके स्वभाव और कर्म के चार विभाग किये गये हैं। समष्टि महतसत्व से समष्टि चित्त उत्पन्न होता है फिर समष्टि चित्त से व्यष्टि चित्त। महत रजोगुण से समष्टि बुद्धि और समष्टि बुद्धि से व्यष्टि बुद्धि उत्पन्न होती है। ज्ञान प्रधान होने के कारण दोनों में कर्म की समानता है। इसी प्रकार महत तम से समष्टि तीनों प्रकार के अहंकारों की और इन तीनों से व्यष्टि अहंकार उत्पन्न होता है। समष्टि सत्व अहंकार और समष्टि रजः अहंकार से समष्टि मन की उत्पत्ति होती है इस समष्टि मन से व्यष्टि मन उत्पन्न होता है। क्रिया प्रधान होने से अहंकार और मन में केवल कर्म की ही प्रधानता होती है।

इसी भाँति ज्ञान, कर्म के भेद से 'चित्त' अहंकार से, तथा 'बुद्धि' मन से भिन्न हैं। जैसे अहंकार 'आनन्दमय कोशगत' चित्त और विज्ञानमयकोशगत बुद्धि के मध्य में प्रत्येक प्रकार के संस्कार का आदान-प्रदान करने तथा आनन्दमयकोश के आन्तरिक सब व्यापार करने का कार्य करता है, वैसे ही मन 'विज्ञानमयकोश गत' सब व्यापार करने के साथ-साथ इन्द्रियों-द्वारा लाए विषय तथा बाह्यज्ञान आदि का आदन करके 'बुद्धिमण्डल' को निर्णयार्थ प्रदान करता है। आगे बुद्धि तो इन्द्रियों के विषयों का निर्णय करती है तथा 'चित्त' बुद्धि के द्वारा निर्णीत-विषय की प्रतिच्छाया को अहंकार के द्वारा प्राप्त कर के संस्कार-रूप में 'पुरुष' में सम्मुख उपस्थित कर देता है। इस प्रकार इन चारों में से दो-दो का जोड़ा बन कर जीवात्मा के लिए 'करण' रूप से कार्य करता है।

१. **चिति और चित का संयोग दर्शन**—मुक्तावस्था से लौटे अथवा महा-प्रलयों के पश्चात् जब एक-देशी, ज्ञान-ज्योतिर्मय, चेतन-स्वरूप, शक्तिमात्र, निरवयव, चिति अणु आत्मा' का महत सत्त्व के कार्य समष्टि चित्त तथा इसके कार्य अन्तःकरण के जिस भाग-विशेष के साथ संयोग होता है, उसका नाम चित्त है। इस चेतन तथा जड़ तत्त्वों के संयोग से एक शक्ति उत्पन्न होती है, जिसका नाम 'क्रिया' है। इसका दर्शन समाधि में होता है।

२. **क्रिया**—इस क्रिया में साधारण जड़-क्रिया से भिन्नता होती है। शक्ति-मात्र स्वभाव से चेतन आत्मशक्ति का दर्शन या परिज्ञान तब होता है जब 'आत्म-संयोग' से चेतनवत् बने 'चित्त' को हम कार्य करते देखते हैं। जैसे, विद्युत्-शक्ति का दर्शन तथा ज्ञान एक 'बल्ब' के जगमगाने पर हो जाता है। यदि हम बल्ब के प्रकाशित हो उठने की प्रक्रिया की ओर ध्यान दें तो स्पष्ट दीखता है कि 'बल्ब' का मध्यकेन्द्र ही सर्वप्रथम प्रकाशित होता है, और क्रमशः यह प्रकाश बल्ब में अति शीध्रता से फैल कर समस्त बल्ब को प्रकाशित करता हुआ तथा अन्य बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करके उन्हें दर्शाने का हेतु बनता है। इसी प्रकार 'चित्त' के मध्यगत निरवयव 'आत्म-शक्ति' का जितने स्वल्पतम भाग के साथ सर्वप्रथम संयोग होता है, वह कल्पनातीत लघुप्रदेश ही इस शक्ति के संयोग से रंजित होकर चेतनायुक्त बनता है। इस प्रदेश से आगे समस्त 'चित्त' और फिर समस्त 'अन्तःकरण' में यह चेतना जिस प्रक्रिया से फैल जाती है, उसी का नाम 'क्रिया' है। इस क्रिया के प्रभाव से समस्त 'अन्तःकरण' ही चेतन-सा बना देह का आन्तरिक तथा बाह्य दृश्य-व्यापार करता स्पष्ट प्रतीत होता है; और इस 'पुरुष' के लिए सर्व प्रकार का भोग उपस्थित करता है।

३. **ज्ञान**—इस क्रिया को दर्शाने वाली वस्तु 'ज्ञान' है। यह ज्ञानस्वरूप 'आत्म-शक्ति' का प्रकाश 'चित्त' के जड़-प्रकाश को चेतना-सी प्रदान करता हुआ चित्त से ज्ञान-सम्पादन का कार्य लेता है। तब आत्म-तत्त्व की चेतना ज्ञानात्मक शक्ति चित्त के द्वारा ही प्रकट होती है। 'क्रिया' का दर्शक या ज्ञापक तो 'अहंकार' है और 'ज्ञान' को दर्शाने वाला 'चित्त' है, दोनों तत्वों वा शक्तियों का उत्पादक और धारक 'चित्त-सत्त्व' ही है। जैसे, अग्नि का दाह तो त्वचा द्वारा और प्रकाश का नेत्रों द्वारा अनुभव होता है, यद्यपि दाह और प्रकाश इन दोनों की लहरियाँ एक से दूसरे स्थान तक गति के द्वारा ही जाती हैं, तथापि अनुभूति पृथक्-पृथक् करणों द्वारा होती है। अथवा, इस भाव को यह दृष्टान्त अधिक स्पष्ट कर देगा कि—एक बन्द कमरे में चलती मशीन की गड़गड़ाहट तो हमें बाहर अन्धकार में खड़े हुए भी श्रोत्रों के द्वारा सुन पड़ती है, और शब्द सुनकर ही हमें मशीन के चलने का 'अनुमान-ज्ञान' होता है; किन्तु मशीन की क्रिया का 'प्रत्यक्ष ज्ञान' तो हमें तभी होगा जबकि हम कमरे में जाकर प्रकाश में चलती मशीन को नेत्रों के द्वारा देखेंगे। फलतः, यही सिद्ध होता है कि किसी भी क्रिया का 'दर्शन' 'ज्ञान' है, चाहे वह त्वचा से हो या नेत्रों से। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया से परिपूर्ण 'अन्तःकरण' का भाग-विशेष, जो कि 'पुरुष' का 'आवास-स्थान'

तथा ज्ञान और क्रिया का 'उद्भव-स्थान' एवं इन दोनों का धारक भी है, उसे 'चित्त-सत्व' कहते हैं। इस चित्त' की प्रवृत्ति प्रधानतया दो प्रकार की है:—

१ **अन्तर्मुखी प्रवृत्ति**—जीवात्मा के आधार भूत 'चित्तसत्त्व' की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति दुःख-निवृत्ति का कारण बनती है। जैसे—

'प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं तदेव रजोलेशमलापेतं,स्वरूपप्रतिष्ठं,सत्त्वपुरुषान्यता ख्यातिमात्रं, धर्ममेधध्यानोपगं भवति् ।तत् परंप्रसंख्यानं इत्याचक्षते ध्यायिनः'

(योग० पा० १-२ सूत्र-गत)

इस व्यासभाष्य का भावार्थ यह है कि, जब सत्त्वोद्रेक से चित्तसत्त्व परिपूर्ण होता है उस समय रजः-तम का अभाव-सा हो जाता है। इस समय स्वभावतः इसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होती है। इस समय सब प्रकार के संस्कारों से निवृत्ति हुआ चित्त विवेकख्याति में निमग्न प्रकृति-पुरुष ज्ञान में सहायक बनता है। इस परमतत्त्व के बोध को 'आत्म-साक्षात्कार' कहते हैं। स्वरूपप्रतिष्ठा के लिए यही 'पुरुष' को 'धर्ममेघ-समाधि' की ओर ले जाता है। यह तो समाहित अवस्था की व्यवस्था है; किन्तु व्युत्थान होने के पश्चात् भी समाधि-जन्य परवैराग्य के संस्कार योगी को हिरण्यमय आवरण के नीचे छिपे विषय-भोगों की असारता दर्शाते तथा निश्चय कराते हुए स्वरूपस्थ या ब्रह्मानन्द-प्राप्ति की ओर जाने को बाध्य करते हैं। यही आनन्द की खान 'श्रेयःपथ' हैं जो मोक्ष-द्वार तक ले जाता है। दूसरी बहिर्मुखी वृत्ति है।

२. **बहिर्मुखी राजसी-तामसी प्रवृत्तियां**—इस अवस्था में **'प्रवृत्या च परितापाय शोकादयो राजसा भावाः उत्पद्यन्ते'** अर्थात्, रजोगुण तमोगुण से प्रताड़ित 'चित्त' न तो समाहित होता है और न ही व्युत्थान काल में इस में सुसंस्कार उठते हैं; प्रत्युत कुवासनाओं के बुद-बुद चित्त से उठ कर 'अहंकार द्वारा' बुद्धि-मण्डल में आ कर बुद्धि को विकृत, मन को चपल और इन्द्रियों को चलायमान बनाए रखते हैं। 'मन' बुद्धि की प्रेरणा से इन्द्रियों को प्रायः विषयों में प्रवृत्त रखता है फलतः, स्वभाव से बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाली इन्द्रियां अपने गोलक रूपी झरोखों से विषयों की ताक में लगी रहती हैं। इसी अनुभव कोः—

'परांचिखानि व्यतृणत् स्वतम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्',

(कठ, २-४-१)।

इन शब्दों में आचार्य 'यम' ने 'कठ' में प्रस्तुत किया है बाह्य समस्त-जगत् विषय-रूप है। विषय-जाल में फंसा 'जीव' जन्म-मृत्यु के दुःखद चक्र में घूमता रहता है। यही 'प्रेयमार्ग' प्रवृत्ति तथा क्लेशों का मूल है, घर है। 'यमाचार्य' ने 'नचिकेता' को सम्मुख रख कर समस्त जगत्-वासियों के लिए इसे त्यागने का आदेश इन शब्दों में दिया है—

'न साम्परायः प्रतिभाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्
अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे'

(कठ, १-२-६)

योग, १-५ के भाष्य और वाचस्पति टीका में—

'क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताःक्लिष्टाः

(व्यास भाष्यो योग० पा० १ । सू० ५)

भवन्ति धर्मा धर्म प्रचय-प्रसव-भूमयो वृत्तयः क्लिष्टाः ।

(वाचस्यति मिश्र० टीका)

ऐसा लिखा है । अर्थात्, कर्माशय चित्त को मलिन संस्कारों से बढ़ाने वाली और धर्माधर्म के वासना-समूह को उपजा कर अविद्या के बन्धन को दृढ़ करने वाली प्रवृत्ति वा वृत्तियाँ 'क्लिष्ट' होती हैं । इनसे पृथक् रहने का प्रयत्न सदा 'विवेकी' को करते रहना चाहिए—यही भाव फलित होता है ।

३. **चित्त की अन्य वृत्तियां**—वस्तुतः योगदर्शन का **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (पा० १ सू० २) सूत्र कुछ भ्रम उत्पन्न कर देता है । वह यह कि जिस प्रकार सभी भाष्यकारों ने बुद्धि और चित्त को एक-सा मान कर और अन्य ग्रन्थों ने मन और बुद्धि को एक-सा समझ कर दोनों के गुणों वा धर्मों का 'संकर' कर दिया है उसी प्रकार योगदर्शन के भाष्यकारों ने बुद्धि और चित्त को एक ही मान कर इनकी 'वृत्तियों' और संस्कारों के विषय में भी 'संकर' कर दिया है; परन्तु 'वृत्ति' और 'संस्कारों' में भेद है । जैसे कि हमने 'अन्तःकरण' के मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार ये चार अंग मान कर इन की उत्पत्ति, धर्म, कर्म आदि को विभक्त कर के स्पष्ट किया है, उसी प्रकार 'वृत्तियों' के विषय को भी स्पष्ट कर देते हैं; जो इस प्रकार है ।

'वृत्तिः'—वृतु-वर्तने धातु से 'वृत्तिः' शब्द बना है । इसका अर्थ है 'बर्ताव-करना' । 'बर्ताव' दो प्रकार का होता है, सूक्ष्म और स्थूल । अन्तःकरण का जितना कर्म, व्यापार, या बर्ताव होता है वह सब सूक्ष्म तथा अव्यक्त, गुप्त-सा होता है, चाहे वह समाधियों का हो अथवा व्युत्थान का । समाधियों का सब व्यापार या बर्ताव तो स्पष्ट ही सूक्ष्म होने से गुप्त रहता है, इन चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता; किन्तु समाधियों से भिन्न व्युत्थान अवस्था के भी कुछ व्यापार हमें नहीं दीखते जिन्हें 'अन्तः-करण' करता है । जैसे, किसी की स्मृति, निद्रा में होने वाला आन्तरिक व्यापार आदि ।

संस्कार—इस प्रकार के सभी सूक्ष्म-बर्तावों तथा सूक्ष्मभावों (सुख-दुःख) एवं संसार के सभी स्थूल-कर्मों, स्थूल-विषयों, स्थूल-ज्ञान और स्थूल-व्यवहारों की छाप

2400-28

वा छाया-सी, जो अदृश्य रूप से 'अन्तःकरण' के सब से सूक्ष्म तथा साम्वेदनिक भाग 'चित्त' पर पड़ती है, उसे 'संस्कार' कहते हैं। इन्हीं 'संस्कारों' के साथ 'चित्त' तथा 'अहंकार' का सब व्यवहार किंवा व्यापार होता है।

यह सब अव्यक्त सूक्ष्म व्यापार 'पुरुष' के सूक्ष्मभोग-सम्पादन के लिए सुख-दुःख की अनुभूति के रूप में होता है। इस से आगे स्थूल-भोगों के सम्पादन का उपक्रम 'विज्ञानमयकोश' में बनता है, अर्थात्, ये भोगोन्मुख संस्कार 'चित्त' से उठ कर 'विज्ञानमयकोश' में आकर 'मूर्त्त रूप' धारण करते हैं जिससे कि 'पुरुष' का स्थूल-भोग सम्पन्न हो। इस मूर्त्त रूप को 'बुद्धि' व्यवहार में लाती है तो इस व्यवहार की संज्ञा 'वृत्ति' बन जाती है। इस प्रकार 'बुद्धि' के सब व्यवहारों की संज्ञा 'वृत्ति' है; जैसे कि संसार के अनन्त और असंख्य प्रकार के ज्ञान तथा कर्म-व्यापारों को योग-दर्शनकार ने 'प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, 'इन पांच वृत्तियों में सीमित कर दिया है, एवं बुद्धि के अनन्त और असंख्य व्यापार होने पर भी सब का एक नाम 'वृत्ति' रख दिया है। जब तक 'बुद्धि' व्यापार करती है इसकी संज्ञा 'वृत्ति' रहती है।

जब इन वृत्तियों की छाया बन कर हृदयगत 'चित्तपटल' पर जा पड़ती है तब इसका नाम 'संस्कार' हो जाता है। इन संस्कारों से 'कारणशरीर' का सब व्यवहार होता है। यह भेद हृदयंगम हो जाने पर अब यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वह व्यापार या व्यवहार जो 'बुद्धि' करती है, 'वृत्ति' के नाम से व्यवहृत होता है, चाहे वह ज्ञान-कर्म-विषय इन्द्रियाँ बाहर से लाकर दें अथवा 'आनन्दमयकोश' संस्कार के रूप में उसे भेज दे। इन 'वृत्तियों' का सूक्ष्मरूप में परिणत हुआ रूप ही 'संस्कार' है। 'संस्कारमात्र' तो 'चित्त' के साथ और 'वृत्तिमात्र' बुद्धि के साथ पृथक्-पृथक् रूप में पृथक्-पृथक् स्थानों में रहते हैं। यदि 'चित्त' पद को 'अन्तःकरण' का 'प्रतीक' वा स्थानापन्न मान लिया जाए तब तो कोई भ्रम नहीं रहता; क्योंकि ये वृत्तियां अन्तःकरण की ही हैं। इस प्रकार 'चित्त-वृत्ति' पद की संगति बैठ जाती है और हमारा सिद्धान्त भी स्थिर रहता है, एवं उक्त पांचों प्रकार की वृत्तियों में ही संसरा से सब विचार, ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म समाविष्ट हो जाते हैं, जो वृत्तियों के रूप में बुद्धि-मण्डल में व्यवहार में आते हैं, और संस्कार रूप में 'चित्त-मण्डल' में रहते हैं। किन्तु इसमें जो 'अपवाद' है उसे नीचे स्पष्ट करते हैं।

चित के धर्म-कर्म—पीछे हम विस्तार से 'चित्त' के सब धर्म-कर्मों का कथन कर आए हैं। सूत्र रूप से वे इस प्रकार हैं—जगत् के सब विचार, ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, तथा कर्म-अकर्म के सभी संस्कारों के साथ 'निद्रा' तथा 'स्मृति' वृत्तियों को भी यह 'चित्त' अपने गर्भ में रखता है और 'पुरुष' का तो यह आवास-स्थान है ही। केवल आनन्द, अस्मिता, निद्रा या सुषुप्ति, समाधि आदि भावात्मक अनुभूतियों से रंजित होकर ही नहीं वरन् संसार के प्रत्येक पदार्थ-गत संस्कारों से प्रतिबिम्बित हो कर, दर्पण में पड़े 'प्रतिबिम्बवत्' सभी प्रतिबिम्बों को प्रतिच्छायावत् 'पुरुष' के समक्ष उप-

स्थित कर देना 'चित' का धर्म-कर्म है । आनन्दानुगत, एवं अस्मितानुगत समाधियों की और आत्म-परमात्म सम्बन्धी सभी सात्त्विक भावनाओं तथा असात्त्विक भाव विकारों की उत्पत्ति, अनुभूति तथा अभिव्यक्तियों को यह 'चित्त' ही कराता है । किन्तु निर्विकल्पजन्य-निरोध की अनुभूति कराने वाला 'करण' अहंकार ही होता है । जीवन धारणार्थ प्रति क्षण जो श्रम-व्यापार अथवा क्रिया हो रही है यह 'जीवात्मा' के संयोग से नियमपूर्वक 'चित्त' ही कर कर रहा है । इस प्रकार ज्ञान तथा क्रिया को भी 'चित्त' की दो वृत्तियाँ स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती । यहाँ पर यह स्मरण रखिए कि—'बुद्धि' तो इन्द्रियों के द्वारा संगृहीत ज्ञान तथा विषयों से रंजित वा प्रतिबिम्बित होती है और 'चित्त' विषयजन्य ज्ञान के संस्कारों से ही उपरक्त वा प्रतिबिम्बित होता है । गहरी दृष्टि से देखने पर तो चित्त की 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' ये दो ही मुख्य वृत्तियाँ हैं । इन के ही ५ भेद हो जाते हैं, और आगे इन पाँचों के ही अनन्त असंख्य भेद बनते जाते हैं ।

चित और 'पुरुष' में भेद—उपरिलिखित प्रसंग से यह भी विदित होता है कि 'बुद्धितत्त्व' वृत्तियों का और 'चित-सत्त्व' संस्कारों और वृतियों का आगार है। वृतियां 'बुद्धि' से एवं संस्कार और वृति 'चित से कभी नष्ट नहीं होते । ये संस्कार भी प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न और उदार भावों में से किसी-न-किसी रूप में 'चितस्थ' बने ही रहते हैं और परिणाम-भेद से कभी 'निरोध-परिणाम' (योग, ३-९) में, कभी 'प्रशान्तवाहिता-परिणाम' (योग, ३-१०) में, अथवा 'एकाग्रता' (योग, ३-१२) और 'समाधि परिणामों' (योग, ३-१२) में परिणत हो जाते हैं । बाह्य व्यवहार-काल में यह परिवर्तन स्पष्टतः बुद्धि और चित्त दोनों में दीखता है । किसी पदार्थ से उपरक्त (अनुरंजित) हुए बिना बुद्धि और चित हमें कोई बोध नहीं करा सकते । अर्थात्, जिस-जिस पदार्थ से बुद्धि और चित्त प्रतिबिम्बित होते रहते हैं उस-उस पदार्थ का ज्ञान-विज्ञान हमें होता जाता है, अन्यथा हमें किसी प्रकार का, किसी पदार्थ का कोई ज्ञान नहीं हो सकता (योग, ४-१७)❀ । फलतः, ये बुद्धि और चित्त इस रूप से वृत्ति और संस्कारमय ही हैं । ये दोनों तत्त्व स्वभाव से इतने लचकीले और चमकीले हैं कि प्रत्येक पदार्थ के रङ्ग-रूप को, प्रतिच्छाया को क्षणार्द्ध से भी अतिन्यून समय में ग्रहण कर के अपने प्रकाश से उसे दर्शनीय बना देते हैं; किन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि बुद्धि और चित दोनों अपने स्वरूप को 'स्वयं' नहीं जानते वा देखते, क्योंकि ये दोनों जड़ और दृश्य हैं । दृश्य का तात्पर्य है—दूसरे द्वारा देखे जाने के योग्य । अतः इन दोनों के परिवर्तित स्वरूपों को इनका स्वामी 'पुरुष' सदा देखता रहता है और इनकी प्रत्येक क्रिया से अवगत रहता है । जीवात्मा 'चित' में तो वास करता ही है, अतः 'चित्त' इस पुरुष के सन्निकट तथा सदा सम्मुख रहता है । इसलिए चित्त की प्रत्येक परिणति से पुरुष अभिज्ञ रहता है । चित्त परिवर्तनशील है, इसलिए इसका कोई भी परिणाम अपरिवर्तनीय एकरस—एक रूप रहने वाले 'पुरुष' से छिपता नहीं । साथ

❀ "सदा ज्ञाताश्चित वत्तायस्तत्प्रभोः परुषास्यापरिणमित्वात् ।"

L/१०-३२

ही बुद्धि और चित्त एकदेशी होने से एक काल में एक ही पदार्थ का ज्ञान कर सकते हैं—दो का नहीं, यद्यपि इन तत्त्वों की शीघ्रकारिता के कारण प्रतीत ऐसा होता है कि ये एक ही काल में अनेक कार्य कर लेते हैं।

चित्त **की** उपकारिता—**'चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन भवति 'पुरुषस्य' स्वामिनः। (व्यास भाष्य योग, १-४)**

भाष्यकार व्यास का भाव यह है कि यह 'चित्त' चुम्बक के समान 'पुरुष' के संगमात्र से उसका कार्य-साधक—सेवक बना हुआ है। और वह इस प्रकार कि—पारदर्शी तथा निर्मल बना राजस्-तामस् संस्कारों के प्रभाव से उन्मुक्त 'एकाग्र' 'चित्त' अपने 'उपराग सामर्थ्य' से संस्कारों से रंजित वा प्रतिबिम्बित होकर 'पुरुष' की समीपता से अस्मिता 'ग्रहीत' रूप हो जाता है। इस गुण, का नाम 'सर्वार्थता' है। इसी सर्वार्थता गुण के कारण त्रिगुणात्मक 'चित्त' अपने स्वामी 'पुरुष' के भोग तथा मोक्ष का साधक बन कर 'उपकारी' बना हुआ है। जैसे, एक सधा हुआ बलिष्ट 'अश्व' अपने स्वामी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, और उच्छृङ्खल अश्व हानिकर होता है। इस तथ्य को सम्मुख रख कर 'योग' चित्त-वशित्व के उपाय भी बतलाता है।

चित्त-वशित्व—योग-प्रोक्त चित्त-निरोध के अनेक उपायों में से तप-स्वाध्याय ईशप्रणिधान' इस 'क्रियायोग' (२-१)❋ के साथ योग के आठों अंगों का अनुष्ठान करने से 'अन्तःकरण' शुद्ध होता जाता है; जब तक कि 'पुरुष' को स्वरूप का बोध नहीं हो जाता (योग, २-२८)❋ में ऐसा आदेश है। विशेषतः, इन आठों अङ्गों के अन्तिम, धारणा, ध्यान, समाधियों की सहायता से एक विशेष शक्ति 'संयम' प्राप्त होती है। इस ज्योतिर्मयी-शक्ति के उत्पन्न हो जाने पर 'चित्त' पर भी आधिपत्य होने लगता है। फिर 'संयमजय' के द्वारा योगी इस 'प्रज्ञाऽऽलोक' से तृतीयपाद में कथित अनेकों विभूतियों को प्राप्त कर लेता है; किन्तु ये भौतिक ऐश्वर्य 'आत्म-साक्षात्कार' में बाधक बनते हैं। इसलिए मुमुक्षु को 'निर्विचार-समाधि' का विशेष-अभ्यास कर के अध्यात्मप्रसाद-प्रद 'ऋतम्भराप्रज्ञा' को प्राप्त करने का यत्न करना ही उचित है। इस प्रज्ञा की प्राप्न से 'प्रकृति-पुरुष,विवेक' होकर योगी का अगला पथ 'ब्रह्म-प्राप्तिरूप' सरल बन जाता है।

चित्त में 'आत्मा' की भ्रान्ति का कारण—'आत्मा' के विषय में भी मतभेदों की न्यूनता नहीं। किन्तु इन मान्यताओं के भंवर से दूर रहकर हम 'चित्त' को ही

❋ १—तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः।

योग २, १,

❋ २—योगाङ्गनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥

योग० २-२८

'आत्म-तत्त्व' समझ लेने अथवा मान लेने की भ्रान्ति को निवृत्त करना चाहते हैं। देखिए—अनुद्भूत ज्योति का यह लघु-सा खण्ड 'चित्तसत्त्व' आत्म-संयोग को पा कर विशेष-उज्ज्वल तथा सुदीप्ति दीखता है। इसी दृश्य को शास्त्रों में 'बिम्ब-बिम्बीभाव सम्बन्ध से कहा गया है। जैसे, एक दर्पण अपनी चमक रखता हुआ भी रविरश्मियों के सान्निध्य से विशेष प्रदीप्त हो उठता है, और फिर दर्पण से प्रतिक्षिप्त हुआ सूर्य का वह प्रकाश और अधिक भास्वर हो कर भासता है, यही अवस्था इस 'चित्त-सत्त्व' की है। हिमाच्छादित पर्वत,शृङ्गों से टकरा कर 'दिनकर' के प्रकाश के प्रतिक्षेप की उग्रता से यात्रियों की दृष्टि प्रायः लुप्त हो जाती हुई सुनी गई है, यद्यपि साधारण अवस्था में रवि-रश्मियाँ नेत्रों से सम्बन्ध हो कर भी दृष्टि को हादि नहीं पहुँचातीं। इसी अन्धेपन के भय से पर्वतीय यात्री हिमप्रधान-प्रदेशों में रंगीन चश्मे लगा कर चलते हैं। तात्पर्य यह है कि 'चित्त' के प्रकाश से यद्यपि 'जीवात्मा' का प्रकाश महान् है—जैसे सूर्य के सन्मुख दीपक हो, तथापि आत्म-संयोग से भास्वर बने 'चित्त-सत्त्व' के विशाल ज्योतिर्मय महासमुद्र में सूक्ष्मतम परमाणु से भी परम-सूक्ष्म और निरवयव-ज्योतिकरण 'आत्मा' का साक्षात्कार कर सकने में असमर्थ बने, कई महानुभावों ने इस भास्वर चित-सत्त्व को ही 'आत्मतत्त्व' समझा, और मान लिया, क्योंकि अति भास्वर बने 'चितसत्त्व' के ज्योतिर्मय अनन्तकण-राशिमय विशाल सागर में विलीन हुआ 'पुरुष' अदृश्य-सा ही बना होता है। यही तो 'अस्मिता' की वह अदृश्य कठिन-ग्रन्थि है जो सरलता से न तो दीखती है और ना ही भग्न होते है, क्योंकि चित का यह लघुतम प्रदेश भी आत्म-ज्योति की प्रभा से इतना भास्वर; इतना सुदीप्त तथा अहंभावना से रंजित होता है कि अहंभाव-भावि ज्योतिर्मय चित्त-प्रदेश में 'चेतन आत्म-कण' को छाँट लेना, चुन लेना या उसका भान कर लेना यदि असम्भव नहीं तो दुष्करतम अवश्य है। इस में सन्देह नहीं कि आत्म-अनात्म तत्त्वों में यही खोज संसार में कठिनतम है।

क्या ये सभी संस्कार इस छोटे-से चित्त में समा जाते हैं ?—

इस का छोटा-सा उतर है—नहीं। तो फिर ये अनन्त संस्कार किस रूप में कहाँ रहते हैं ? इसका रहस्य यों समझिए—प्रत्येक 'अन्तःकरण' का सीधा सम्बन्ध अहर्निश और प्रतिक्षण दिव्य अदृश्य रश्मियों की धारा के द्वारा 'समष्टि-चित्त' के साथ जुड़ा रहता है। जीवमात्र के शुभाशुभ कर्मों के संस्कार चित्तभूमियों से प्रवाहित हो कर उसी दिव्य-रश्मि-धारा के द्वारा ही 'समष्टि-चित्त' में जा कर संचित होते रहते हैं और विपाकोन्मुख फल देने वाले संस्कार उसी 'रश्मि-द्वार' से व्यष्टि-चित्तों में आते रहते हैं। यह क्रम 'रहट' पर चढ़ी टिंडों की माल के समान प्रतिक्षण चलता रहता है। यथा, ५० गज विस्तृत भूमि में गन्ना, अंगूर, मिर्च, आँवला, नींबू, नीम, आदि के ५० प्रकार के पौधे लगा दिए जाएं तो वे अपने सजातीय रसों को ही आकर्षित करते हैं, इसी प्रकार 'व्यष्टि-चित्त' में पड़ा एक प्रबल संस्कार जब भोगोन्मुख होता है तो वह 'समष्टि चित्त' से सजातीय संस्कारों को आकर्षित कर लेता है। इस क्रम का दर्शन या परिज्ञान समाधि अवस्था में अभ्यस्त साधकों को ही हो पाता है। क्योंकि जाग्रत् दशा में बहिर्मुखता के कारण 'वृति-सारूप्य' बने हुए साधक को अपने

आन्तरिक व्यापारों का कुछ-भी भान नहीं होता। किन्तु बाह्य व्यापारों से निवृत हुए मन-बुद्धि, अहंकार-चित्त का अन्तःव्यापार तो होता रहता है, और समाधिस्थ हो कर अन्तःव्थापार के होते समय अदृश्य रूप से अपने चित्त के साथ बने उस विश्वगर्भ से सम्बन्धित सम्पर्क को देखा जा सकता है जहाँ पर समस्त जीवों के संस्कार संचित रहते हैं। क्योंकि यह तो स्पष्ट ही दीखता है कि यह छोटा-सा चित हमारे अगणित संस्कारों को कैसे धारण कर सकता है जबकि जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार मिल कर असीम और अनन्त बन जाते हैं।

इस प्रश्न का समाधान समाधि-अवस्था में पूर्वोक्त प्रकार से हुआ है और कोई भी अभ्यस्त ध्यानी समाधिस्थ हो कर ऐसा देख सकता है कि, सूक्ष्मतम ज्योति की धारा उसके चित्त के साथ आकर मिलती है और हृदय में से होकर—हृदय के निचले भाग में से निकल कर आकाश-मण्डल में विलीन हो जाती है। इस पर 'संयम' करने से ज्ञात होगा कि यह धारा 'विश्वगर्भ' से आकर मानव 'चित्त' को स्पर्श करती है, तब चित्त में कुछ बुद-बुदे-से उठकर एक विचित्र-सी आभा से 'बुद्धि-मण्डल' को प्रभावित करते हैं। ये भोगोन्मुख संस्कार होते हैं जो बुद्धि को विषयोन्मुखी बनाते हैं। पुनः, चित्त से निकलती उसी धारा के साथ बहे जाते हुए सूक्ष्म चमकीले कणों के रूप में संस्कार-समूह भी दीखता है। आगे, इसका पीछा करने से दीख पड़ेगा कि इस धारा के साथ बहा जा रहा यह संस्कार-समूह भगवती प्रकृति के गर्भ में (समष्टि-चित में) जा कर संचित होता रहता है और वहाँ से उठ-उठ कर रश्मिधारा के साथ मिल कर ज्योतिर्मयी वाष्प के रूप में प्रत्येक चित में बरसता रहता है। इन में से विपाकोन्मुख संस्कार तो चितभूमि में रह जाते है और वे स्मृति के रूप में जाग-जाग कर फलने लगते हैं। एवं शेष उसी धारा के साथ बह कर 'समष्टि-चित्त' के गर्भ में पड़े अन्य संचित संस्कारों के साथ जा मिलले हैं। भोगोन्मुख संस्कार प्रत्येक चित्त में चिपक कर स्मृति के रूप में जाग्रत हो-हो कर बुद्धि को भोगव्यापार में प्रवृत करते रहते हैं। ये विपाक देने वाले संस्कार भी चित्त से कभी रश्मियों के और कभी स्फुल्लिगों के रूप में उठ कर बुद्धिमण्डल तक जाते दीखते हैं। इन में रंग-भेद भी होता है। ध्यानस्थ हो कर 'संयम' के बल से ऐसा स्पष्ट दीखता है। भगवत नियम तथा भगवत प्रेरणा से प्रत्येक 'चित्त' विपाकप्रद-संस्कारों को ही ग्रहण करता है, शेष को त्याग देता है। वे उसी धारा के साथ बह कर अपने अन्य साथियों के साथ 'विश्वगर्भ' में संचित हो जाते हैं। इसी रूप में ये संस्कार मानव-चित्तो में वास करते हैं और प्रकृति के गम्भीर कूप से उपरोक्त विधि से इन का आवागमन चालू रहता है।

वृत्तियों का सम्बन्ध—योग दर्शन में कथित ५ वृत्तियों में से **'निद्रा'** तथा 'स्मृति' का विशेष सम्बन्ध 'चित-सत्त्व' तथा शेष 'प्रमाण' आदिक तीन **वृतियों** का सम्बन्ध 'बुद्धितत्त्व' के साथ है। इसलिए हम प्रथम **'निद्रा' को** लेते हैं।

निद्रा का लक्षण--'अभावप्रत्ययालम्बना वृतिर्निद्रा' (योग० पा० १ सू० १०) निद्रा का यह लक्षण करता है। अर्थात्, जाग्रत् तथा स्वप्नों में होने वाले अनुभवों की 'अभाव' के रूप में प्रतीति कराने वाली वृति को 'निद्रा' कहते हैं। जिस अवस्था में मनुष्य को ऐसा प्रतीति होता है—कि 'इस समय मुझे कुछ प्रतीत नहीं हो रहा'—ज्ञान के अभाव की यह प्रतीति जिस भावना, शक्ति, वृत्ति या "करण' के द्वारा हो रही होती है, उसी 'चित्त-वृत्ति' को 'निद्रा' कहते हैं। कोई विद्वान् 'निद्रा' को चित्त की वृति न मान कर निद्रा और सुषुप्ति को चित की 'अवस्था विशेष' मानते हैं। किन्तु सूत्रकार ने निद्रा के साथ पुनः 'वृत्तिपद' का प्रयोग कर के 'निद्रा' को 'चित्तवृत्ति ही दर्शाया है। 'निद्रा' में ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता, केवल जाग्रत् और स्वप्न की वृतियों का ही अभाव होता है। शयन के पश्चात् जागने पर यह कहना कि—'मैं ऐसा अचेत हो कर सोया कि तन-मन की सुध ही न रही'—इसी स्मृति से यह सिद्ध होता है कि 'निद्रा' भी एक वृति है, और इस का साक्षी 'अहंकार' होता है, जो जागने पर 'अभाव की प्रतीति' को 'स्मृति-वृति' के द्वारा प्रकट करता है। तमःबाहुल्य के कारण योगी को अन्य राजस-तामस-वृत्तियों के समान ही निद्रा' का निरोध भी करना चाहिए।

निद्रा का स्वरूप—इसका स्वरूप यह है कि तीनों ही शरीर 'तम' से आक्रान्त हो कर जब जड़वत् हो जाते हैं तब 'चित्त' पर सन्नाटा सा-छा जाता है। इस स्तब्धता को अनुभव करने वाली 'चित्त-वृत्ति' का नाम 'निद्रा' रख लिया है। जैसे सामान से भरे अन्धकारमय कमरे में प्रविष्ट होने वाले को पदार्थों का अभाव ही दीखता है, ऐसी ही दशा 'निद्रा' में चित्त की होती है; किन्तु तमसाभिभूत दशा में भी विद्यमान 'सत्त्व' की न्यूनतर मात्रा निद्रानुभूत सुख-दुःख को जागने पर स्मरण करा देती है। उस अवस्था में कुछ तो अनुभव होता ही है तभी मनुष्य उसे कहता है। बिना अनुभूति वा प्रत्यक्ष किए अनुमान का कथन भी तो नहीं बनता। यह निद्रा भी 'त्रिगुण' से प्रभावित रहती है। 'सत्त्व' की प्रधानता में सुख, प्रसन्नता, स्फूर्ति, स्वस्थता; रजःबाहुल्य में दुःख, विकलता, विज्ञिप्तता, बेचैनी और तमोमयी निद्रा में जड़ता, गुरुता, ग्लानि की अनुभूति होती है, जिसे जागने पर वह कह पाता है।

निद्रा के भेद—निद्रा के भी कुछ भेद हैं; जिन्हें सूत्रकार ने 'निद्रा' में ही सम्मिलित कर लिया है। जैसे निद्रा से पूर्व की अवस्था 'तन्द्रा', जिस में 'आर्द्धज्ञान' सा रहता है। २. 'निद्रा' जो साधारण निद्रा है। ३. निद्रा की प्रगाढ़ अवस्था 'सुषुप्ति जिस में जड़ता-सी छा जाती है। साथ ही निद्रा दो प्रकार से आती हैं:—१. बाहर से, २. अन्दर से। इन का व्याख्यान निम्न प्रकार है:—

निद्रा आने का प्रथम प्रकार—१. यह निद्रा बाह्य कारणों से आती है, जैसे अतिश्रम से उत्पन्न श्रान्ति (थकान) के कारण पेशियाँ शिथिल पड़ने लगती हैं तब नेत्रों के सामने अन्धकार छाने लगता है और शरीर भी भारी पड़ कर जड़वत् होने लगता है। इस समय अर्धचेतना की अवस्था होती है, जिस में किसी प्रश्न का उत्तर यथार्थ और पूरा नहीं मिलता, इसे 'तन्द्रा' कहते हैं। इस के आगे शरीर भीतर-बाहर

से काष्ठ के समान निश्चेष्ट-सा हो जाता है और कुछ भी सुध-बुध नहीं रहती । अब मनुष्य का शरीर मिट्टी के एक ढेले के समान बाह्य संज्ञाशून्य बन जाता है। परन्तु रक्त-संचार आदि की सूक्ष्म तथा श्वास-प्रश्वास की स्थूल क्रिया तो होती रहती है।

२. **दूसरा प्रकार यह है कि**—जब 'निद्रा' अन्दर से प्रकट होती है । इस समय तमोगुण का प्रभाव 'चित्त' पर छाने लगता है, और इसका प्रभाव क्रमशः तीनों शरीरों पर धीरे-धीरे तथा कभी-कभी एक दम तुरन्त ही पड़ जाता है । वस्तुतः, इस आन्तरिक रूप से प्रकट होने वाली निद्रा में क्रम वही होता है जो हम उपासना करते समय नित्य बर्तते हैं । जैसे कि हम सन्ध्योपासन से पूर्व देह को शिथिल करते हुए कुछ काल तक संकल्पबल से 'वृत्ति-निरोध' करते हैं, उस समय 'चित्त' समाहित होने लगता है और राजस-तामस ही नहीं वरन् सात्त्विक वृत्ति भी निरुद्ध होने लगती है । अब नवृं-त्तिक होते समय यदि निद्रा की इच्छा हो तो 'तम' उभर आएगा और हमारा 'सूक्ष्म-शरीर' तमाक्रान्त हो कर स्थूलदेह को भी जड़वत् बना देगा । इस समय 'सूक्ष्म शरीर' के तमोग्रस्त होते जाने से ब्रह्मरन्ध्रगत मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सभी कुण्ठित पड़ जाती हैं। फलतः, प्राण भी शिथिल हो कर ज्ञान-कर्म के प्रसार करने का व्यापार स्थूलदेह में नहीं कर पाते और देह लोष्ठ-सम हो जाती है । 'चित्त' की वृत्तियां वा क्रिया स्वतः अवरुद्ध हो जाती हैं तथा अन्य वृत्तियों के 'अभाव' एवं 'निद्रा-वृत्ति' रूप 'तम' की 'भावात्मक' प्रतीति होती रहती है ।

विशेष ध्यान देने योग्य बात—निर्वृत्ति होते समय यदि 'निद्रा' की कामना न की जाए तो रज और तम दोनों को दबा कर 'सत्त्वगुण' प्रबल बन कर, चित्त को 'निर्बीज' वा 'निर्विकल्प' अथवा 'निर्विचार' समाधि में प्रविष्ट कर देता है, और एकाग्रता के तुल्य होती हुई यह 'निद्रा-वृत्ति' तथा 'असम्प्रज्ञात' के समान-रूपा वा छोटी बहन के समान होती हुई भी 'सुषुप्ति-वृत्ति' तमःप्रधाना होने से, 'सबीज' तथा 'निर्बीज' दोनों समाधियों की बाधक होने के कारण, जय करने के योग्य है । ध्यान रहे कि सभी प्रकार की मूर्च्छा—मादक-द्रव्य सेवन से वा 'क्लोराफ़ार्म' से उत्पन्न मूर्च्छा भी—'निद्रा' में ही गिनी जाती हैं—अतः ये सभी त्याज्य हैं ।

निद्रा के साक्षात्कार का प्रकार—निद्रा, स्वप्न आदि जैसी तामसिक अव-स्थाओं का साक्षात्कार 'वितर्कानुगत-समाधि' की अवस्था में किया जाता है । क्योंकि इन के साक्षात्कार में ज्ञान-पूर्वक संकल्प-बल के द्वारा आनुक्रमिक रूप से 'निद्रा' तथा 'स्वप्न' का स्वरूप सम्मुख लाया जाता है, तभी इन दोनों अवस्थाओं का प्रत्यक्ष होता है । स्वाभाविक निद्रा आने से पूर्व भी क्रम यही होता है, किन्तु तमःप्रधानता-वश स्पष्ट-प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता । इन्हें यों देखा जाता है—

निद्रा के स्वरूप का दर्शन—ध्यानस्थ होते समय जब शरीर को शिथिल कर के संकल्प-विकल्प का निरोध करते हुए प्राणों के द्वारा स्थूल देह में फैलती क्रिया को हम रोकने का प्रयत्न करते हैं, तब इससे देह के अन्दर-बाहर सर्वत्र एक प्रकार की स्तब्धता छाने लगती है । यदि हम सावधान न हों तो पूर्वकथित 'निद्रा' का स्वरूप तम का प्रसार प्रकट होगा । स्वप्न-साक्षात्कार या तमःप्रसार में जब हम यहाँ पर सावधानी

से देखेंगे तो हमें ज्ञात होगा कि पूर्व अवरोध से हमारी इन्द्रियों के गोलक अपना कर्म त्याग देते हैं। अतः बाह्य जगत् का व्यापार रुक जाता है। इस कारण बाहर से कोई ज्ञान वा क्रिया अन्दर प्रवष्टि नहीं हो सकती। फलतः आन्तरिक व्यापार स्पष्ट होने लगता है। ठीक वैसे ही जैसे अंधकारपूर्ण सिनेमा-हाल में चलचित्र चलता है। चित में पड़े संस्कारों की स्मृति इस समय प्रकाशयुक्त धूम्ररेखा के रूप में उठकर मस्तिष्कगत 'बुद्धि-मण्डल' में हल-चल मचा देती है। इस हल-चल से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सभी क्षुब्ध उठते हैं। इस क्षुब्धावस्था में यह 'मन' सूक्ष्म इन्द्रियों की सहायता से स्मृतिजन्य संस्कारों को, जो 'विज्ञानमयकोश' में प्रविष्ट हो जाते हैं, 'मूर्त्तरूप' देने लगता है, किन्तु इस अर्द्धतमसाक्रान्त अवस्था में 'बुद्धि' का पूर्ण अनुशासन 'मन' पर नहीं रहता। इस कारण 'मन' का इस समय का सब व्यापार असम्बद्ध 'अबुद्धितापूर्ण' अस्त-व्यस्त होता है, और यह स्वप्नाचार व्युत्थान होने तक चलता है। यह स्वप्न प्रत्यक्ष है। जब कभी स्वप्न का दृश्य यथार्थ हो जाता है तब इसका कारण अनायास उत्पन्न हो जाने वाली सात्विक अवस्था होती है। इस समय 'सूक्ष्मशरीर' बुद्धि की सात्त्विक वृत्ति से प्रेरित 'मन' के द्वारा अन्तरिक्ष से उस घटना को अचानक पकड़ लेने में सफल हो जाता है, और स्वप्न में कभी-कभी कुछ कर्मों का फल भी मिल जाता है। जैसे स्वप्न-दोष आदि विकार हो जाने पर 'चित' में ग्लानि रूप दुःख होता है और किसी सात्त्विक स्वप्न के सुन्दर दृश्य से सुख भी। कई वार ऐसे भी स्वप्न आते हैं; जो बहुत स्मरण करने पर याद नहीं आते हैं, और इस जीवन में भी ऐसी कोई घटना नहीं देखी या सुनी होती है। चित्त पूर्व जन्म के संस्कारों को अहंकार द्वारा आकर्षण कर के उथल-पुथल करने लगता है। ये संस्कार भी स्वप्न के हेतु बन जाया करते हैं। जो कि आरब्धोन्मुख होने वाले होते हैं।

योगी में तो इतनी शक्ति होती है कि वह आरब्धोन्मुख संस्कार-जन्य कर्मों को भी आकर्षण कर के इसी शरीर में या दूसरे शरीर को धारण कर के भोग लिया करता है। उस योगी के लिये यह शरीर और दूसरा जन्म शरीर बराबरा से ही होते हैं, क्योंकि उस के लिये शरीर की स्थिति केवल भोग-मात्र के लिये ही रह जाती है। वह इस शरीर या दूसरे शरीर से कोई भी ऐसा कर्म नहीं करता है कि जो इस जन्म में या दूसरे जन्म में फल देने वाला हो, या प्रारब्ध का निर्माण करने वाला हो।

स्वप्न-ज्ञान के संस्कार जन्य होने से कई आचार्यों ने इस को स्मृति के अन्तर्गत ही माना है, परन्तु हमारे अनुभव के आधार पर यह विपर्यय वृत्ति के अन्तर्गत होता है, क्योंकि इस में सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियों के द्वारा व्यापार होता है। स्वप्न-काल में शब्द सुनना, स्पर्शकिरना, रूप देखना, जल में तैरना या पीना, सुगन्ध इत्यादि लेना, ये सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा होते हैं। स्वप्न में हाथ से मारना या उठकर चल पड़ना, बोलने लगना, बातें करना, वीर्य का पात हो जाना इत्यादि कर्म स्थूल इन्द्रियों के द्वारा हो जाते हैं हमारे अनुभव के आधार पर जितने भी स्थूल और सूक्ष्म इन्द्रिय के व्यापार हैं, सब मनोमय कोश या विज्ञानमय कोश अथवा सूक्ष्म शरीर में ही होते हैं। हम लिख चुके हैं, और आगे भी लिखेंगे—स्मृति और निद्रा-वृति का व्यापार कारण शरीर में होता है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्प वृति का व्यापार मुख्य रूप

से सूक्ष्म-शरीर में होता है। दशों इन्द्रियों और मन के जितने भी कर्म हैं वे सब सूक्ष्म शरीर में ही होते हैं। अतः स्वप्न को विपर्यय वृत्ति के अन्तर्गत मान लेना ही समीचीन होगा, जो कि अविद्यात्मक ही है, इस के पाँच भेद हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। इन के भी ६२ भेद हो जाते हैं।

निद्रा-निरोध—सिद्धान्ततः योगदर्शनकार 'आत्मस्थिति' के अतिरिक्त, चित्त की प्रत्येक अवस्था को 'वृत्तिरूप' ही मानते हैं, और चित्त-वृत्ति-निरोध के उपायों में **'स्वप्न-निद्राज्ञानालम्बनं वा'** (योग० पा० १ सू० ३८) सूत्र भी दिया है। इसका क्रियात्मक अर्थ यह है कि निद्रा-स्वप्न-सुषुप्ति में ध्यान पूर्वक प्रवेश करने की विधि का आलम्बन करने से भी चित्त एकाग्र होता है, जैसा कि अभी 'निद्रा के साक्षात्कार के प्रकार' में दिखा आए हैं, इसको क्रिया में लाइए।

निद्रा के मुख्य गुण—भले ही निद्रा तमोमयी है किन्तु प्राणीमात्र के लिए भोजन से भी अधिक उपयोगी है, क्योंकि देह की श्रान्ति और मन की क्लान्ति का हरण कर के बुद्धि को शान्ति देती है। योगी को तो इसकी अधिकता का निवारण करके नियन्त्रित करने की आवश्यकता है जिससे ध्यानकाल में यह अथवा तमोगुण न सता सके। योगी भी यदि उचित निद्रा नहीं लेगा तो उसका मस्तिष्क दुर्बल होता जाएगा। योगी हो अथवा भोगी, रुग्णावस्था में, देहादि की श्रान्ति में, चिन्ता-दुःखादि से सन्तप्त अवस्थाओं में सबको इसकी परम-आवश्यकता पड़ती है। 'निद्रा' तो मातृवत् जीवमात्र की रक्षिका है। अतः 'निद्रा' का सदुपयोग करना चाहिए। थकी देह, विक्षिप्त मन-बुद्धि, चिंताकुल चित्त तो समाधियों में सहायक अथवा-उपार्जन के योग्य नहीं होते।

चित्त की अन्तिम वृति 'स्मृति' की व्याख्या

स्मृति का लक्षण—**'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः'** (योग,पा०, १ सू०, ११) यह स्मृति का लक्षण है। अर्थात् किसी भी अनुभूत या साक्षात्कृत ज्ञान में से कुछ अंश का भी ग्रहण, अनुभूत का ही स्मरण—स्मृति' संज्ञक चित्तवृत्ति है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, इन चार प्रकार की वृत्तियों के द्वारा अनुभूत विषयों के चित्त-पटल पर पड़े संस्कारों का किसी आभ्यन्तरिक या बाह्य उद्‌बोधक को पाकर प्रकट हो जाना, उनका पुनर्बोध होना 'स्मृति' है।

स्मृति का स्वरूप—इस प्रकार स्मृति का स्वरूप यह बना कि—प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा अनुभूत विषय वा पदार्थ के चित्त पर पड़े सूक्ष्मभाव रूप संस्कारों को पुनः-पुनः बोध कराने वाली वृत्ति 'स्मृति' है। ये संस्कार अथवा वासनाएं प्रत्येक अनुभूति के 'बीज' कहे जा सकते हैं। बीज और वृक्ष की उत्पत्ति के समान ही संस्कार वा वासना रूपी 'बीज' समयान्तर में किसी 'उद्‌बोधक' (सहायक) को पाकर 'स्मृति वृत्ति' के द्वारा सजग हो कर एवं 'चित्त में' अंकुरित-सा होकर 'विज्ञानमयकोश' में आकर 'मूर्त्त-रूप' धारण करता है। तत्पश्चात् 'अन्नमयकोश' के द्वारा यह फूलता-फलता है। यह 'स्मृति' संस्कारों का एक 'चिह्न'-सा होता है। यह 'चिह्न' किसी भी वस्तु के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कार से पड़ जाता है, और ये संस्कार ज्ञान-अज्ञान

से मिश्रित प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, तथा निद्रावृत्ति जन्य अनेक प्रकार के होते हैं, जो 'स्मृति' के रूप में 'चित्त'-पटल पर अंकित होते हैं। इस स्मृति और संस्कारों के विषय में एक नियम है—

'जाति—देश—काल—व्यवहितानामपि आनन्तर्यम् स्मृतिसंस्कारयोर् एकरूपत्वात्'

(योग० पा० ४ सू० ९)

इस पर व्यास का कथन है कि—

'यथा अनुभवास्तथा संस्काराः। ते च कर्मवासनानुरूपाः। यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति, जाति, देश, कालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः। स्मृतेश्च पुनः संस्काराः'

अर्थात् अनुभव के अनुसार संस्कार और संस्कारों के अनुसार ही स्मृति होती है। ये संस्कार जाति, देश, काल के व्यवधान से नष्ट नहीं होते; किन्तु किसी उद्‍बोधक सामग्री को निमित्त बना कर 'स्मृति' रूप से जाग पड़ते हैं। इस प्रकार संस्कारों से स्मृति और स्मृतियों से संस्कार बनते रहते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी नियम है कि स्मृति का विषय प्रत्यक्ष से अन्यून वा प्रत्यक्ष के समान ही रहता है। प्रत्यक्ष में न्यूनता आ जाने का नाम'प्रमोष' दोष है और प्रत्यक्ष से अधिक 'कल्पना' की कोटि में आ जाता है। स्मृति के भी दो भेद है :—

१. **भावित स्मर्तव्या-स्मृति**—जो विपर्य-विकल्पादि के अज्ञान से युक्त होती है, जैसी स्वप्नों में। स्वप्नों में तो स्मृति की 'आवृति' होती है, इस लिए स्वप्न को 'स्मृति-वृत्ति' नहीं माना जा सकता। 'भावित स्मर्तव्या' का अर्थ है 'भूतकाल-विषयक स्मृति'; कन्तु स्वप्नों में यह यथार्थ ज्ञान भी नहीं रहता कि 'मैं पूर्वकालिक स्मृतियों को दोहरा रहा हूँ', एवं स्वप्नों में प्रायः स्मृति की विकृति ही दीखा करती है, जो प्रायः 'कल्पित' होती है।

२. **अभावित-स्मर्तव्या-स्मृति**—'अभावित' का अर्थ है 'वास्तविक-स्मृति', जो जाग्रत्-काल में एवं समाधिजन्य यथार्थ-ज्ञान के आधार पर होती है। यहाँ पर भी एक नियम कार्य करता है। वह यह कि सब स्मृतियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, तथा निद्राजनित अनुभव के आधार पर होती हैं, और ये सब वृतियाँ सुख, दुःख, एवं मोहात्मिका होने से निरोध करने के योग्य हैं। इन के निरोध से ही सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार की समाधियाँ सिद्ध होती हैं।

स्मृति का फल—स्मृति का फल भी दो प्रकार का होता है।

स्मृति-मात्र-फला—वह स्मृति है जो 'चित्त' में केबल सुख-दुःख उपजा कर शान्त हो जाती है।

विपाक की हेतु—अर्थात् जो संस्कार 'स्मृति' के बल से अंकुरित हो एक महान् वृक्ष के समान बड़े होकर जाति, आयु, और भोगों के रूपों में फलते हैं, तथा आगे वृद्धि के लिए बीज छोड़ जाते हैं।

'स्मृति' को वृत्तियों के अन्त में रखने का प्रयोजन—इस के दो कारण प्रतीत होते हैं।

१—स्मृतिवृत्ति' ही पूर्व चारों वृत्तियों के उन संस्कारों को संगठित रखने की शक्ति रखती है, जो चित्तभूमि में सदा दृष्ट-अदृष्ट किसी-न-किसी रूप में रहा करते हैं।

२—और ये संस्कार 'स्मृति' के बल से ही 'देही' को अग्रिम जन्म दिलाने के 'कारण' बनते हैं।

क्या स्मृति का कभी अभाव नहीं होता ?

इस का समाधान निम्न है :—

स्मृति का अभाव—समाहित हो कर यदि देखें तो ऐसा दीखता है कि—'असम्प्रज्ञात-समाधि' में स्थिति के लिए हम जब प्रयत्नशील होते हैं तब 'चित्त-मण्डल' के संस्कारों से भरे प्रदेश को लाँघते हुए जिस समय केन्द्र में आत्म-चेतना के समीप पहुँचते हैं तब वहाँ हमें निस्तरंगता-सी भासती है। किन्तु यहाँ पर भी चित्तगत होने वाला स्वभाविक-परिणाम भासित होता है, अर्थात् 'चित्त' के प्रत्येक प्रदेश में होने वाली प्रख्याशीलता की स्वाभाविक-गति तो बनी रहती है—कभी बन्द नहीं होती। केवल महाप्रलय के समय जब चित्त अपने 'कारण' में विलीन हो जाता है, उस समय यह गति भी चित्त के साथ ही विलीन हो जाती है। चित्त की प्रख्याशीलता के कारण ही यह सब दृश्य 'दिव्यदृष्टि' के द्वारा देखा जाता है। इस प्रकार 'सर्ववृत्ति-निरोध' के प्रभाव से जब किसी वृत्ति का व्यवहार नहीं होता, तो वहाँ उस समय न तो कोई संस्कार बनता है, न कोई स्मृति होती है। इस समय 'चित्त' में जो कुछ भी होता है वह 'वृत्ति-मात्र' या 'संस्कार मात्र का अभाव होता है, जिसे साधक इस रूप में प्रकट कर देता है कि 'मुझे कुछ ज्ञात नहीं कि इतने समय में क्या हुआ। इस से स्पष्ट है कि उस समय 'निद्रा' के समान ही वृत्तिमात्र के अभाव का ज्ञान हो रहा था, जो अनुभूति में आ रहा था। इस प्रकार यह 'असम्प्रज्ञात' भी 'चित्त' की अवस्था-विशेष है—वृत्ति विशेष नहीं है। क्योंकि सर्व-वृत्ति निरोध होने पर ही तो 'पुरुष' स्वरूपस्थ होता है, और यह 'असम्प्रज्ञात' भी एक भावात्मक अवस्था है, अभावात्मक नहीं। अब यहां पर स्मृति के विषय में इतनी-सी बात समझने के योग्य है कि निरोध-संस्कारों की पुनरावृत्ति से बनी 'निरुद्धावस्था' में भी 'स्मृति' कार्य कर रही होती है। तभी पूर्व-निरोध-संस्कार के दबते ही दूसरा निरोध-संस्कार उभर कर चित्त की निरुद्धावस्था को स्थिर बनाए रखता है।

कई महानुभाव पूर्वकथित इस निरोधावस्था को 'स्मृति वृत्ति' का परिणाम नहीं मानते, केवल चित्त की एक अवस्था-विशेष ही मानते हैं। स्वरूपस्थिति में 'स्मृति वृत्ति' दब जाती है और स्वरूपस्थिति के हटते ही सजग होकर पुनः 'प्रवृत्ति' में

प्रवृत्त कर देती है—इसका सर्वनाश नहीं होता। यह तो प्रलय-काल में भी पीछा करती हुई 'सर्ग' के प्रारम्भ में फिर जीवमात्र को आ पकड़ती है।

स्मृति का एक सिद्धान्त—सदा स्मरण रखिए कि, स्मरण भी ज्ञान से बंधे विषय का होता है, न केवल 'ज्ञान' का, न केवल 'विषय' का; किन्तु पदार्थ के आकार तथा अनुभव का मिलकर ही स्मरण होता है। इस भाँति लौकिक-पारलौकिक सब व्यवहार को चलाने के लिए 'स्मृति' अति उपयोगी है। इसके अभाव में तो कुछ व्यवहार हो ही नही सकता।

संस्कारों के आगार 'चित्तसत्त्व' के इस व्याख्यान के पश्चात् आगे 'वृत्यागार-बुद्धितत्त्व' की वृत्तियों के विषय को स्पष्ट करते हैं। क्योंकि संसार की अधिकाँश वृत्तियों अथवा व्यवहारों का सम्बन्ध 'बुद्धि' से ही है।

बुद्धि-वृत्तियों की व्याख्या—सूक्ष्मता से विचार करने पर यह सम्पूर्ण जगत् 'वृत्तिमय' ही प्रतीति होता है, और यह वृत्तिरूप व्यवहार असंख्य तथा अनन्त हैं। यह व्यवहारमात्र 'बुद्धि' के द्वारा होता है, और इसके अनन्त व्यवहार की गणना करना असम्भव है। अतः इस 'विश्व-व्यवहार' को एक शृंखला में बाँध कर ५ रूपों में दर्शा दिया है। इस से इनको समझना-समझाना भी अति सरल हो गया है। 'वृत्ति' शब्द की व्याख्या तो पीछे हम कर आए हैं, यहाँ पर तो अब उतना ही लिखेंगे कि जितना हमारे साक्षात्कार से विशेष सम्बन्ध रखता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों की विस्तृत व्याख्या तो अन्यत्र दर्शन-ग्रन्थों में देखी जा सकती है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, वृत्तियाँ भी जब राग-द्वेषादि क्लेशों को उत्पन्न करें, दुष्ट भावनाओं को बढ़ाएँ, अविद्या के बन्धन को दृढ़ करें तो वे सब 'क्लिष्ट' होती हैं। और इन से सर्वथा विपरीत अज्ञान अन्धकार की नाशक एवं विवेक-ख्याति की उत्पादिका वृत्तियाँ 'अक्लिष्ट' कही जाती हैं। किन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि थोड़ा-सा पाप सत्संग के प्रभाव से पुण्य में, एवं थोड़ा-सा धर्म कुसंग से पाप में परिणत हो जाता है। इस लिए प्रत्येक मुमुक्षु को सावधान रह कर 'कुसंग' को त्यागने और साधु-संग करने की आवश्यकता है। अब प्रमाणों को समझिए :—

१. प्रमाण—दर्शनों में प्रमाणों की संख्या तीन से आठ तक है; किन्तु वे सब प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम—में ही समाविष्ट हो जाते हैं। सर्व प्रथम प्रमाण 'प्रत्यक्ष' है। 'न्याय' ने,

'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यभिचारि. व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'

न्याय० अ० १। आ० १। सू० ४

ऐसा लक्षण किया है।

'इन्द्रियों की नलिकाओं के द्वार से 'बुद्धि' का 'मन' के द्वारा बाह्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न 'सामान्य' तथा 'विशेष ज्ञान' को धारण करने वाली 'बुद्धि-वृत्ति' का नाम 'प्रत्यक्ष' है'

ऐसा लक्षण 'व्यास' ने किया है।

इस प्रकार संशय और भ्रान्ति रहित पदार्थज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। इस विषय में भी दर्शनों ने उत्तम अनुशीलन किया है। उस से हमारा कुछ प्रयोजन नहीं है। 'मन' से प्रेरित इन्द्रियों का तथा पदार्थ के संयोग से उत्पन्न अनुभव का नाम 'प्रमा' है, और जिस 'बुद्धिवृत्ति' से यथार्थ बोध हो, वह 'प्रमाण' है। जिस किसी इन्द्रिय के द्वारा लाए गए विषय से 'तदाकार' हो कर 'बुद्धि' जिस पदार्थ का अनुभव करती है वह 'प्रत्यक्ष' होता है। इस बाह्य प्रत्यक्ष के समान ही 'आन्तरिक-प्रत्यक्ष' भी बुद्धि की सहायता से होता है। इस भांति 'प्रत्यक्षमात्र' बुद्धि-वृत्ति के द्वारा ही होता है। इस का 'प्रत्यक्ष' भी आप 'विज्ञानमय' तथा 'मनोमय' कोशों में करेंगे।

अनुमान—किसी प्रत्यक्ष-दर्शन की सहायता से अप्रत्यक्ष, दूरस्थ या छिपे पदार्थ को युक्ति-द्वारा जानने और मनाने को 'अनुमान' (अनु-मान) कहते हैं। इस की सहायता से अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थों का सामान्य ज्ञान हो जाता है। आन्तरिक पदार्थों के सामान्य-ज्ञान में यह भी सहायक होता है।

आगम—श्रुति,स्मृति, तथा आर्ष-ग्रन्थ एवं यथार्थवक्ता आप्तजनों के वचनों को 'आगम-प्रमाण' कहते हैं।

इन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जो भी ज्ञान होता है वह सब वृत्त्यात्मक ही है। अर्थात् जड़-चेतन सम्बन्धी संसार के सब पदार्थों का ज्ञान-विज्ञान वृत्त्यात्मक वृत्ति रूप है। इन सब प्रमाणों से मानव-समाज का व्यवहार चलता है। किन्तु संसार में प्रवृत्त कराने तथा फँसाने वाले ये प्रत्यक्षादि 'क्लिष्ट', तथा 'विवेक' और परमार्थ साधक 'परवैराग्योत्पादक' ये प्रमाण 'अक्लिष्ट' होते हैं।

२. **विपर्यय—'विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम्'**

योग० पा० १ सू० ८

अर्थात् वस्तु के यथार्थरूप को दर्शाने वाली 'बुद्धि-वृत्ति' तो 'प्रमाण' कोटि में है, किन्तु वस्तु से विलक्षण' आकार को दर्शाने वाली 'बुद्धि-वृत्ति' की 'विपर्यय' संज्ञा है, अर्थात् उलटा-ज्ञान। जैसे कि अन्धकार में दूरस्थ पाषाणखण्ड को दृष्टिदोष से 'रीछ' समझ लेना मिथ्या-ज्ञान है। विद्वानों में यहाँ पर भी मतभेद है--कोई तो अविद्या' और 'विपर्यय' को एक ही कोटि का अज्ञान मानते हैं, दूसरे इन दोनों को पृथक्-पृथक् दो पदार्थ मानते हैं। कुछ भी हो, ये दोनों यथार्थज्ञान से भिन्न अज्ञान-कोटि के पदार्थ हैं।

३. **विकल्प—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'**

योग० पा० १। सू० ९

अर्थात् कोई वस्तु शब्दों के द्वारा तो प्रतीति हो, किन्तु उसकी सत्ता कुछ भी न हो, ऐसे ज्ञान का नाम 'विकल्प'—'कल्पित' है। इन दोनों के भेद को इस प्रकार समझें। समान-सी दो-तीन वस्तुओं में एक समान ज्ञान हो जाना तो 'विपर्यय' है, और यह भ्रम यथार्थता के प्रकट होने पर दूर हो जाता है, किन्तु यह विकल्प-ज्ञान' तो निराधार, केवल 'काल्पनिक' होता है। वस्तु के न होते हुए भी शब्दाडम्बर के आधर पर उस वस्तु की मान्यता हो कर लोक व्यवहार भी होने लगता है। जैसे निराकार

ईश्वर के सब चित्र कल्पित हैं, किन्तु भगवान् मानकर पूजे जाते हैं। रावण के १० शिर, ब्रह्मा के ४ शिर, जीव को ईश्वर का अंश, जीव-ब्रह्म दोनों को एक मानना आदि दृष्टान्त 'विकल्प-वृत्ति' के दृष्टान्त हैं। चैत्र की गौ आदि का व्यवहार भी 'विकल्प' है क्योंकि यहां पर भी शब्द-अर्थ-ज्ञान में भेद न कर, सामूहिक रूप से चैत्र और गौ में अभेद करके व्यवहार किया जा रहा है। इसलिए यह भी विकल्प-वृत्तिक' ज्ञान है। योग में इसी विकल्पवृत्ति का नाम 'सवितर्क-समापत्ति' है। जैसे—

'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः'

योग० पा० १। सू० ४२

अहं-वृत्ति' भी एक 'विकल्प वृत्ति' ही है क्योंकि चेतन 'पुरुष' और जड़ 'चित्त' में अभेद कर के इस को प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार प्रमाण, विपर्यय, विकल्प वृत्तियों का सम्बन्ध मुख्य रूप से हमारे 'विज्ञानमयकोश' से है, और इनका व्यवहार एवं प्रयोग 'जाग्रत्-काल' में स्थूल-देह के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होता है। ये सब मुख्य रूप से 'बुद्धि' की ही वृत्तियाँ हैं। किन्तु समाधियों में भी 'विकल्प', 'विपर्यय' रूप अज्ञानात्मक वृत्तियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं, और इस संसार में मोह, क्लेश, अशान्ति तथा विनाश के कारणों की खोज की जाए तो 'विपर्यय' ही मिलेगा। ये सब 'बुद्धि' का ही विलास है जो इन अच्छे-बुरे रूपों में विश्व के सम्मुख आता रहता है। यदि इसके अधिक विस्तार में जाएँगे तो हम अपने गन्तव्यपथ से दूर जा पड़ेंगे। अब 'मन' तथा 'अहंकार' की वृत्तियाँ ही बची हैं, उन की व्याख्या निम्न है :—

अहंकार और मन की वृत्तियां—ये दोनों तत्त्व मुख्यतया 'आदान-प्रदान' का कर्म करते हैं। अहँकार का कार्यक्षेत्र केवल 'कारणशरीर' है किन्तु अहंकार प्रत्येक बात में 'अहं' भावना तथा 'ममता' भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार इसकी आदान-प्रदान, अहन्ता-ममता ये ४ वृत्तियां कह सकते हैं, और 'मन' का कार्यक्षेत्र 'व्यष्टि-देह' तथा 'समष्टिजगत्' है। और मुख्य रूप से सूक्ष्मशरीर है। इस की वृत्तियां मुख्य रूप से दो हैं—ग्रहण और त्याग। अथवा यह समझें कि इन्द्रियों को ठीक रूप से नियोजित करना, और बुद्धि से विषयों का निर्णय कराना, चित्त से आये संस्कारों का आदान और बुद्धि से उत्पन्न संस्कारों का प्रत्यादान। इस प्रकार मानवदेह के समान मानव-अन्तःकरण भी एक-अङ्गी है जिसके चित्त-अहंकार-बुद्धि-मन ये चार अङ्ग हैं, इन अङ्गों तथा इनकी वृत्तियों की संक्षिप्त सी व्याख्या समाप्त हुई। आगे आप इन 'करणों' का विज्ञान-प्राप्ति में उपयोग कीजिए।

ॐ

मनोमयकोश

उद्बोधन—प्रिय साधक वृन्द ! अन्तःकरण चतुष्टय के प्रकरण में आपने 'सूक्ष्मशरीर' के दोनों खण्ड 'मनोमयकोश' तथा 'विज्ञानमयकोश' के तत्त्वों का स्वरूप ठीक प्रकार से समझ लिया होगा, ऐसी हमें आशा है। ये दोनों कोश क्या कार्य करते हैं तथा किस प्रकार से परस्पर सम्बद्ध हैं, इनके व्यापार किस विधि से साक्षात् किए जाते हैं, इन सब बातों को समझाने तथा दर्शाने के लिए अनेक चित्रों सहित इन का व्याख्यान करते हैं, जिससे साधकों को इन तत्त्वों के यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति मे सुविधा हो।

सूक्ष्मशरीर-गत दोनों कोशों की महत्ता—दिव्यशक्ति रूप होने से ये दोनों ही 'कोश' वस्तुतः 'स्थूलदेह-गत' अन्य दोनों कोशों से अति प्रबल हैं। 'व्यष्टि' या 'समष्टि-विज्ञान' एवं सृष्टि के स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम स्वरूपों को प्रत्यक्ष करा देने का साधन होने से इनकी विशेष महत्ता है। आपको यह देख कर आश्चर्य होगा कि इन्द्रिय-राज 'मन' अपनी स्वामिनी 'बुद्धि' की आज्ञा को किस कुशलता, तत्परता तथा शीघ्रता से स्वयं पालन करता है तथा अपनी अनुचरी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों से भी कैसी निपुणता से अपनी दिव्यशक्ति के द्वारा आज्ञा-पालन कराता है, इन्द्रियों के द्वारा ग्रहीत ज्ञान तथा व्यापारों के प्रतिबिम्बों को ग्रहण कर के यह कैसे-कैसे रूप बदलता है। इस समस्त व्यापार-परम्परा की पूर्त्ति में इसे क्षणार्द्ध भी तो नहीं लगता है। ये सभी विलक्षण-दृश्य मानव-बुद्धि को चकरा देने वाले हैं। आगे इस 'बुद्धितत्व' की अपार विवेचना-शक्ति भी कुछ न्यून आश्चर्यकरी नहीं है कि जिस से यह स्थूलतम पदार्थ से लेकर सूक्ष्मतम-तत्त्व 'आत्मा' का विवेचन अपने 'ऋतम्भरा-स्वरूप' के द्वारा 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' के रूप में करा देती है। 'विवेकख्याति' का दृश्य अत्यधिक आश्चर्यकर, मनोहारी, शान्तिप्रद, परवैराग्य को प्रदीप्त करने वाला होता है—यह सब देखते ही बनता है, कथन का विषय नहीं है। जितना कथन में आता है वह शतांश वा सहस्रांश अथवा अति अल्प ही समझना चाहिए।

विषयों की सांकल—जिसने मानव-समाज को अपने मोहक रूप से आबद्ध कर रखा है उस के स्थूल रूप की अपेक्षा विषयों के इन सूक्ष्म-दिव्य स्वरूपों की स्वर्णमयी

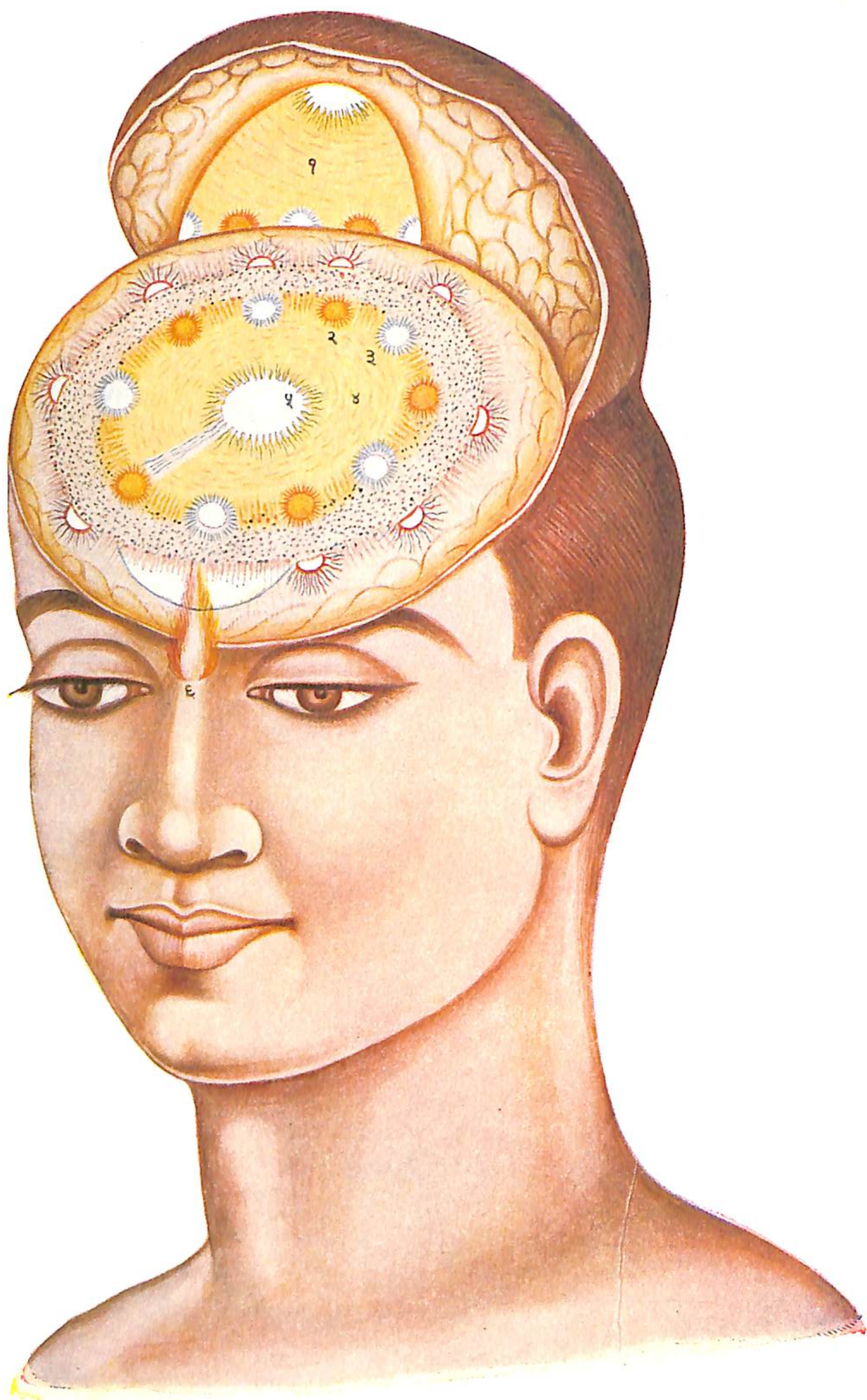
शृङ्खला कितनी बलिष्ट, कितनी आकर्षक एवं कितनी विशाल है, यह देख कर तो साक्षात् भगवान् का ही अनुभव होने लगता है जो इन अपरिमेय तत्वों के निर्माता और स्वामी होते हुए भी स्वयं इनसे विरक्त हैं । वस्तुतः, उस सर्वशक्तिमान् 'परमपुरुष' की सहायता से ही यह अल्पशक्ति जीव उसकी माया—इस 'प्रकृति' के मोहक रूपों-से 'सुरक्षा' पाता तथा उसी सर्वज्ञ 'परमगुरु' की कृपा से इस अपार 'प्रकृति-भण्डार' के विज्ञान को पा सकता है । जैसे सूर्य की कृपा से चक्षु देखने में समर्थ होते हैं, वैसे ही भगवत्-कृपा से यह जीव अपार-संसार की विज्ञान-प्राप्ति में समर्थ होता है । वे भगवान् आप के भी सहायक बनें, जिससे आप इस सब को साक्षात् कर सकें ।

मनोमयकोश का निर्माण—१० इन्द्रिय+मन+पंचतन्मात्राओं सहित १६ तत्त्वों के संगठन से यह 'मनोमयकोश' बना हुआ है, और विशेष रूप से यह 'क्रियाप्रधान कोश है । इस की गति-विधियों से अवगत होने तथा उन्हें प्रत्यक्ष करने के विषय में विस्तार से आगे वर्णन किया जाता है ।

मोक्ष का साधन—यद्यपि यह मानव-देह सब कोशों का आधार तथा धारक है; किन्तु इन 'अन्नमय' तथा 'प्राणमय' कोशों के विज्ञानमात्र से ही मोक्ष नहीं मिल जाता । मोक्ष-प्राप्ति में साक्षात्-हेतु तो 'विवेकज्ञान' है, यह निर्विवाद सर्वतन्त्र सिद्धांत है । इसी सिद्धान्त की पूर्ति का प्रथम अंश तो हम 'स्थूलशरीर' की विज्ञान-प्राप्ति में में वर्णन कर आए हैं । दूसरा अंश इस 'सूक्ष्मशरीर' के विज्ञान के द्वारा पूर्ण होता है, जो कि क्रियाप्रधान 'मनोमय' तथा ज्ञानप्रधान 'विज्ञानमय' कोशों का एक संघात है ।

सूक्ष्मशरीर का निवास-स्थान—यह संघात मानव मस्तिष्क के 'ब्रह्मरन्ध्र' नामक प्रदेश में स्थित है तथा यह 'ब्रह्मरन्ध्र' समस्त भौतिक-विज्ञान-प्राप्ति का मुख्य केन्द्र है । विश्व का समस्त भौतिक-विज्ञान 'जीवातमा' की इस विज्ञानशाला में पूरी छान-बीन तथा ऊहा-पोह पूर्वक प्रत्यक्ष तथा निश्चित किया जाता है । यह विज्ञान चाहे व्यष्टि-शरीर का हो, अथवा समष्टि-विराट् पुरुष और उस के शरीर का, विज्ञानमात्र का प्रत्यक्ष तो यहीं पर होता है । सूक्ष्मशरीर के ये १७ तत्त्व पृथक् नहीं किए जा सकते । ये सब परस्पर मिल कर—एक दूसरे के सहकारी बन कर कार्य करते हैं । अब आपने दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा इनको संगठित रखने वाले पंचतन्मात्रिक कोश और इनकी सम्मिश्रित व्यापार-परम्परा को 'ब्रह्मरन्ध्र' में ही प्रत्यक्ष करना है ।

ब्रह्मरन्ध्र का प्रथम दर्शन—प्राथमिक अवस्था में ध्यान-द्वारा 'ब्रह्मरन्ध्र' में प्रविष्ट होने पर साधक को यहाँ पर छोटी-बड़ी, नाना आकार-प्रकार रंग-रूपों की, बिखरी-सी ज्योतियां जगमगाती दीखा करती हैं, किन्तु साधक इन अपूर्वदृष्ट ज्योतियों के विषय में स्वयं किसी प्रकार का यह निर्णय नहीं कर सकता है कि ये ज्योतियाँ किन पदार्थों की हैं ? कहाँ से आ रही हैं ? कहाँ पर और कैसे उत्पन्न हो रही हैं ? इनका उपयोग क्या है ? इनका प्रयोग कहाँ पर होता है ? इत्यादि, इन सब प्रश्नों का समाधान हम आगे करेंगे और चित्रों द्वारा इन का स्पष्टीकरण भी करेंगे । निरन्तर



चित्र संख्या १०

सूक्ष्म शरीर की क्रिया का दर्शन

अभ्यास की दृढ़ता के साथ-साथ ये सभी ज्योतियां सुसंगठित रूप से मण्डलों के आकार में स्थित तथा परस्पर में व्यापार करतीं एवं करातीं प्रत्यक्ष रूप से दीखती हैं। अब आप इन ज्योतियों का रंग-रूप* सामने के चित्र (संख्या १०) में देख कर, भली प्रकार समझ लें। तभी इनका विज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

ब्रह्मरन्ध्र के चित्र का वर्णन—मस्तिष्क के मध्य में जहां पर प्रायः सभी ज्ञानतन्तु तथा गतिसूत्र आर-पार हो कर संचरण करते और मिल-जुल कर एक सघन जाल बनाते हैं, उसी स्थान में यह ज्योतिर्मय अण्डाकृति चमकीला पिण्ड 'बुद्धि' है। और इस के शिखर पर शुक्रतारे के समान चमकीला छोटा-सा पिण्ड 'मन' है। बुद्धि-मण्डल के चारों ओर प्रकाशमयी मणियों के समान चिपकी शक्तिरूपा 'सूक्ष्म इन्द्रियाँ' हैं। किन्तु इन में से अतिशुभ्र दीप्ति-युक्त तो 'ज्ञानेन्द्रियाँ' हैं, जो समष्टि 'अहंकार' के सात्विक अंश से बनी हैं, ज्ञान-सम्पादन करते समय इनकी रश्मियां अपनी-अपनी इन्द्रिय-प्रणाली अथवा 'गोलकों' से बाहर निकल कर बाह्यपदार्थ के साथ अथवा बाह्य-विषयों के साथ सम्बद्ध होकर उनके ज्ञान से मन को प्रतिबिम्बित करती हैं। जब 'मन' इस प्रतिबिम्ब को लेकर 'बुद्धिमण्डल' में गतिशील हो जाता है, तब इस प्रतिबिम्ब को प्राप्त करके यह 'बुद्धि' अपना निर्णय देती है। तथा साथ में जुड़ी कर्मेन्द्रियों की आभा जो कि साधारण तारिकाओं की भाँति किंचित पीतवर्ण-सी है, अहंकार के रजःप्रधान अंश से बनी होने के कारण क्रिया-प्रधान है। इन सब को हल्के ज्योतिर्मय 'पंचतन्मात्रिक मण्डल' अथवा 'कोश' ने बाहर से संगठित किया हुआ है। ये सब स्व-स्वस्थानों में रह कर एवं 'मन' की शक्ति से प्रेरित हो कर प्राण सूत्रों द्वारा क्रिया और ज्ञान के आदान-प्रदानादि कर्म-व्यापारों को करती-कराती हैं। दशों इन्द्रियों से निकलती हुई मानसिक-रश्मियाँ ही यत्र-तत्र फैल कर कार्य कराती हैं। यह समस्त मस्तिष्क प्रदेश 'पंचतन्मात्रिक मण्डल' की आभा से सदा 'भास्वर' बना रहता है। इन दशों

---

* चित्र संख्या १० का विवरण—सूक्ष्मशरीर की क्रिया का दिग्दर्शनः—

१- प्रस्तुत चित्र में मस्तिष्क के भाग को काटकर ऊपर की ओर खड़ा किया गया है। अर्ध अण्डाकृति में शिखर पर मन का मण्डल है।

२- ब्रह्मरन्ध्र का आधा निचला मण्डल है। मस्तिष्क का आन्तरिक भाग है। विन्दुमय पञ्चतन्मात्रिक मण्डल है।

३- नीलाभ श्वेत वर्ण की ज्ञानेन्द्रियों, और संतरीय वर्ण की कर्मेन्द्रियों के मण्डल हैं।

४- पीत-वर्ण का बुद्धि का मण्डल है।

५- कर्मेन्द्रिय के साथ मन अपनी रश्मियों के द्वारा संयुक्त होकर उन्हें क्रियाशील बना रहा है। ऐसे ही ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर उन्हें ज्ञान-ग्रहण करने में प्रवृत्त कराता है। शुक्र तारेवत मन का मण्डल है, जो सदा गतिशील रह कर इन्द्रिय-समुदाय तथा बुद्धि मण्डल को क्रियाशील बनाए रखता है।

६- भ्रूमध्य में रक्तवर्ण प्रकाश पिङ्गलानाड़ी का, श्वेत वर्ण प्रकाश सुषुम्ना नाड़ी का, और पीत वर्ण प्रकाश इड़ा नाड़ी का है, जो दीप शिखावत दीख रहा है। इसके ऊपर श्वेत वर्ण का अर्द्धचन्द्राकार यह ललाट है।

इन्द्रियों की आकृतियाँ समान हैं किन्तु रंग में भेद है। इस प्रकार गति तथा ज्ञान-सम्पादन का सब व्यापार इन दोनों प्रकार के सूत्रों द्वारा पंचतन्मात्रिक मण्डल के ही प्रकाश में से गति करता हुआ, सूक्ष्म-इन्द्रियों तक सूक्ष्म होकर पहुँचता है। अर्थात्—स्थूल इन्द्रियों द्वारा गृहीत सब स्थूल विषय, इन दोनों प्रकार के सूत्रों से बने मार्ग के द्वारा सूक्ष्म-पंचतन्मात्रिकमण्डल के ज्योतिर्मय आवरण में से विचरण करते हुए पंच-तन्मात्राओं के सूक्ष्म रूप में परिणत होकर, सूक्ष्म-इन्द्रियों तक पहुँचते हैं। इस प्रकार व्यवहार-काल में यह आदान-प्रदान का कार्य प्रतिक्षण, दिन-रात अव्याहतगति से चलता रहता है।

ब्रह्मरन्ध्र का स्थूल-शरीर से सम्बन्ध :—

इसी चित्र में भृकुटि से २ इंच तथा कनपटियों से २-२ इंच अंदर, खोपड़ी में स्थित, ललाट से ऊपर की ओर यह प्रकाशमान् अण्डाकृति स्थान ही 'ब्रह्मरन्ध्र' 'सहस्रारचक्र' वा 'दशम द्वार' है। इसी में उपरिकथित १७ ज्योतियाँ इसी स्थिति में अवस्थित और अपनी-अपनी ज्ञान-रश्मियों से स्थूल शरीरगत दोनों कोशों को सुरक्षित एवं प्रकाशित किए हुए हैं। ब्रह्मरन्ध्र का सम्बन्ध मेरुदण्डगत सुषुम्ना-नलिका द्वारा मूलाधार चक्र से जा जुड़ा है और सुषुम्ना-नलिका से निकले नाड़ीसूत्रों के समूहों से स्थूल देह भरा हुआ है। इस प्रकार 'ब्रह्मरन्ध्र' का सम्बन्ध देह भर-से है, जो 'चित्र' सं० २ पृ० ४५ से स्पष्ट हो रहा है।

जैसे एक परिवार अपने घर में, और पक्षी अपने नीड़ों में बसते हैं तथा सब प्रकार के कर्म करते हैं, उसी प्रकार 'ब्रह्मरन्ध्र' में बसी बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार मिल कर करते हैं। घ्राणेन्द्रिय नाक में, रसनेन्द्रिय जीभ में, दर्शनेन्द्रिय नेत्रों में, स्पर्श त्वचा में, और श्रवणेन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय में रहती हैं। किन्तु इनका यह स्वरूप स्थूल है। इन सब को व्यापार में प्रवृत्त कराने वाली सूक्ष्म-इन्द्रियाँ, जो केवल प्रकाशात्मक और शक्तिस्वरूप हैं, ब्रह्मरन्ध तथाकथित रूपों में स्थित हैं। शास्त्रीय-परिभाषा में नाक-कान आदि को 'इन्द्रियगोलक' कहते हैं। ये सब इन्द्रियाँ प्रवेश-द्वार पर रक्खे दीपक के समान दोनों ओर अन्दर अन्तःकरण से तथा बाहर विषयों से, ज्ञान तथा कर्म के व्यापार सिद्ध करती हैं।

त्रिगुणों से प्रभावित होने पर इनके स्वरूप का विवेचन—

सत्त्वप्रधानावस्था में—'बुद्धितत्व' विशेषरूप से उज्ज्वल, कभी सुनहरे आदित्यबिम्ब के समान मनोरम तथा पारदर्शी, और 'मनस्तत्त्व'-उज्ज्वल चन्द्रबिम्बवत् होता है, एवं 'इन्द्रियों' के वर्णों में विशेष शुभ्रता होती है।

रजःप्रधान अवस्था में—'बुद्धितत्त्व' में विशेष दीप्ति के साथ चपलता विशिष्ट; 'मनस्तत्त्व' में शुक्रतारे जैसी विशेष आभा एवं क्रियाशीलता तथा 'इन्द्रियों' में क्रियाशीलता की वृद्धि के साथ चमक में भी वृद्धि हो जाती है। वैसे तो बुद्धि, मन, इन्द्रियां सदा ही प्रकाशित तथा कर्मनिरत रहती हैं। यही रजःप्रधान स्वरूप है।

तमःप्रधान अवस्था में—'बुद्धितत्त्व' मेघवत् धुंधला, साफ तथा अपारदर्शी; 'मनस्तत्त्व' मेघाच्छन्न चन्द्रबिम्बवत्; 'इन्द्रियाँ' मन्दगतियुक्त तथा मन्द आभायुक्त हो जाती हैं। यही तम अवस्थापन्न स्वरूप है।

'मनस्तत्व' की क्रियाशीलता—हमें बड़े विचित्र रूपों में इसकी क्रिया भासती है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय से रंजित होकर यह 'मन' कभी तो जल में एक 'मीन' के समान 'बुद्धिमण्डल' में घूमता-सा प्रतीत होता और कभी पिचकारी द्वारा जल में कोई रंग घोल देने की क्रिया के समान अपनी विषय-रंजित रश्मियों को घोलता-सा प्रतीत होता है। इस समय 'मन' की आभा शुक्रतारे के समान भास्वर तथा गति भी अति चपल दीखती है। 'मनस्तत्त्व' स्वभावतः क्रियाशील, प्रत्येक प्रकार के 'सतर्क' एवं समस्त कोशों सहित दोनों शरीरों को अपनी रश्मियों से सदा आच्छादित रखने वाला 'तत्त्व' है। सत्व बाहुल्य की 'प्रत्याहार' दशा में चमकते अंगारे के समान दमकता, किन्तु शुभ्रता लिये और शान्त होता है। विषयाकार हो कर विषय से प्रतिबिम्बित अवस्था में रजःबाहुल्य के कारण 'मन' की गति इतनी द्रुततर एवं इसकी क्रिया इतनी शीघ्रकारी होती है, कि उसको परिलक्षित करना असम्भव-सा होता है। उस समय केवल-मात्र कुछ लहरियां-सी ही दिव्यदृष्टि से दीख पड़ती हैं, और इन सबको घेरे हुए—आच्छादित-सा करके इन्द्रधनुष के समान सुन्दर पंचतन्मात्राओं का मण्डल दीखा करता है। पंचतन्मात्राओं ने 'मनोमय' तथा विज्ञानमय' कोशों के संघात रूप 'सूक्ष्मशरीर' को अपनी परिधि से ऐसे कस रखा है जैसे 'त्वचा' ने देह को।

अन्तःप्रवेश द्वारा 'ब्रह्मरन्ध्र' का दर्शन—ज्ञानतन्तुओं तथा गतिवाहक प्राणसूत्रों के जाल से आपूर्ण मस्तिष्क का कोना-कोना इस अण्डाकृति ज्योतिः-पुंज 'सूक्ष्मशरीर' से निर्भरित रश्मिसमूह से भास्वर बना हुआ है। इस लिए ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान दृष्टि द्वारा प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक साधक को पूर्वावस्था में ये ज्योतियाँ—दीपशिखा सी; मोमबत्ती की लौ सी अथवा ऐसी एकदम अनेक शिखायें सीं; चमकीली कलियाँ-सीं, शुक्रतारों-सीं, चमकती तारिकाओं-सीं, कभी आधे वा पूर्ण चाँद-सीं, वा पारद-सीं तरल पदार्थ की बनी चमचमाती टिकियाँ-सीं, कभी भास्वर आदित्य बिम्ब-सी, अथवा टिमटिमाते जुगनू-सी दीख पड़ती हैं। यदा-कदा पत्रहीन वृक्ष की चमकीली शाखाएं वा वृक्ष ही-सा, इतस्ततः मण्डराते शुभ्र मेघखण्ड अथवा चन्द्रिका से भरा सा समस्त मस्तिष्क भासता है। कभी प्रगाढ़ अन्धकारमयी छाया भी प्रतीत होती है। ये सभी दृश्य इन्द्रियों, मन, बुद्धि तथा ज्ञानतन्तुओं के अस्पष्ट बिखरे हुए रूप हैं। जो साधकों को अपने बिना सधे 'दिव्यनेत्र' के द्वारा दीखा करते हैं। और दिव्यदृष्टि से दीखने वाली ये ज्योतियाँ, अनुदभूत-प्रकाश' के छोटे-बड़े मण्डल वा पुंज हैं। ये बाह्य भौतिक प्रकाश से सर्वथा भिन्न तथा सदा ही प्रदीप्त रहने वाले हैं। ये ज्तोतिःपुंज 'दर्शनमात्र' के विषय हैं किन्तु छुए नहीं जा सकते। इन में एक विशेष आकर्षण एवं जीवनमयी माधुरी तथा मृदुता भरी हुई है जो बाह्य भौतिक प्रकाशों में तो मिलती ही नहीं। अग्नि, सूर्य, विद्युत् आदि का सब बाह्य प्रकाश दाह और स्पर्शगुण युक्त, स्थूल नेत्रों के द्वारा दृश्यमान्, एवं त्वचा से स्पृश्य तथा ग्राह्य भी है; किन्तु ये आन्तरिक दिव्य ज्योतियां इन से भिन्न हैं और प्रकृति के सूक्ष्म तत्वों से निर्मित दिव्य हैं। ये सृष्टि के प्रारम्भ से ऐसी ही चली आ रही हैं, और महाप्रलय-पर्यन्त ऐसी ही बनी रहती हैं।

ये आन्तरिक ज्योतिःपुंज प्रकाश के पिण्डमात्र ही नहीं हैं, वरन् मानव-व्यापार की साधिका ज्योतिर्मयी-दिव्य शक्तिताँ हैं, जो अतीन्द्रिय होने के कारण स्थूल

नेत्रों से अग्राह्य तथा त्वचा से अस्पृश्य हैं। प्रत्येक जीव को कर्म फल भोगने के लिए दो प्रकार के 'करण' मिले हैं : १. देखने, सुनने, सूँघने, छूने और चखने के लिए क्रमशः— नेत्र, श्रोत्र, नाक, त्वचा, रसना रूपी ज्ञानेन्द्रियाँ, तथा २. मलत्याग, मूत्रविसर्जन, आदान-प्रदान, गमनागमन और वचन कर्मों के करने के लिए क्रमशः गुदा, शिश्न, हाथ, पैर और वाक् ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिली हैं। मानव-मस्तिष्क में ये छोटे-छोटे १० ज्योतिर्मय बिन्दुओं के रूप में दशों इन्द्रियाँ हैं। जिन चक्षुरादि का स्थूल इन्द्रियों के लिए व्यवहार किया जाता है, वे वास्तव में इन्द्रियों के स्थान अथवा गोलक हैं। दर्शन श्रवण, घ्राणादि के ग्रहण करने की शक्ति निर्बाध रूप से मस्तिष्क में विद्यमान है, और दर्शनादि की ग्राहक-शक्तियों अथवा इन्द्रियों के केन्द्र मस्तिष्क में बने हुए हैं। मस्तिष्क में विद्यमान सूक्ष्मेन्द्रियों के जागरूक होने पर ही 'इन्द्रिय गोलकों' से कार्य लिया जाता है, अन्य प्रकार से नहीं। इसीलिए मस्तिष्क में विद्यमान सम्वेदनाबोधक किसी इन्द्रिय के मर्म-स्थल पर, अथवा ज्ञान तथा गति वाहक सूत्रों में किसी प्रकार से आघात पहुँच जाने पर इन्द्रिय-गोलकों के सर्वथा ठीक होने पर भी वह इन्द्रिय अपने विषय के ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ देखी जाती हैं। इन इन्द्रिय-गोलकों से मस्तिष्क-स्थानीय दर्शनादि ज्ञान की अनुभावक सूक्ष्मेन्द्रियों का नाड़ियों की नलिका द्वारा परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। इन नाड़ियों को शास्त्रीय परिभाषा में 'इन्द्रिय प्रणालिका' व 'इन्द्रिय-प्रणाली' नाड़ी-तन्त्र कहा जाता है। इन्हीं इन्द्रिय प्रणालियों के द्वारा मस्तिष्कगत सूक्ष्मेन्द्रियों तथा मन बुद्धि का हृदयगत अहंकार चित्त से अविनाभाव सम्बन्ध है, जहाँ पर कि इन्द्रियों का स्वामी 'इन्द्र' (जीवात्मा) विद्यमान है। इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीवात्मा के विज्ञान के सुव्यवस्थित होने पर ही रूपादि का प्रत्यक्ष सम्भव है।

अस्तु, विचारना यह है कि क्या मस्तिष्क में केवल ५ सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों के ही केन्द्र हैं अथवा ज्ञानेन्द्रियों के सदृश ही कर्म करने में समर्थ पांच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियों के ज्योतिर्मय बिन्दुओं के रूप में पाँच केन्द्र भी विद्यमान हैं? इस का स्पष्ट तथा सरल समाधान तो यही है कि दस ज्योतिर्मय बिन्दुओं की आकृति में दशों इन्द्रियों की अनुभावक शक्ति विद्यमान है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि शक्ति रूप से सूक्ष्म दशों इन्द्रियाँ इन्द्रियों के स्वामी इन्द्र (जीवात्मा) के कार्यालय में अपने स्वामी के 'करण' बन कर सेवा करने को सर्वदा तत्पर हैं। संसार क्षेत्र इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण है। संसार में जिस किसी कार्यालय का जो कोई भी अध्यक्ष है, उस अध्यक्ष से अधीक्षित उस कार्यालय में जहाँ बौद्धिक कार्य के करने वाले कर्त्ता उपस्थित हैं, वहां शारीरिक कर्म के निर्वाहक कर्म करने वाले कर्मचारी भी विद्यमान हैं। ऐसा होने पर ही कार्यालय का कार्य-संचालन होता है। अन्य प्रकार से कार्यवहन होना असम्भव ही है।

सांसारिक जागरूक प्रमाण के होने पर भी सत्य के ग्राहक तथा असत्य के सर्वथा निवारक दर्शन-शास्त्र तथा अन्य प्रामाणिक सच्छात्र इस विषय में क्या मौन वृत्ति का अवलम्बन लिए हुए हैं? कभी नहीं। सभी प्रामाणिक सच्छात्रों ने सूत्र रूप में इस विषय का स्पष्टीकरण कर दिया है कि पांचों ज्ञानेन्द्रियों के समान सूक्ष्म रूप

२५०—३५

में कर्मेन्द्रियां भी इन्द्रियों के स्वामी इन्द्र (जीवात्मा) के कार्यालय में निर्विवाद उपस्थित हैं। इस विषय में प्रमाण रूप से सांख्य दर्शन का दिग्दर्शन कराना उचित ही होगा—

'एकादश पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्'

(सां० अ० २। सू० १७)

मन सहित ज्ञान तथा कर्मेन्द्रिय और रूपादि पांचों विषय अहंकार के कार्य हैं, अर्थात् इन सोलह के गण का अहंकार उपादान-कारण है। इसके आगे शास्त्रकार स्वयं ही प्रश्न उठाते हैं कि पूर्वोक्त एकादश इन्द्रियाँ कौन सी हैं? इस प्रश्न का उत्तर उसी तन्त्र के अग्रिम सूत्र से ऋषि स्वयं ही देते हैं—

कर्मेन्द्रिय-बुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्'

(साँ० अ० २। सू० १९)

वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ नामवाली, पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये सब मिलकर एकादश इन्द्रियां हैं। यही सूत्र का अर्थ तथा पूर्व प्रश्न का उत्तर है। यह अकाट्य तथा सर्वतन्त्रमान्य प्रबल युक्ति है कि उपादान कारण से कार्य कभी पृथक् नहीं रहता अपितु उसी के गर्भ में स्थित होकर कार्यरूप में परिणत हो जाता है। जब निर्भ्रान्त शास्त्र ने कारण का सम्बन्ध मस्तिष्क से साक्षात् प्रदर्शित कर दिया तब कार्य-मात्र का सम्बन्ध तो अपने-आप ही हो जाता है। सम्पूर्ण कार्य में से अर्द्ध-कार्य का सम्बन्ध एक ही उपादान कारण के सम्बन्धी मस्तिष्क से स्थिर करना और शेष अर्द्ध का न करना तो न्याय की तुला पर ठीक नही उतरता है। दूसरे स्वामी के उपस्थित होने पर कार्यालय में उच्च कार्यकर्त्ता उपस्थित रहें और निम्न-कोटि के कर्मचारी अनुपस्थित हों, इस विषय की पुष्टि करने वाला कोई भी दृष्टान्त दृष्टि-गोचर नहीं होता है, यह पहले भी कहा जा चुका है। इसलिए यह विगत सन्देह तथा सर्वतन्त्र-मान्य है कि ज्योतिमय बिन्दुओं के रूप में दशों सूक्ष्म-ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियाँ मानव-मस्तिष्क में विद्यमान हैं। यह उनकी उस शंका का समाधान है जो केवल पांच ज्ञानेन्द्रियों को ही मस्तिष्क में मानते हैं और सूक्ष्म कर्मेन्द्रियों को नहीं मानते।

इन सब को चलाने वाला मुखिया, जो शुक्रतारे के समान अथवा चन्द्र के समान चमकता दीखता है, 'इन्द्रियराज मन' है। 'मन' के द्वारा सब इन्द्रियों से 'बुद्धि' कार्य लेती है, जो प्राय: 'आदित्यबिम्ब'-सी दीखती है। इस का रंग सुनहरा-सा होता है। बुद्धि को प्रत्येक प्रकार की प्रेरणा 'अहंकार' से मिलती है, अहंकार को 'चित्त' प्रेरित करता रहता है; और चित्त को चेतन, ज्ञान स्वरूप 'जीवात्मा' प्रेरित करता रहता है।

कर्त्ता-करण सम्बन्ध—हमारी बाह्य स्थूल-इन्द्रियों के प्रति, ज्योतिर्मयी सूक्ष्म-इन्द्रियाँ 'करण' हैं, और सूक्ष्म-इन्द्रियों के प्रति 'मन 'करण' है। ब्रह्मरन्ध्र में मनरूपी 'करण' के द्वारा ही यह 'बुद्धि' समस्त ज्ञान का ग्रहण एवं प्रसारण करती है

तथा 'मन' के द्वारा ही अपने किये निर्णय को सर्वत्र भेजती है। अतः इस बुद्धि-व्यापार से प्रभावित होकर अनेक महानुभाव 'बुद्धितत्त्व' को ही 'भोक्ता-कर्त्ता' मान बैठे, तथा ब्रह्मरन्ध्र में स्थित आकाश को ही 'हृदयाकाश' समझ बैठे हैं। किन्तु अनुभव ने बताया है और आप को भी अपना अनुभव दर्शायेगा कि 'हृदयाकाश' वस्तुतः 'अनाहतचक्र' हृदय-प्रदेश में है। परम अणुस्वरूप 'जीवात्मा' का निवास भी इसी स्थान में है जो 'चित्त' के संयोग से कर्त्ता तथा भोक्ता बना हुआ है। 'ब्रह्मरन्ध्र' के इस आकाश में तो मानव का 'सूक्ष्मशरीर' ही रहता है।

मण्डलों का आधार—ये मण्डल किस आधार पर स्थित हैं ? ऐसी शंका स्वभाविक रूप से होती है। इस का समाधान यह है कि ब्रह्मरन्ध्र के सभी मण्डल, सब इन्द्रियां, तथा हृदयगत 'चित्त' और 'अहंकार' आदिकों के मण्डल एवं ये पांचों कोश किंवा तीनों ही शरीर चित्तगत 'आत्मतत्त्व' से आकृष्ट हैं। जैसे सौरमण्डल में पृथिवी, चन्द्र, नक्षत्र, आदि अपने-अपने केन्द्रों पर घूमते तथा कार्य करते हुए सर्वतोमुख्य 'आदित्य' के आकर्षण से बंधे हुए हैं, ऐसे ही 'जीवात्मा' की चेतना के आकर्षण से बंधे हमारे समस्त शरीर, पांचों कोश, और इन के सभी मण्डल स्थित होकर अपने सब व्यापार कर रहे हैं और 'चेतनतत्त्व' के अतिरिक्त शेष सभी प्रकृतिजन्य पदार्थ प्रलय-पर्यन्त सदा गतिशील रहते हैं। प्रलयावस्था में ही ये स्थिरता पाते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि-मण्डल महान् चेतन 'ब्रह्म' के आधार पर अवस्थित है।

ब्रह्मरन्ध्र के व्यापारों का दर्शन—ब्रह्मरन्ध्र का हो अथवा हृदयगत मण्डलों का, यह समस्त सूक्ष्मतम व्यापार हमें अपने 'दिव्यनेत्र' के द्वारा ही दीखता है। 'दिव्यनेत्र' का सूक्ष्मेन्द्रिय के साथ जब सन्निकर्ष या सम्बन्ध होता है, तब 'धन' और 'ऋण-विद्युत्' के सम्मिलन से उत्पन्न प्रकाश के समान एक विचित्र-ज्योति प्रकट होती है, और यह दिव्यज्योति प्रतिक्षण परिवर्तित हो कर विभिन्न रूप धारण करती जाती है, जैसे वर्षाकालीन मेघमाला, सूर्य की रश्मियों तथा वायु के स्पर्श से अपना रंग-रूप, आकृतियाँ बदलती है। यह परिवर्तन भी तो वर्णन करते नहीं बनता। मेघों की यह गति तो उन दिव्य ज्योतियों की पकड़ में न आने वाली द्रुततर गतियों की अपेक्षा अतिमन्द ही होती है। 'संयमजयी' योगी को संयम के सामर्थ्य-विशेष से 'दिव्यनेत्र' के द्वारा इन सूक्ष्मेन्द्रियों का स्वरूप तथा इन के 'तन्मात्रिक-सूक्ष्मविषय', और इन दोनों में होने वाले 'परिणामों' का भी आनुपूर्वी रूप से प्रत्यक्ष दर्शन होता है। सूक्ष्म-इन्द्रियों के द्वारा रूप-रस आदि के तन्मात्रिक रूपों को ग्रहण करने आदि की प्रक्रिया का दर्शन इतना स्पष्ट होता है। जैसे सूर्य से निकली रश्मियाँ मेघों में से दीखती हैं और ये रश्मियाँ पदार्थों से सम्बद्ध हो कर उन पदार्थों को भी दर्शा देती हैं, ऐसे ही ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिक विभिन्न मण्डलों से भी विभिन्न प्रकार की अनुद्भूत ज्योतिर्मयी रश्मियाँ निकलतीं और व्यापार करतीं स्पष्ट दीखती हैं। इन्द्रिय के अपने-अपने विषय से प्रतिबिम्बित हो कर 'मन' तथा 'बुद्धि' के मण्डल अद्भुत ज्योतियों की छटा से छाये कैसी विचित्र क्रियाओं से आपूर्ण हो जाते हैं, यह तो देखते ही बनता है। उस अनुपमछवि तथा गति का वर्णन शब्दों द्वारा कर सके यह मानव की शक्ति से बाहर की बात है।

कुछ एक स्मरणीय तत्त्व—अगले समस्त विज्ञान के दर्शन से पूर्व कुछ एक तथ्य स्मरणीय हैं। जैसे, ब्रह्मरन्ध्र-गत मनोमयकोश तथा विज्ञानमयकोश एवं पांचतन्मात्रिक मण्डल तथा आनन्दमयकोश के ज्योतिर्मयपिंड या मण्डल—ये सभी वायुतरङ्गवत् हल्के, अग्निवत् ह्रस्व, आकाशवत् पारदर्शी, विद्युत्वत् भास्वर, तड़ित् रेखावत् लचकीले, रबड़ के समान संकोचविकासी, आकाशवत् फैल जाने वाले, अति-मनोज्ञ, अत्याकर्षक, चेतना से युक्त, जीवन की तरलता और स्निग्धता को लिए हुए, प्रियदर्शी, आह्लादक एवं सदा नूतनता लिये रहते हैं। ये सब सदा गतिशील रहते हैं। प्रत्यक्षतः निश्चेष्ट दीखने वाले पर्वत के समान ये कभी सर्वथा 'निरुद्ध' या 'निश्चल' नही होते। यहाँ तक कि 'निर्विकल्प' या 'असम्प्रज्ञात समाधि' में जो 'निरोध' होता है, उस में भी कुछ न कुछ 'परिणाम' होता रहता है अर्थात् प्रथम निरुद्ध संस्कार के दबने पर दूसरा निरोध-संस्कार उभर आता है और यही निरोधः क्रम आगे भी दीर्घकाल तक चलता रहता है। दीर्घकालीन निरुद्धावस्था—असम्प्रज्ञात में भी 'कोशों' का पारस्परिक सूक्ष्मतम व्यापार 'रक्तसंचार' आदि तो बना ही रहता है।

विज्ञान प्राप्ति का रहस्य—कोई भी विज्ञान हो, एकबार में ही पूर्णतया बुद्धि में समाविष्ट नहीं होने पाता है। इसलिए पूर्वदृष्ट 'अन्नमयकोश' तथा 'प्राण-मयकोश' के विज्ञान का, 'सूक्ष्मशरीर' के विज्ञानदर्शन से बनी 'कुशाग्रबुद्धि' के द्वारा पुनः-पुनः अवलोकन या पुनरावर्त्तन करने पर उन कोशों के रहस्यों का यथार्थ रूप से साक्षात्कार होता चला जाता है, अर्थात् छिपे रहस्य खुलते जाते हैं, बुद्धि निश्चया-त्मिका बनती जाती है तथा साधक 'स्थित-प्रज्ञ' बन जाता है।'सूक्ष्मशरीर' और 'कारण-शरीर' का सूक्ष्मतम ज्ञान भी प्रत्यक्ष का ही विषय है। किसी योगपारंगत, तत्त्वविद् योगी के सान्निध्य में अन्तेवासी बनकर दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा से अभ्यास करते हुए उनके अनुग्रह-विशेष से ही यह प्राप्त होता तथा दृढ़भूमि बनता है, ऐसा आर्षकथन एवं अनुभव है। यह समस्त, जो कुछ भी दर्शन का विषय है, 'दिव्यनेत्र' ही सम्पन्न करता है। अतः यह '**स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते**' वाली बात है, लेखनी की सीमा में बंध जाने वाला विज्ञान नहीं है।

चित्रों की सहायता—आप को इस आन्तरिक-अतीन्द्रिय, अर्थात् स्थूलेन्द्रियों से सर्वथा अग्राह्य एवं 'दिव्यनेत्र' के द्वारा ही ग्राह्य तथा 'दर्शनीय' विषय को चित्रों से प्रत्यक्ष देखने में वैसी ही सहायता मिलेगी जैसी कि भूगोल किंवा खगोल के चित्र इन विज्ञानों को सीखने तथा पढ़ने में सहायता देते हैं। संयम-सिद्ध आचार्य अपने मनो-बल से शिष्य के मन का निग्रह कर शिष्य की 'ध्यानदृष्टि' को 'ब्रह्मरन्ध्र' अथवा 'चित्त-पटल' पर स्थिर कर तथा अपने संकल्प की अंगुलि से संकेत कर के वहाँ के पदार्थों को दिखाता एवं उनके व्यापारों को समझाता भी जाता है जैसा कि प्रायः भूगोल आदि पढ़ाने वाले अध्यापकवृन्द करते हैं।

आर्षवचन तथा साधारण कथन में जो अन्तर अथवा भेद हमें प्रतीत होता है, उसका कारण, विज्ञान में त्रुटि का रह जाना ही है। आन्तरिक गुह्य-विज्ञान में

कल्पना से काम लेना 'विकल्प' नामक दोष है। जैसा हम 'अन्तःकरण-चतुष्टय' के प्रकरण में दर्शा चुके हैं कि वस्तु का 'नाममात्र' ले देने से उस के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता, ज्ञान तो विषय परिज्ञान से होता है। साधक अपने ध्येय को तो खोज ही लेगा, किन्तु जो वस्तु जहां पर है ही नहीं उसे वहाँ पर, 'विकल्प' ज्ञान के आधार पर बताना तो साधकों को धोखा देना किंवा मिथ्याचार है। ऐसी ही कुछ बात 'ब्रह्मरन्ध्र-गत' 'विज्ञानमयकोश' तथा हृदयगत 'आनन्दमयकोश' के विषय में भी देखी जाती है यह झमेला, कल्पना के आधार पर पड़ा हुआ है। जो महानुभाव इस 'हृदय' को मस्तिष्क में मान बैठे हैं उन की दृष्टि से 'जीवात्मा' का निवासस्थान भी 'मस्तिष्क' में ही बन जाता है—जो कि 'आगम' तथा 'प्रत्यक्ष' दोनों ही प्रमाणों के सर्वथा विरुद्ध है। इस लिए हम यहाँ पर 'ब्रह्मरन्ध्र' की स्थिति का निर्णय सप्रमाण करते हैं।

ब्रह्मरन्ध की स्थिति का निर्णय—जब तक 'ध्यान-साधना' द्वारा अन्तःप्रवेश करने की शक्ति—'दिव्य-दृष्टि' मानव को प्राप्त नहीं होती तब तक सुनी-सुनाई एवं पुस्तकों-द्वारा लिखित-कथित बातों तथा विज्ञानों को प्रत्यक्ष कर के न तो वह किसी निश्चय पर पहुँच सकता है और न ही उस विज्ञान या पदार्थ को किसी उपयोग में ला सकता है। इसी कारण उपनिषद्, दर्शन आदि ग्रन्थों में वर्णित आध्यात्मिक तथ्यों को अवगत करने में कठिनाई तथा प्रत्यक्ष करने में असफलता एवं मतभेद बना हुआ प्रतीत होता हैं। ऋषि तो स्वयं स्पष्ठोक्ति से काम लेते हुए आदेश देते हैं—

'नांयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'

मुण्डको० ३।२।३

अर्थात् 'आत्मसाक्षात्कार' का समस्त विषय वाचिक उपदेशों को सुन लेने अथवा पुस्तकों में पढ़कर स्मरण कर लेने मात्र से प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु कुछ शब्द-शास्त्री ऐसे गुह्य-रहस्यों को यथार्थतः न समझकर साधारण लौकिक बुद्धि के द्वारा शब्दार्थ के आधार पर गहन विषयों पर लेखनी उठा कर 'बुद्धिभेद' को उत्पन्न कर देते हैं। ऐसे ही लोग अपनी कल्पना के आधार पर 'ब्रह्मरन्ध्र' में ही 'हृदय' का निवास-स्थान मानकर उपनिषदों का उद्धरण प्रस्तुत करके अपनी मान्यता की पुष्टि करना चाहते हैं। जैसे, बृहदारण्यक में ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना,'

बृहदा० अ० २। ब्रा० २। मं० ३।

अर्थात् नीचे को मुख और ऊपर को तली वाला कटोरा यह शिर है, इस में विश्व का यश स्थित है। इस कटोरे के किनारों पर सात ऋषि वास करते हैं तथा आठवीं 'वाणी' ब्रह्म का व्याख्यान करने वाली है। आगे इस की व्याख्या जो की गई है वह शब्द तथा कल्पना के आधार पर प्रतीत होती है। जैसे—शिर में विश्वरूप-

यश 'प्राण' है, और शिर के किनारों पर दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासारन्ध्र, एक रसना तथा आठवीं वाणी है। कल्पना के आधार पर विश्वरूपयश 'प्राण' को मान लिया गया है और सप्तऋषियों का अर्थ 'प्राण' करके और फिर प्राण का अर्थ 'इन्द्रियाँ' किया गया है। इतना लम्बा-चौड़ा अर्थ तो खींचा-तानी से बन गया है। अन्यथा स्पष्ट और सरल अर्थ तो इतना ही है कि इस शिर या कपाल में विश्व-विज्ञानप्राप्ति की शक्ति निहित है। अर्थात्, मनोमयकोश' तथा 'विज्ञानमयकोश' यहां पर निहित हैं। उस विज्ञान को प्रत्यक्ष कराने वाले समस्त विषयों के ग्राहक मन, बुद्धि, और ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ये 'सात ऋषि' स्थित हैं। और कर्मेन्द्रियों की प्रतीक-रूपा आठवीं 'वाणी' आन्तरिक तथा बाह्य समस्त प्रत्यक्ष विज्ञान का वर्णन करती है । यही 'मस्तिष्क' विज्ञानप्राप्ति का मुख्य केन्द्र 'ब्रह्मरन्ध्र' है और समस्त देह- प्राण, मन तथा सब कोशों का शासक भी है, किन्तु यह मस्तिष्क 'चेतना' का उद्‌गम स्थान—मूलस्रोत तो नहीं है। चेतना का मूलस्रोत-चिति' का निवास-स्थल 'चित्त' में है जो 'हृदय' प्रदेश में है। अतः यह मस्तिष्क तो 'चिति' का कार्यालय तथा विज्ञानशाला है—निवासस्थली नहीं।

अब हम 'मनोमयकोश' के मुख्य नायक 'मनस्तत्त्व' का कुछ परिचय कराते हैं :

मनस्तत्त्व का परिचय—'मन' के परिचय शीर्षक से आपको कुछ-न-कुछ तो आश्चर्य होगा ही, क्योंकि 'मन' के नाम से संसार का कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो परिचित नहीं है। लोक में तो पठित-अपठित, शहरी'ग्रामीण, सभ्य-असभ्य सभी इस से परिचित हैं तथा वेद में भी 'मन' की ख्याति है।

परन्तु वर्तमान काल में ही नहीं वरन् अति प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक समाज में इस 'मन' के विषय में वाद-विवाद चले आ रहे हैं। महाराज जनक के काल में तो न जाने कितनी आध्यात्मिक-गोष्ठियों में यह 'मन' ही 'वाद का विषय' बना था। किन्तु इस मन के विषय में मनुज समाज में जो इतनी घबराहट फैली हुई है। वह तो 'मन' का वास्तविक स्वरूप तथा इसके मुख्य कार्य का परिज्ञान न होने से है। और वे कर्म भी 'मन' के सिर ही मढ़ दिए गए हैं जो कि वस्तुतः इसके नहीं हैं। ग्रन्थों के अनेक स्थलों में—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः'** (मैत्रायणी० प्रा० ४। मं० ११।) इत्यादि अनेक प्रकार के जो वाक्य मिलते हैं वे 'मन' तथा 'बुद्धि' इन दोनों को एक ही 'तत्त्व' मान कर लिख दिए गए हैं। इस कर्म-संकर के कारण 'बुद्धि' के भले-बुरे कर्म भी 'मन' के साथ जोड़ कर अनेक प्रकार की कुभावनाएँ मनुष्य-समाज में फैला दी गई हैं। किन्तु यह दोष मनुज-समाज का नहीं। समाज के विद्वानों ने ग्रन्थों में जैसा कुछ पढ़ा वैसा ही जनता को सुना दिया, स्वयं इस तथ्य का साक्षात्कार नहीं किया। न ही इस विषय में आगे कुछ अनुसन्धान हुआ, जैसा कि इस वर्तमान युग में सभी विषयों में अन्वेषण किया जा रहा है। इस प्रकार, जनता ने व्याख्यानों में जो कुछ सुना उसे वैसा ही शिरोधार्य कर लिया। अपने निजी साक्षात्कार के पूर्व ग्रन्थों में पठित शाब्दिक ज्ञान के आधार पर कुछ दिनों हमारी भी ऐसी ही

अवस्था रही। अन्त में हम जिस निर्णय पर पहुँचे उसे हम 'अन्तःकरण-चतुष्टय' के प्रकरण में विभागशः मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के धर्म-कर्म-स्वरूप के वर्णन में स्पष्टः दर्शायेंगे यह 'मन' भी तो उसी अन्तःकरण का एक अंग है, जो ज्ञानप्रधान 'बुद्धि' का परम-सहकारी है। यह कर्मप्रधान 'मन' बुद्धि तथा इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो कर एक कार्यसाधक सेवक भी है। यदि 'मन' की व्याख्या अत्यल्प शब्द में करनी हो तो इतनी ही है कि—बिना किसी प्रकार का विवेचन किए 'विषय तथा कर्ममात्र' का आदान-प्रदान करने वाला तत्त्व 'मन' है। इसके साथ यह भी ठीक है कि सत्त्व-रजस् इन दोनों गुणों की समानता के कारण इस में 'शीघ्रकारिता' अति प्रबल रूप में है। मन में से यदि इस गुण को निकाल दिया जाए तो 'जीवात्मा' का कोई भी कार्य, 'ज्ञानात्मक' हो वा 'क्रियात्मक', सुचारु रूपेण सिद्ध नहीं हो सकता। अतः, आवश्यकता केवल 'मन' की चपलता को नियंत्रित कर देने की है। अब आप इस 'मनोमयकोश' में विशेष रूप से 'मन' के व्यापारों के विषय में प्रत्यक्ष विज्ञान कीजिए।

मनस्तत्त्व का निर्णय—मन के विषय में हमारा ऐसा ही निर्णय है कि यह अति प्रबल, अत्युज्ज्वल, अनुद्भूत प्रकाशात्मक गतिशील एक दिव्य ज्योति है। समष्टि अहंकार के रजः और सत्त्वांश से निर्मित होने के कारण, सत्त्व तथा रजस् इन दोनों के धर्मों से युक्त होकर यह सत्त्व-प्रधानज्ञानेन्द्रियों से रूप, रस, गन्धादि का ज्ञान सम्पादन कराने में समर्थ है। इसी प्रकार रजःप्रधान कर्मेन्द्रियों से यह कर्म भी कराता है, और अपनी स्वभाविक क्रियाशीलता एवं शीघ्रकारिता के गुण के कारण इन इन्द्रियों के द्वारा सम्पादित विषय तथा कर्मों से प्रतिबिम्बित हो कर इन दोनों का आदान प्रदान मात्र कर देता है। विवेचना शक्ति 'मन' में नहीं है। विशेष रूप से रजोगुण के प्रभाव से अति चपल बना मन साधना काल में 'बुद्धितत्त्व' को एकाग्र ही नहीं होने देता। इसलिए त्रिगुणात्मक होने से यह 'मन' भी तीनों गुणों से प्रभावित होकर इनके गुण-दोषों से युक्त बन जाता है। इस लिए इसकी चपलता का नियमन करना अत्यावश्यक है। मन के निग्रह करने के अनेकों उपाय प्रसिद्ध हैं। उन में से कुछ नीचे देते हैं, यद्यपि अन्तःकरण-चतुष्टय के प्रसंग में ये आ चुके हैं। उन का सूत्र रूप निम्न प्रकार है :

मानस निग्रह—'चित्तवशित्त्व' के समान ही मन के संकल्प-विकल्पात्मक विक्षेप को दबा देने के लिए 'अष्टाङ्गयोग' ही सर्वोपरि साधन है। योगसूत्रों में 'चित्त' को मुख्यता दे कर 'चित्तवृत्ति-निरोधः' ऐसा कथन कर दिया गया है। किन्तु यहां पर अवयव-बोधक शब्द अवयवी का भी बोधक होता है, इस न्याय से 'चित्त' पद से अन्तः-करण' ही ग्राह्य है। क्योंकि ये वृत्तियाँ तो चित्त, अहंकार, बुद्धि, मन इन चारों की होती हैं। मन भी अङ्गी-अन्तःकरण का एक अङ्ग ही है और इसकी वृत्ति 'संकल्प-विकल्पात्मक' है। अन्तःकरण की सभी वृत्तियों के निरोध का उपाय—तपश्चरण, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान पूर्वक इस क्रियायोग के अनुष्ठान करने का आदेश मिलता है॥। आगे इसको अधिक स्पष्ट कर दिया है कि आस्तिकनिष्ठा के साथ

॥ तपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानिक्रियायोगः। योग० पा० २। सू० १।

ज्ञानपूर्वक तपश्चरण और श्रद्धा से स्वाध्याय करते हुए योग के यम-नियमादि आठों अङ्गों को जीवन में चरितार्थ करने से समाधियों के द्वारा क्लेशरूप मलों का क्षय हो जाने पर ही ज्ञान की वृद्धि तथा विज्ञान की दीप्ति होती रहती है, जब तक कि 'विवेक-ख्याति' के द्वारा 'आत्मसाक्षात्कार' नहीं हो जाता। ॐ इस प्रकार योग के सभी अङ्ग अपने-अपने रूप से इन मल, विक्षेप तथा क्लेशमूलक वासनाओं के विनाशक प्रभावशाली उपाय हैं। इनमें से 'प्रत्याहार' के द्वारा जब मानस-निरोध होने लगता है तब धारणा, ध्यान और समाधियों में भी सफलता दीखने लगती है।

प्रत्याहार का स्वरूप—प्रत्याहार का अर्थ है, प्रति+आहार=आहार को त्याग देना, अपने आहार को न लेना किंवा आहार से मुख मोड़ लेना। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय ज्ञानेन्द्रियों के हैं और आदान-प्रदान, गमनागमन आदि व्यापार कर्मेन्द्रियों के हैं। जब ये इन्द्रियां अपने व्यापारों को त्याग कर निष्क्रिय या शान्त हो जाती हैं तब प्रायः यही अवस्था 'प्रत्याहार' पद से समझी जाती है, किन्तु यह प्रत्याहार-अवस्था 'मन' की भी होती है। विज्ञान-प्राप्ति क्रम में इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन की स्वामिनी बुद्धि है, और बुद्धि का साथी चित्त है। जब मन का इन्द्रियों के मार्ग से बाह्य वस्तुओं या विषयों से उपराग होता है तभी संस्कारों की स्मृति के वशीभूत हो कर क्रमशः चित्त, अहंकार, बुद्धि, मन, तथा इन्द्रियाँ—सभी विषयों को ग्रहण करने के लिये बहिर्मुख होती हैं। भले ही बाह्य विषयों से इन्द्रियां अनुरक्त हों—विषयों से सम्बद्ध हों किन्तु इन्द्रियराज 'मन' इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण न करे और इन्द्रियों का साथ न दे तब भी विषय की प्रतीति नहीं होती। मन की विषयों से प्रतिबिम्बित न होने की इस अवस्था का नाम भी 'प्रत्याहार' है। योगाङ्गों के अनुष्ठान से भी विषयों से विरक्त बनाया गया 'मन' किसी एक विषय में एकाग्र वा तन्मय हो कर समाहित हो जाता है। ऐसी दशा में भी इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो कर 'मन' के सदृश अनुकरण करती हैं और मन के निरुद्ध हो जाने पर स्वयं भी अवरुद्ध हो कर शान्त बैठी रहती हैं। फिर विषय-विकारों के कारणीभूत काम, क्रोध आदि के उपस्थित होने पर भी इन्द्रियां विचलित नहीं होतीं। अपने-अपने विषय तथा विकरों को ग्रहण करने की चेष्टा न कर के शान्त ही बनी रहती हैं। यह इन्द्रियों का प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रियों का किसी भी विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण न करके शान्त बने रहना ही मन के प्रत्याहारस्थ होने का स्वरूप है। इसके साक्षात्कार के विषय को 'विज्ञानमयकोश' में देखें।

प्रत्याहार का लक्षण करते हुए (योग २-५४) सूत्र में 'अनुकार इव' अनुकरण करने जैसा कहा है। इसी को ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है। यद्यपि योगदर्शनकार ने प्रत्याहार की बहिरंगों में गणना की है तथापि ऋषि याज्ञवल्क्य ने इसे अन्तरङ्ग साधनों में ही स्वीकार किया है, और प्रत्याहार का फल योग ने—'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्' (योग० २-५५) ऐसा कहा है। अर्थात् प्रत्याहार की सिद्धि का

ॐ योगाङ्गानुनादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। योग० पा० २। सू० २८।

स्वरूप इन्द्रियों पर पूर्णवशित्व प्राप्त हो जाना है। इसका स्वरूप भी ऊपर दर्शा आए हैं। इस के साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि 'मन' पर भी वशित्व प्राप्त हो जाता है। प्रत्याहार में जितनी स्थिति बढ़ती जाएगी धारणा भी उतनी ही दृढ़ तथा बलवती होती जाएगी।

मन की एकाग्रता—मन के सहयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय अपना व्यापार करने में समर्थ नहीं होती; तथा समाधि की 'आनन्दानुगत' एवं 'अस्मितानुगत' अवस्थाओं में 'मन' और बुद्धि' भी शान्त होकर अपने-अपने केन्द्र में स्वरूपस्थ हो जाते हैं और इन दोनों का कोई भी व्यापार न तो 'इन्द्रियों' के साथ होता है न 'चित्त' के साथ ही। 'मानस-निरोध' के लिए सदा 'प्रत्याहार पूर्वक' धारणा और ध्यान करना होता है। धारणापूर्वक ध्यान करना मानो 'मन' को एक खूंटे से बांध देना है। 'ध्यान' के खूंटे से बंधा 'मन' खूंटे के चतुर्दिक घूम-घूम कर—थक कर बैठ जाता है। सर्वथा निष्क्रिय तो नहीं होता। धारणा, ध्यान, समाधियों में क्रमशः 'मन' की क्रिया सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम शून्य-सी तो अवश्य हो जाती है, सर्वथा अवरुद्ध, निष्क्रिय या गति रहित नहीं होती। जैसे तीव्रतम गतिशीला 'भम्भीरी' वा, 'चक्री' अथवा 'लट्टू' स्व-केन्द्र पर घूमते हुए भी स्थिर प्रतीत होते हैं तथा ग्रह सूर्य-चन्द्र और पृथ्वी भी गतिमान् होते हुए स्थिर प्रतीति होते हैं, ऐसी ही अवस्था 'मन' की भी है।

ध्यान—ध्यान के विषय में सांख्य के सूत्र **'ध्यानं निर्विषयं मनः'** साँख्य अ० ६ । सू० २५ । का तथा **'रागोपहीतर्ध्यानम्'** साँख्य अ० ३ । सू० ३० । इसका भावार्थ यही है कि 'मन' को ध्यानगत इष्ट विषय के अतिरिक्त, अन्य सब प्रकार के विषय-विकल्पों से रहित कर देना 'ध्यान' है। धारणा के पश्चात् उसी देश में ध्यान करने तथा आश्रय लेने योग्य जो अन्तर्यामी परमेश्वर है, उसी के प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार, स्नेह और भक्तिभाव के साथ इस प्रकार प्रवेश करना चाहिए जैसे कि समुद्र में कोई नदी प्रवेश कर जाती है। इस समय ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का स्मरण नहीं करना; किन्तु अन्तर्यामी के स्वरूप में निमग्न तन्मय हो जाना—'ध्यान' है, अथवा किसी पदार्थ को लक्ष्य बना कर तन्मय हो जाना ही ध्यान है। योगोक्त **'प्रत्ययैकतानता'**※ का अर्थ भी 'तन्मयता' ही है और यही सर्वशास्त्रों का समन्वय है।

ध्यान का सहायक ज्ञान—जब ध्यान के साथ ज्ञान मिल जाता है तब ध्यान 'सजीव' अर्थात् आनन्दयुक्त और आनन्दप्रद बन जाता है—इसी भावका **'नास्ति ध्यानं विना ज्ञानम्'** यह वाक्य द्योतक है। चिन्ता तथा वासनायुक्त 'बुद्धि' जब भी ध्यान में प्रवृत्त न हो, तब ज्ञान का आश्रय ले कर इस त्रिगुणात्मक जगद्-दृश्य को विचार की दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दें अथवा यहाँ पर 'क्यों' का प्रश्न उठा कर वास्तविक कारण चिन्ता, दुःख, स्मृति, संकल्प-विकल्प के स्वरूपों के विषय में निदिध्यासन करना प्रारम्भ कर दें। तब 'बुद्धि' के इन विचारों में प्रवृत्त होते ही 'मन' भी अपने हठ को त्याग कर इस विचार-परम्परा में प्रवृत्त हो जाएगा और हठी घोड़े को घुमा-फिरा कर गन्तव्यपथ पर ले आने के समान ही यह 'मन' भी अपने दुराग्रह को त्याग कर

※ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योग० पा० । सू० २।

और शान्तभाव को धारण कर के 'ध्यान-निमग्न' हो जाएगा । यह भी एक सरल उपाय है।

मन की क्रियाओं का विज्ञान:—उपरिकथित व्याख्यान से हम अब ऐसी स्थिति में आ पहुँचे हैं कि अपनी 'दिव्यदृष्टि' के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर के वहाँ के व्यापारों का विज्ञान प्राप्त कर सकें । अतः अब 'ब्रह्मरन्ध्र' के चित्र सं० १० पृ० सं० १४३ को लक्ष्य कर के चलिए । यद्यपि वास्तविकता तथा छायाचित्र में अन्तर तो रहता ही है किन्तु छायाचित्र के आधार पर आप जब अपने मस्तिष्क में इन पदार्थों को खोजते हुए इन का विज्ञान प्राप्त करेंगे तो पूर्ण सन्तोष हो जाएगा और मन, बुद्धि, इन्द्रियों के रंग-रूप एवं आकृतियों तथा इन सब के व्यापारों का दर्शन, इन चित्रों के अनुरूप ही दीख पड़ेगा । अब ध्यानस्थ हो कर मध्यकपाल में चित्र के अनुसार 'दिव्य-दृष्टि' के द्वारा देखने का प्रयत्न कीजिए : सर्व प्रथम 'मन' की ओर ध्यान दें, जो कि चन्द्रबिम्ब या शुक्रतारे के समान चमक रहा है । इस ज्योति को स्थिर कीजिए । फिर कुछ स्थिरता प्राप्त हो जाने पर 'मन' की रश्मियों को इन्द्रियों के साथ साथ संयुक्त होते हुए देखिए । इन दोनों के संयोग के स्पष्ट हो जाने पर फिर यह विज्ञान हो सकेगा कि इन्द्रियों-द्वारा गृहीत विषयों को ग्रहण करते समय 'मन' में एक प्रकार के कम्पन या तरंगों के रूप में विलक्षण क्रिया उत्पन्न होती है । इन विषयों के प्रतिबिम्ब को बुद्धिमण्डल में प्रतिक्षिप्त करते समय 'मन' तथा 'बुद्धिमण्डल' में एक सम्मिलित असाधारण क्रिया और प्रतिक्रिया उत्पन्न होती हैं जो न तो शब्दों-द्वारा वर्णन की जा सकती हैं न चित्र में उतनी स्पष्टता से दर्शाई जा सकती हैं । जैसे, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि गेंद के समान गोल होते हुए भी, हमें एक थाल के समान चपटे-से ही दीखते है, ऐसे ही ये 'बुद्धिमण्डल' 'मनोमण्डल' और 'इन्द्रियमण्डल' चपटे-से ही दीखते हैं, यद्यपि ये सब गोल-से—अण्डाकृतिवत् हैं; किन्तु ध्यान की परिपक्व-दृष्टि द्वारा जैसे-के-तैसे अपने यथार्थरूप में भी दीखते हैं । ये सभी इन्द्रियाँ 'मन' के आधीन बनीं जब मन की प्रेरक शक्ति से क्रियाशील हो कर कर्म-रत हो जाती हैं तो उस समय 'मन' की प्रेरक शक्ति, तथा इन्द्रियों की क्रियाशीलता को, एवं इन दोनों में हो रहे रंग-रूप के परिवर्तनों को देखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अभ्यास काल में नेत्र बन्द करने पर भ्रूमध्य में जो रङ्ग-विरङ्गी चिङ्गारियाँ या गुब्बारे जैसी प्रकाशात्मक आकृतियाँ बाहर निकलती हुई दिखाई देती हैं; इन्हें सूक्ष्मेन्द्रियों या मन बुद्धि का प्रकाश नहीं मान लेना चाहिए । जब ध्यान द्वारा दर्शन की इच्छा होती है तो सूक्ष्म-नेत्र की क्रिया का प्रभाव या आघात साम्वेदनिक नाड़ियों पर पड़ कर संघर्ष के कारण नाड़ियों द्वारा बाहर निकलना चाहता है, स्थूल नेत्र बन्द होते हैं, प्रकाश वाहिनी नाड़ियों का प्रकाश नेत्र पटल पर टकरा कर चिङ्गारियों या गुब्बारों के रूप में भिन्न-भिन्न आकृतियां उत्पन्न करने लगता है । बाहर निकलने का मार्ग न होने से इस प्रकार के परिवर्तन होने लगते हैं । अभ्यास करते समय नेत्र खोल कर उन्मनी मुद्रा के द्वारा जब भ्रूमध्य या ब्रह्मरन्ध्र में विलक्षण प्रकाशात्मक दिव्य ज्योतियों का दर्शन होने लगे तो इन्हें सूक्ष्मेन्द्रिय,मन,बुद्धि इत्यादि में से किन्हीं का स्वरूप समझ लेना चाहिये । इस प्रकार के अभ्यास से उपर्युक्त भ्रान्ति दूर हो जाती है ।

ये सभी इन्द्रियां प्रकाश के छोटे-छोटे गोल-बिन्दुकों के समान हैं। यह 'मन' जिस किसी इन्द्रिय को प्रेरित करता है वही इन्द्रिय विशेष गतिशील बन कर कार्य करने लगती है। प्रायशः सभी मनुष्यों को सभी इन्द्रियाँ एक साथ कर्म करती प्रतीति होती हैं, किन्तु तथ्य तो ऊपर के कथानुसार ही है। 'मन' की स्वाभाविक शीघ्रकारिता के कारण ही मनुष्यों को ऐसी भ्रमात्मक प्रतीति होती है। अन्यथा 'मन' अपनी द्रुतगामी-सामर्थ्य से प्रत्येक इन्द्रिय के साथ क्रमशः संयुक्त हो कर कार्य करता-कराता है, किन्तु हमें वह क्रम लक्षित नहीं होता। जैसे कि गुलाब या कमल की अनेक एकत्रित पंखुड़ियों को एक सूई तुरन्त बींधती प्रतीत होती है किन्तु वह प्रत्येक पंखड़ी को क्रमशः ही बींध रही होती है, इसी प्रकार 'मन' की क्रियाशीलता तथा शीघ्रकारिता के विषय में समझना चाहिए। जैसे शीघ्रता से घूमती एक बनेठी गोल प्रतीत होती है, वैसे ही मन अपनी द्रुतगामिता के कारण एक ही समय में सब के साथ जुड़ा प्रतीत होता है।

जब तक 'मन' इन्द्रियों के साथ संयुक्त न हो तब तक इन्द्रिय किसी विषय को ग्रहण करने तथा व्यापार करने में समर्थ नहीं होती। इसी कारण ऐसा कह दिया जाता है कि आँखें होते हुए भी तुम देखते नहीं हो। अथवा कान रखते हुए भी तुम सुनते नहीं। इस प्रकार 'मन' की गति-विधि के दर्शन का अभ्यास दृढ़ करना चाहिए। प्राथमिक अभ्यासी को कभी ये गतियां दृष्टिगोचर होती हैं कभी नहीं भी होतीं। किन्तु कुछ काल तक निरन्तर अभ्यास-रत रहने से मन तथा इन्द्रियों के पारस्परिक व्यापार का आभास स्पष्ट होता जाएगा। शीघ्रता करने से कुछ विशेष लाभ भी नहीं होता, प्रत्युत धैर्य छूट जाता है। श्रद्धा से अभ्यास करते चलें, आप को अपने पुरुषार्थ के अनुसार दर्शन अवश्य होता जाएगा; क्योंकि यह सब विषय स्वानुभूत है, अतः प्रत्येक अभ्यासी को थोड़ा-बहुत अनुभव होना ही चाहिए।

प्रत्येक इन्द्रिय में भूतविशेष की उपस्थिति या प्रधानता—हम अपने दैनिक व्यवहार में नित्य ही देखते हैं कि हमारे नेत्र केवल 'दर्शन' का ही कार्य करते हैं, श्रवण का नहीं; एवं श्रोत्र सुनते ही हैं देखते नहीं। इसका कारण यही है कि प्रत्येक इन्द्रिय में एक-एक तत्त्व प्रधान है। दूसरे तत्त्व सहकारी रूप में विद्यमान हैं। इसी विशेषता के कारण ये इन्द्रियाँ अपने-अपने नियत विषय को ही ग्रहण करती हैं। 'अन्नमयकोश' की उत्पत्ति पंचमहाभूतों के सात्त्विक अंशों से हुई है— ऐसा हम पूर्व लिख चुके हैं। उसी के आधार पर प्रत्येक इन्द्रिय में अन्य तत्त्वों के साथ एक तत्त्व की मुख्यता है।

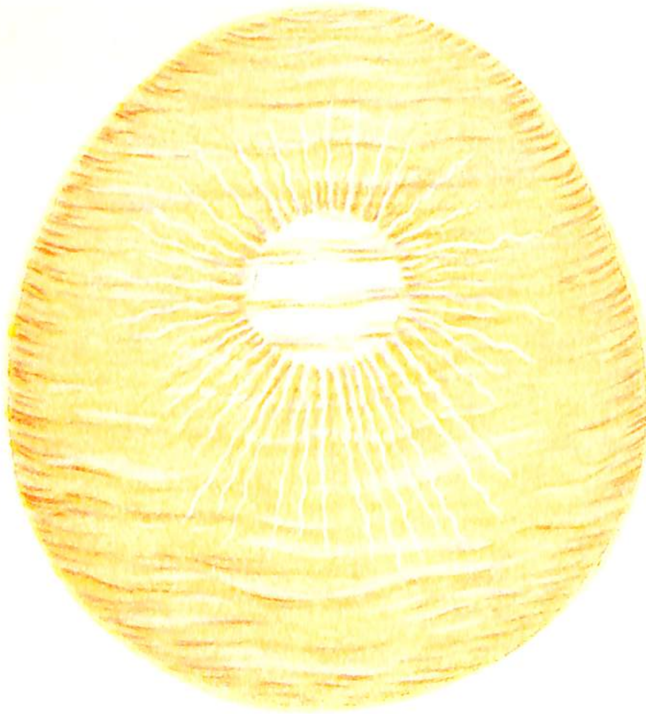
कर्मेन्द्रियों में तत्त्वों की प्रधानता—१. 'गुदा' में पृथ्वी तत्त्व अन्य सब कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा से अधिक है; अन्य चारों सहकारी रूप में विद्यमान हैं। २. 'उपस्थ' में जलतत्त्व का भाग विशेष रूप से अधिक है। ३. 'पाद-इन्द्रिय' में अग्नि तत्त्व अधिक है। ४. 'हस्त' में वायुतत्त्व विशेषतया अधिक है। और ५. 'वाक्-इन्द्रिय' में आकाशतत्त्व विशेषरूप से प्रधान है।

ज्ञानेन्द्रियों में तत्त्वों की प्रधानता १. नासिका में पृथ्वीतत्त्व प्रधान है। २. 'रसना' में जलतत्त्व; ३. 'नेत्रों में अग्नितत्त्व; ४. 'त्वचा' में वायुतत्त्व; और ५. कर्णेन्द्रिय' में आकाशतत्त्व की प्रधानता है। शेष तत्त्व सहकारी रूप से प्रत्येक में रहते

३

२

१



चित्र संख्या ११

काम क्रोध, भयादि से प्रभावित मनोमयकोश

ही हैं।

ये पाँचों महाभूत जैसे 'अन्नमयकोश' के उपादान-कारण हैं, वैसे ही स्थूल कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के स्थूल गोलकों के भी ये ही उपादान-कारण हैं। इसीलिए इन सब के साथ 'उपादान कारण' के रूप में वर्तमान रहते हैं। इसी प्रकार इन सब स्थूल इन्द्रियों के जो सूक्ष्मरूप हैं उन में भी—ज्ञानेन्द्रियों में सात्त्विक-अहंकार, कर्मेन्द्रियों में राजस्-अहंकार, और इन सब इन्द्रियों के प्रेरक 'मन' में अहंकार के सात्त्विक और राजस् अंश 'उपादान,कारण' के रूप में विद्यमान हैं। पंचतन्मात्राओं सहित मन तथा इन्द्रियों के संघात का नाम ही 'मनोमयकोश' है। सूक्ष्म या स्थूल सभी इन्द्रियाँ इसी 'मन' की प्रेरणा से दिव्य (पंचतन्मात्रिक) और अदिव्य (स्थूल पंचभूतात्मक) भोगों का उपभोग भी करती हैं।

जो योगी मन, इन्द्रिय और बुद्धि के पारस्परिक व्यापार की सूक्ष्मतर गतियों के रूप में 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमय' कोशों के विभेदक ज्ञान एवं व्यापार को क्षणार्द्ध में सम्पन्न होते हुए प्रत्यक्षरूप से देख और समझ सकता है वह ही 'आत्मज्ञान' प्राप्त करने में सफल हो सकता है। प्रकाशात्मक 'मन' ब्रह्मरन्ध्र के एक देश में रहता हुआ भी 'प्राणमय' तथा 'अन्नमय' कोशों को अपनी दिव्य रश्मियों से सदा आच्छादित किए रहता है। जैसे कि एक देश में स्थित दीपक समस्त कमरे को अपनी ज्योति से आच्छादित कर लेता है। यह 'मन' दशों इन्द्रियों के विषयों को क्रम से ग्रहण करता हुआ जब तुरन्त ही इन्हें निर्णय कराने के लिए बुद्धिमण्डल में प्रतिक्षिप्त करता जाता है, उस समय विशेषरूप से क्रियाशील बने 'मन' की लहरियां अथवा उत्कम्पन अतिद्रुत-गतियुक्त, सूक्ष्म, तथा कभी अत्युग्र और महान् भी होते हैं, जिन्हें देख कर योगी स्तब्ध या चकित-सा रह जाता है। जाग्रत् में प्रत्यक्ष एवं स्वप्नों में 'मन' का व्यापार अप्रत्यक्ष होता है, तथा इन दोनों दशाओं में बिषयों की उपभोक्ता तो 'बुद्धि' ही होती है। काम, क्रोध, भय, शोकादि से प्रभावित हुए 'मन' की गति-विधि कैसी होती है उस अवस्था के निर्देश कुछ सामने के ❀ चित्र (सं० ११) में दे दिए हैं—इन्हें देखें और प्रत्यक्ष भी करें।

❀ चित्र संख्या ११ का विवरण—काम, क्रोध, भय आदि से प्रभावित मनोमयकोश का दर्शन :—

१. प्रस्तुत चित्र में रजोगुण से प्रभावित हुई पीत-वर्ण की बुद्धि में काम, क्रोध, भय आदि से उत्पन्न हो रही लहरें हैं।

२. काम, क्रोधादि के समय इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता हुआ नीलाभयुक्त श्वेत वर्ण का मन है।

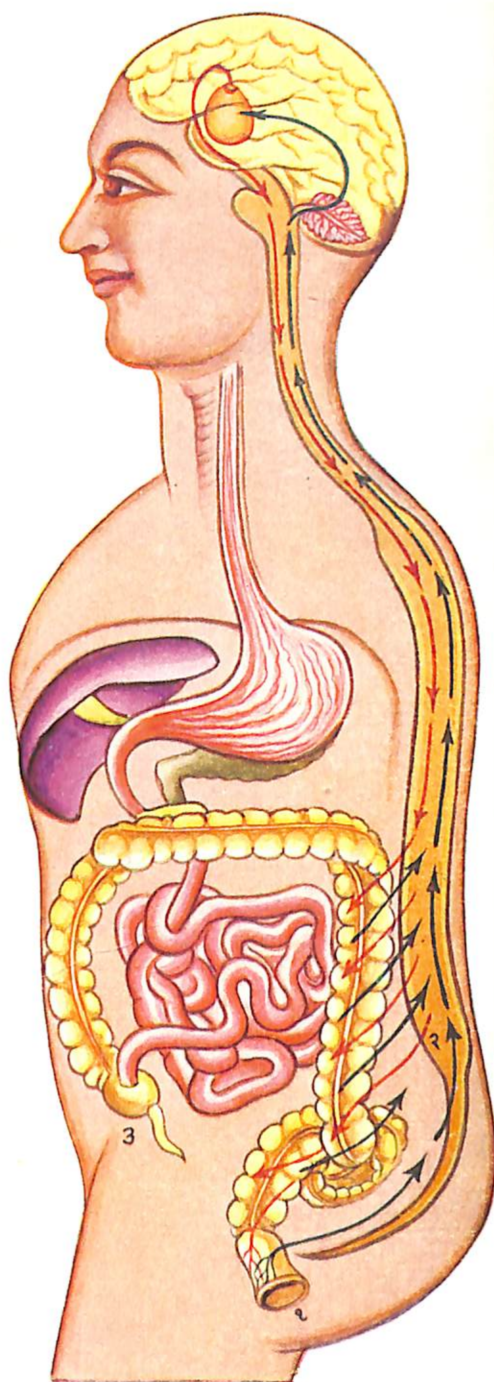
३. काम, क्रोध से ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में क्षोभ हो रहे हैं।

४. विषयों से प्रतिबिम्बित तथा क्रियाशील हुआ मन बुद्धिमण्डल में तरङ्गित हो रहा है।

प्रत्येक कर्मेन्द्रिय के व्यापार दर्शन का क्रम—सर्वत्र आन्तरिक साक्षात्कार में इस क्रम को भी स्मरण रक्खें। स्थूल कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों से जितने गतिवाहक और ज्ञानवाहक नाड़ी-सूत्र निकलते हैं, ये सब लघु-मस्तिष्क, मध्य-मस्तिष्क, वृहद्-मस्तिष्क में पहुँचते हैं और तीनों से अपने सम्वेदनों को सूक्ष्म कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों पर फेंकते रहते हैं। अब कर्मेन्द्रियों के 'मन' तथा 'बुद्धि' के साथ हो रहे व्यापारों को साक्षात् कीजिए। साक्षात्कार का क्रम सर्वप्रथम 'गुदा' से प्रारम्भ कीजिए, 'गुदा' इन्द्रिय का मुख्य व्यापार केवल मल त्यागना है।

१. 'गुदा' मल का त्याग किस प्रक्रिया से करती है। तथा मल त्यागते समय हमारे 'कोशों' में क्या-क्या क्रिया होती है इस को देखने के लिए ध्यान की तीव्र दृष्टि से 'मूलाधार' में प्रवेश करें। प्रथम तो यहाँ अपनी स्मृति से' गुदेन्द्रिय' पर मल का भार पड़ने की स्थिति को स्मरण कीजिए और देखिए कि 'मलद्वार' में स्थित 'गतिवाहक सूत्रों' में मल त्यागने से पूर्व कैसी क्रिया होती है। गुदा में संकोच-विकास उत्पन्न कर के देखें तो गुदाद्वार से लेकर ऊपर की ओर अन्दर लगभग ६-७ इंच तक विचित्र प्रकार की बेचैनी-सी प्रतीत होगी। मलत्यागने की इच्छारूप यह व्याकुलता ब्रह्मरन्ध्र में स्थित 'स्थूल गुदा कर्मेन्द्रिय' की 'सूक्ष्मइन्द्रिय' में उत्पन्न होती है। इस इच्छा का कारण 'बुद्धि' है। और 'बुद्धि' इस इच्छा को 'मन' के द्वारा निरन्तर ही कैसे भिजवा रही है ? मन, 'सुषुम्नापथ' से आते-जाते गतिवाहक-प्राणसूत्रों के द्वारा मलत्याग की इस इच्छा को छोटी-बड़ी आंतों में कैसे क्रियान्वित कराता है ? मलत्याग-कर्म के समय गुदा-द्वार से ६-७ इंच ऊपर 'गणेशचक्र' तक स्थित 'गुदा-मण्डल' में होने वाली गति को ध्यानदृष्टि से देखें। इस समय यहाँ पर फैले 'गतिवाहक-प्राणसूत्र' तथा 'ज्ञानवाहक तन्तु' दोनों ही बड़ी तत्परता से कार्य कर रहे प्रतीत होंगे। ज्ञान तथा गति, ते दोनों ही सुषुम्नाकाण्ड में से हो कर आंतों को प्रेरित करते हुए आगे अपने सजातीय सूत्रों-द्वारा लघुमस्तिष्क के सामने से हो कर 'सुषुम्नाशिखर' तक पहुँचते हैं। गुदा-द्वार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने के लिए मार्ग में इस क्रिया का अनुभव कटि-प्रदेश से सटी बड़ी आतों में फिर पीठ में, ग्रीवा में, ओर अन्ततः ब्रह्मरन्ध्र में होगा। गुदा से ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचने तक ये दोनों ही, ज्ञान तथा क्रिया, 'सूक्ष्मतन्मात्रा' के रूप में परिणत होकर अपनी सूक्ष्मेन्द्रिय गुदा पर प्रभाव डालती प्रतीत होंगी, और 'सूक्ष्म-गुदेन्द्रिय' इस 'सूक्ष्मतन्मात्रा-रूप' में परिणत हुए प्रभाव को ग्रहण करके गतिशील होती दीखेगी। यहाँ पर इन क्रियाओं को अतितन्मयता से ही देखा जा सकता है, यह स्मरण रखना चाहिए। सभी सूक्ष्म इन्द्रियाँ ज्ञान तथा कर्म के तन्मात्रिक रूपों को ही ग्रहण करती हैं, किन्तु यह भी निश्चय से समझ लेना चाहिए कि साधारण मनुष्यों के लिए ऐसा ही नियम नहीं है।

योगानुष्ठान से प्राप्त 'संयम-जय' आदि की दिव्य-शक्तियों के सहारे से जब योगी 'भूतजयी अवस्था' प्राप्त कर लेते हैं तब उनके सूक्ष्मशरीर के अंग 'सूक्ष्म-दिव्य-इन्द्रियाँ' स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के विषयों का विज्ञान प्राप्त कर लेने एवं स्थूल-सूक्ष्म विषयों के उभयात्मक उपभोग करने में समर्थ हो जाती हैं। अतः योगी अपने 'सूक्ष्म-शरीर' से वह कार्य भी ले सकता है जिसे स्थूल देह करता है।



चित्र संख्या १२

कर्मेन्द्रिय पाद का प्रत्यक्षीकरण

कर्मेन्द्रिय गुदा का प्रत्यक्षीकरण

सूक्ष्म गुदेन्द्रिय की इस गतिशीलता से 'मन' प्रतिबिम्बित होता है और इस प्रतिबिम्ब को लेकर 'बुद्धिमण्डल' में गतिशील हो जाता है । उस समय यह 'बुद्धि' अपने निर्णीत विषय को सूक्ष्मभाव वा संस्कार के रूप में परिणत करके एक हल्की-सी छाया के रूप में अपने मण्डल से बाहर फेंक देती है । अनन्तर, यह संस्कार पंचतन्मात्रा के ज्योतिर्मय मण्डल को पार करता हुआ हृदय में चला जाता है । वहाँ पर 'अहंकार' इस संस्कार को ग्रहण करके 'चित्तमण्डल' में स्थापित कर देता है, तथा दूसरी ओर, यह 'बुद्धि' अपने निर्णीत विषय को 'मन' के द्वारा उसी इन्द्रिय के मार्ग से क्रमशः सूक्ष्मशरीर से स्थूलशरीर में पहुँचा कर क्रियान्वित करा देती है । यह सब क्रिया उतने काल में पूर्ण होती है जितना समय 'गुदा' को मल त्याग करने में लगता है । सामने के चित्र‡ संख्या १२ से यह सब प्रक्रिया बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है । अतः चित्र का अनुसरण करें ।

अब आगे इसी विज्ञान-क्रम के अनुसार अगली कर्मेन्द्रियों के व्यापारों को प्रत्यक्ष करते चले जाएं । यहाँ यह नियम स्मरण रखें कि 'स्थूलइन्द्रियां' सब स्थूल विषय और स्थूल पदार्थों का ज्ञान, एवं सब स्थूलकर्म तथा स्थूल विषय-मात्र को ही ग्रहण करती हैं, और सभी 'सूक्ष्मेन्द्रियां' पंचतन्मात्रिक भाव को प्राप्त सूक्ष्मज्ञान तथा सूक्ष्म-क्रिया को ग्रहण करती हैं । इन सूक्ष्म विषयों और सूक्ष्म शरीर के द्वारा 'सूक्ष्म जगत्' के साथ होने वाले प्रत्येक व्यापार का साक्षात्कार मानव को 'दिव्यनेत्र' से होता है ।

२. **उपस्थेन्द्रिय**—उपस्थ के दो कर्म हैं, १. मूत्र विसर्जन, २. प्रजनन कर्म । इन में से प्रथम तो मूत्र त्यागने के कर्म को प्रत्यक्ष करें, जिस प्रकार कि मल त्यागने की क्रिया का विज्ञान पूर्व किया है ।

उपस्थ का दूसरा कर्म 'मैथुन' है । यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए कि कामुकता दो प्रकार से उत्पन्न होती है । एक तो संस्कारों की स्मृति से, दूसरी बाह्य स्पर्श तथा कामुक दृश्य के दर्शन एवं अश्लील वार्ताओं से । इसका प्रभाव पुरुषों में 'शुक्रक्षय' तथा नारियों में एक 'द्रव-विशेष' के स्राव के रूप में प्रकट होता है । वैसे साधारणतया

---

‡ चित्र संख्या १२ का विवरण—कर्मेन्द्रिय गुदा का प्रत्यक्षीकरण :—

१, पीतवर्ण की मोटी बड़ी आंत के द्वारा मल का त्याग होता है ।

२, मेरुदण्ड सुषुम्ना नाड़ी द्वारा तथा गुदा द्वारा मल त्याग की सम्वेदन-क्रिया तथा ज्ञान के व्यापार का आदान-प्रत्यादान हरित-नीलवर्ण के बाणों तथा रक्तवर्ण के बाणों द्वारा दिखाया गया है ।

३, इसी प्रकार से उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र विसर्जन तथा प्रजनन क्रिया का प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है ।

कर्मेन्द्रिय पाद का प्रत्यक्षीकरण —

४, मेरुदण्ड में सुषुम्ना नाड़ी द्वारा पैर में सहसा चुभे पिन से पैरों में एक विलक्षण गमन क्रिया उत्पन्न हो जाती है । इन विलक्षण गमन का संकेत पाद से और नील-हरितवर्ण के बाणों द्वारा ब्रह्मरन्ध्र पादेन्द्रिय में दिखाया गया है ।

तो सभी ग्रान्तरिक 'सूक्ष्मेन्द्रियों' एवं 'मन' में सदा ही ज्ञानोपार्जन तथा प्रत्येक कर्म करने-कराने के समय संकोच-विकास होता ही है, किन्तु कर्मेन्द्रियों में यह 'शिश्न' ही ऐसी इन्द्रिय है जिस पर कि कामुकता का विशेष प्रभाव संकोच-विकास के रूप में प्रकट हो जाता है। उपस्थ में प्रजननशक्ति विशेष रूप में होने से संसार में प्रजा की उत्पत्ति का कारण यही है। देवों से लेकर कीट-पतंग तक हरएक प्राणिमात्र इस के वशीभूत होकर इसका 'दास' बना हुग्रा है। कर्मेन्द्रियों में 'उपस्थ' तथा ज्ञानेन्द्रियों में 'रसना' ये दोनों ही ग्रति प्रबल इन्द्रियाँ हैं। इन पर वशित्व प्राप्त करना 'कठिनतम-कर्म' है। इन पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेने वाले 'ब्रह्मचारी' को इसीलिए सर्वत्र ग्रति सम्मान दिया जाता है, विज्ञान एवं परम वैराग्य के बिना इन पर ग्रधिकार प्राप्त नहीं होता। इन दोनों को वश में कर लेना मानो विषय-संसार के ग्रत्यधिक भाग पर प्रभुत्व पा लेना है। नारी के दर्शन, स्पर्श, भाषण ग्रादि ग्राठ प्रकार के मैथुनों तथा रति-रत पशु-पक्षियों के दर्शन ग्रथवा ग्रनावश्यक स्पर्श एवं दूसरे ग्रान्तरिक कामुक संस्कारों की स्मृति से भी शिश्न में क्रिया होने लगती है। इन दोनों ही कारणों के उपस्थित होने पर 'ज्ञानवाह-नाड़ियों' के द्वारा मस्तिष्क गत 'उपस्थ' के केन्द्र पर ग्राघात पहुंचता है। इस ध्यानस्थ दशा में यहाँ पर 'सूक्ष्म उपस्थ' के विकार, तथा इस से प्रभावित 'मन' 'बुद्धि' के रंग-रूपों से उत्पन्न तरंगों एवं गति को सावधानी से देखा जाता है। तब इन क्रियाग्रों से ग्रन्य क्रियाग्रों में होने वाली भिन्नता परिदृष्ट हो सकेगी; विज्ञान के प्रत्यक्ष का क्रम यही है।

३, **पाद-इन्द्रिय**—पैरों का मुख्य कर्म 'गमन-ग्रागमन' है, इसे भी पूर्ववत् साक्षात् करें। किन्तु गमनागमन की क्रिया भी दो प्रकार से होती है।

एक-साधारण देह व्यापार के लिए। इस काल में 'मन' 'बुद्धि' तथा ग्रान्तरिक 'पादेन्द्रिय' में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता।

दूसरी क्रिया, 'भय' वा 'हर्ष' से होती है। जैसे किसी वन्य-पशु सिंह ग्रादि की गर्जना सुन कर, ग्रथवा भय-उत्पादक रीछ, हस्ती, सिंह ग्रादि हिंस्र पशुग्रों को देखकर भय उत्पन्न होता है।

तब इन कर्मेन्द्रियों पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है, इस प्रभाव से विकृत हो कर मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि—सभी में विलक्षणता प्रतीत होती है। उस समय इन सब की क्रियाग्रों, रंग-रूपों में हुए विशेष परिवर्तन को लक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए, इस समय 'सूक्ष्म पादेन्द्रिय' सहित समस्त देह में ही हल-चल मच जाती है। सर्वत्र कम्पनों की ग्रति तीव्रता स्पष्ट भासती है, वैसी साधारण-सामान्य ग्रवस्था में चलते-फिरते, दौड़ते समय नहीं होती। हर्ष के समय इस कर्मेन्द्रियं में ही नहीं वरन् मन, बुद्धि तथा देह भर में 'भय' से सर्वथा भिन्न प्रभाव प्रतीत होता है। इन सभी प्रभावों को ग्रहण करके देह के ग्रंग-प्रत्यङ्ग में सर्वत्र फैलाने वाला यह 'मन-देवता' ही है। जैसे, ग्राकाशस्थ ग्रादित्य समस्त भूमण्डल को उष्णता एवं प्रकाश से प्रभावित करता रहता है। पैरों में यह गमनागमन की क्रिया मस्तिष्क से ग्रापाद-तल तक फैले गतिवाहक सूत्र जाल के द्वारा होती है। प्रत्येक गति ये गतिवाह-नाड़ियाँ ही करती हैं।

इस क्रिया की प्रक्रिया तथा कपालगत कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि की क्रिया को ध्यानकाल में लक्षित करके ही प्रत्यक्ष किया जाता है। इनके प्रत्यक्ष करने का क्रम भी वही पूर्वोक्त है ।

४. हस्त-इन्द्रिय—हाथों का मुख्य कर्म लेना-देना है । वैसे तो सीना-पिरोना, वाद्य-बजाना, लिखना, शल्य-क्रिया, चित्रलेखन, युद्ध करना आदि अनेक कर्म हैं जो आदान-प्रदान में ही आ जाते हैं । नृत्य में हाथ-पैर दोनों ही मिलकर कार्य करते हैं। पाद प्रकरण में लिखित 'भय' तथा 'हर्ष' इन दो भावों के द्वारा, आदान-प्रदान कर्म भी, दो प्रकार का हो जाता है। भयजन्य बाह्य-आक्रमण को रोकने के लिए तथा 'आत्म-रक्षार्थ' दोनों हाथ दूसरे पर प्रहार करने के लिए किस शीघ्रता से तुरन्त आगे बढ़ जाते हैं यह आपने कई बार देखा होगा। जब जिस प्रकार के भाव 'चित्तमण्डल' से उभर कर 'विज्ञानमयकोशगत' 'बुद्धिमण्डल' में आते हैं, और उन से प्रभावित हो कर बुद्धि, 'मनोमण्डल' को जैसी आज्ञा देती है 'मन' तुरन्त ही अपनी द्रुतकारिता से 'हस्त-कर्मेन्द्रिय' को अपनी रश्मियों से प्रभावित करता है; तब 'हस्तेन्द्रिय' के साथ जुड़े 'गतिवाहक-सूत्र' भावानुकूल आज्ञा को हाथों से कराने लगते हैं। जो हाथ हिंसा, क्रोध, द्वेष तथा प्रतिशोध के भावों से प्रभावित होकर ऐसे क्रूर एवं घोर कुकर्म कर डालते हैं कि प्रत्येक मनुष्य उन बीभत्स कृत्यों को सुन कर ही काँप उठता है—उन का करना तथा देखना तो दूर रहा, दूसरी ओर वे ही हाथ, सात्त्विक-सुकोमल-स्निग्ध भावनाओं से प्रभावित हो कर दान देने लगते हैं, दुखियों की सेवा करने लगते हैं । देखिए सेवा, ऑपरेशन, चीर-फाड़, स्नेह, कला-कृति आदि सौम्य कर्मों के समय इन हाथों पर कैसी कोमलता छा जाती है कि आश्चर्य होता है। इस प्रकार से स्थूल हों वा सूक्ष्म, क्रूर हों वा कोमल, भले हों वा बुरे सभी कर्मों को ये 'गतिवाहकसूत्र' बुद्धि की प्रेरणा से 'मन' की आज्ञा द्वारा ही करते-कराते हैं।

५. वाक्-इन्द्रिय—जीभ, तालु, दन्त, ओष्ठ, जिह्वामूल, मूर्द्धा, नासिका के सम्मिश्रित व्यापार से वाक्-इन्द्रिय की क्रिया 'वाणी' रूप में प्रकट होती है । इसका उद्‌गमस्थान नाभि प्रदेश है । नाभि प्रदेश में उत्पन्न शब्द की संज्ञा 'परा' है, इस 'परा' रूप शब्द को योगी अपनी 'संयमजय' की शक्ति से अनुभव कर लेता है, किन्तु सर्वसाधारण के अनुभव में न आ सकने से इस की संज्ञा 'परा' है। नाभि में उत्पन्न हो कर यह 'परा' शब्द गतिवाहा नाड़ियों के द्वारा हृदय प्रदेश में आता है । तब इस की संज्ञा 'पश्यन्ती' होती है, क्योंकि यहाँ आकर शब्द 'अनाहत-ध्वनि' के रूप में सुना जा सकता है, वह भी ध्यानावस्थित हो कर। यहाँ से ऊर्ध्वगमन करता हुआ यह कण्ठप्रदेश में पहुँचता है, तब इस की संज्ञा 'मध्यमा' होती है, अर्थात् 'सप्तस्वरों' के रूप में यह स्पष्ट होने लगता है । आगे मुख में आकर यह जीभ, तालु आदि के संयोग से 'वाणी' के रूप में प्रवाहित होने लगता है तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध का द्योतक बनता है । तब इस की 'वैखरी' संज्ञा होती है ।

इस वाणी का प्रयोग भी दो प्रकार से होता है ।

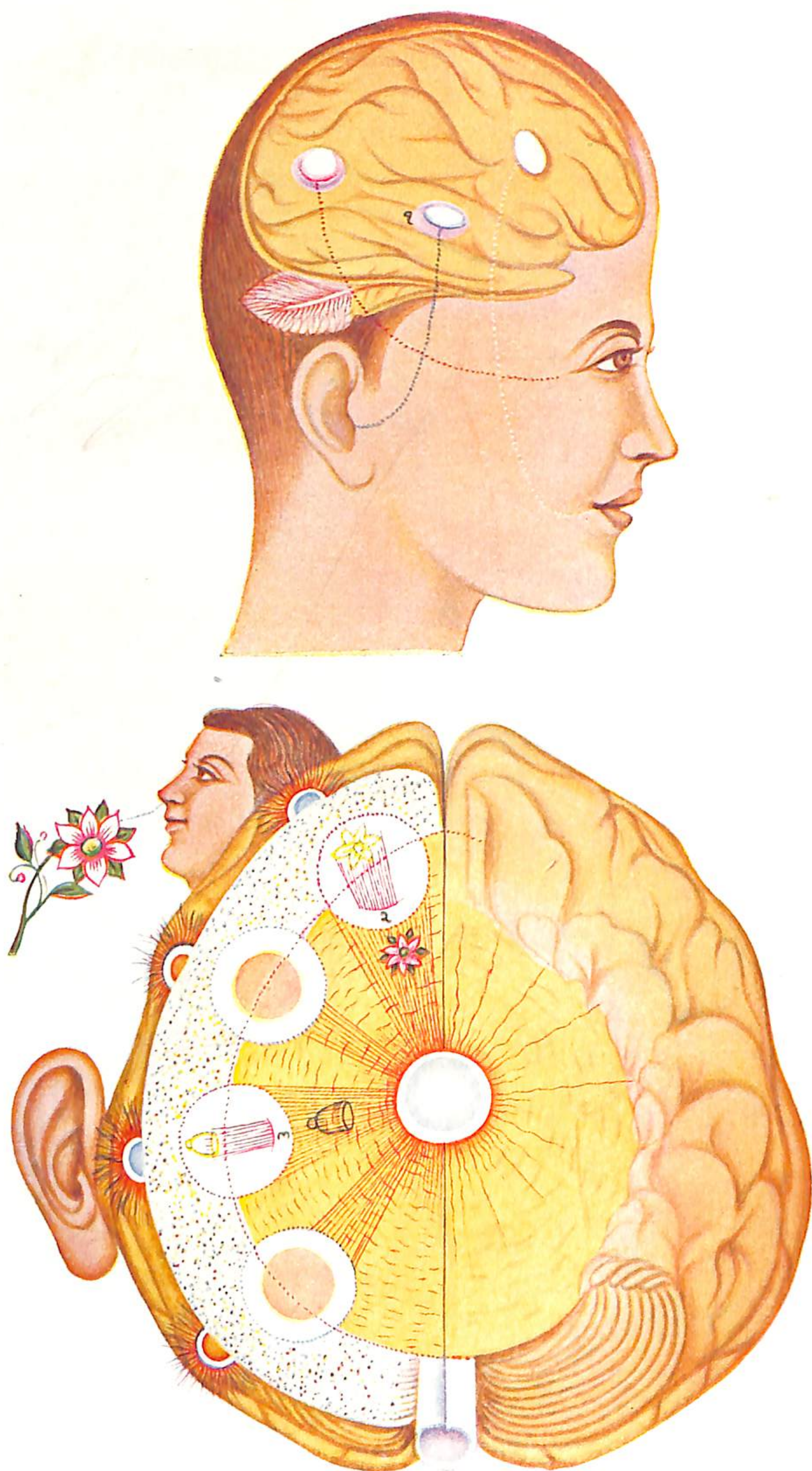
१-एक तो आन्तरिक—जैसे स्मृति द्वारा जागृत भावों को हम वाणी के द्वारा प्रकट करने लगते हैं।

२-दूसरा—जो बाह्य शब्दों के उत्तर में हम कुछ कहते हैं।

इन दोनों अवस्थाओं में बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, ज्ञानवाहक तथा गतिवाहक नाड़ि-समुदाय समान रूप से मिल कर कार्य करते हैं; किन्तु क्रम में थोड़ा-सा भेद पड़ जाता है, 'वाणी-रूप' से प्रवाहित 'वाक्-इन्द्रिय' का बाह्य-प्रयोग भी भय, क्रोधादि उद्वेगों के द्वारा एवं कारुणिक दृश्यों वा स्नेह-भावनाओं से प्रेरित हो कर किया जाता है। तब किसी आक्रमण से उत्पन्न 'भय' की दशा में नेत्रेन्द्रिय के साथ संयुक्त ज्ञानवाहक तथा गतिवाहक तन्तुओं के पथ से भयभीत होने की सूचना 'मन' के द्वारा 'बुद्धिमण्डल' में पहुँचती हैं। 'बुद्धि' तुरन्त ही रक्षा के लिए अपना निर्णय 'मन' को देती है । 'मन' कर्मेन्द्रिय 'वाक्' को पुकारने की आज्ञा देता है साथ ही हाथों को आक्रमण के रोकने तथा प्रत्याक्रमण के लिए उद्यत करता है। पैरों को भागने के लिए प्रेरित करता है। ये सब कर्म एक क्षणार्द्ध में किन्तु क्रम से होते चले जाते हैं । जब कोई दृश्य अथवा करुण-क्रन्दन बाहर से नेत्रों वा श्रोत्रों पर आघात करते हैं तब पूर्वकथित क्रम से ज्ञान तथा क्रियाओं का आघात 'बुद्धि' तक पहुँच कर बुद्धि के निर्णय के अनुसार 'मन' ही पूर्वोक्त व्यवस्था के अनुसार सब कार्य कर-करा देता है।

तीसरा—वाग्-व्यापार अन्तःप्रेरणा से होता है। उस समय स्नेह, दया, क्रोध तथा विज्ञान आदि के भावावेश आदि जन्य संस्कार 'चित्त' में स्मृति के रूप से निरंतर उठ-उठ कर एक प्रवाह के रूप में 'बुद्धि' को तरंगित करते चले जाते हैं। 'बुद्धि' इन से रंजित हो कर अपने आदेशों से 'मन' को प्रतिबिम्बित करती जाती है । 'मन' अपनी रश्मियों द्वारा समीप में ही स्थित 'सूक्ष्मवाक्' को क्रियाशील बनाता है। तब इस इन्द्रिय के साथ जुड़े ज्ञानवाहक तथा गतिवाहक सूत्र 'स्थूलवाक्' को गतिशील कर देते हैं। दूसरी ओर 'ज्ञानतन्तु' मन से प्रेरित हो कर नाभि-प्रदेश में शब्दों को उत्पन्न करने की आज्ञा देते हैं। तब वहां पर 'शब्द' निरंतर उत्पन्न हो कर पूर्वकथित पथ से मुख में आकर अभिव्यक्त या मुखरित होकर धारा-प्रवाह से बहने लगता है-यही वाणी का व्यापार है। इन सभी दशाओं में 'मन' ही वाक् आदि इन्द्रियों के साथ 'बुद्धि' का संयोजक होता है। अतः यह 'मन' ही शब्दार्थ सम्बन्ध का भी 'बुद्धिमण्डल' के द्वारा निश्चय कराता है।

वाग्-व्यापार—'वाणी' का व्यापार 'भाषण' है; किन्तु इसका ज्ञानेन्द्रियों के साथ अतिनिकट सम्बन्ध है। क्योंकि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय द्वारा प्राप्त किए ज्ञान को यह 'वाक्' ही प्रकट करता है। वाणी का प्रयोग प्रायः सब ही प्राणी करते हैं किन्तु यह बुद्धि, किसी 'गूंगे' अथवा 'उन्मत्त' की वाणी के विषय में कुछ भी निर्णय नहीं कर पाती—असमर्थ ही रहती है। कर्मेन्द्रियों में सर्वप्रधान 'वाक्' ही है। विज्ञजन इसका सदुपयोग सत्य तथा मृदुभाषण, उपदेश, एवं ज्ञानगोष्ठियों के रूपों में कर के 'पुण्य' तथा 'शुक्लधर्म' का उपार्जन कर के सुखभोगी बन जाते हैं। मूढ़ तथा अज्ञजन 'वाक्' का मिथ्याकटुभाषण, पापगोष्ठियों के रूप में दुरुपयोग कर पाप तथा अधर्म का संग्रह करके



चित्र संख्या १३

ज्ञानेन्द्रिय और उन के विषय का प्रत्यक्षीकरण

दुःख भोगा करते हैं। संसार का अधिकतर कार्य-व्यवहार 'वाणी' के द्वारा ही सम्पन्न होता है। किन्तु 'वाक्' के द्वारा कर्म न करने अर्थात् मौन धारण कर लेने पर वाणीजन्य पाप पुण्य युक्त व्यापार नहीं होते। इस प्रकार कर्मप्रधान स्थूल देह में जो सब कर्मेन्द्रियां मुख्य रूप से स्थूलकर्म करती हैं, इन सब में 'वाणी' सर्वोत्कृष्ट है एवं सब से कार्य कराने वाली है।

इस प्रकार 'मनोमयकोश-गत' कर्मेन्द्रियों का व्यापार-विज्ञान तो समाप्त होता है; किन्तु 'मन' का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से है और ज्ञानेन्द्रियाँ भी 'मनोमय' कोश में विद्य-मान हैं इसलिए ज्ञानेन्द्रियों के साथ होने वाले 'मन' के व्यापारों का विज्ञान किए बिना आपका विज्ञान अधूरा रह जाएगा। अतः अपने विज्ञान की पूर्ति के लिए, ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार के विषय में कुछ समझ लीजिए। तब अगले विज्ञान को प्राप्त करने में सुगमता होगी।

ज्ञानेन्द्रियों के विषय में—'मनोमय कोश' की अङ्गभूत ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार कर्मेन्द्रियों के व्यापार की अपेक्षा सूक्ष्मतर तथा अतिशीघ्रता से सम्पन्न होने वाला है; यद्यपि इन के द्वारा लाए गए ज्ञानों का आदान-प्रदान तो यह 'मन' ही करता है तथापि दोनों की क्रिया में भेद होता है। जैसे, गन्ध, रस, रूपादि का कोई भी विषय हो, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा लाए हुए ज्ञान वा विषय से प्रतिबिम्बित होकर इसे 'बुद्धि-मण्डल' में फैलाते मन को देर नहीं लगती। और न 'बुद्धि-द्वारा' दिए गए निर्णय को लेकर इन्द्रियों तक पहुंचाने में देर लगती है। बुद्धि तथा इन्द्रियों के मध्य में यह 'मन ऐसा सतर्क बना रहता है जैसे 'मछली' जलाशय में अपने शिकार बन जाने के भय से या शिकार की खोज में सदा सचेत और सचेष्ट रहती है। कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं की अपेक्षा ये क्रियाएँ अतिसूक्ष्म तथा अतिशीघ्रता से सम्पन्न होती हैं, इस कारण प्राथमिक दशा में 'अभ्यासी' इस समस्त-क्रम का अनुसरण सुगमता से नहीं कर पाता; क्योंकि ये क्रियाएँ कल्पनातीत द्रुतगति से हो जाती हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों अभ्यास की दृढ़ता से यह 'दिव्यनेत्र' अभ्यस्त' एवं स्थिर बनता चला जाता है, ये सूक्ष्मतर और द्रुततर गतियां वा क्रियायें स्पष्टतर होने और समझ में भी आने लगती हैं। विषय की गहनता को दृष्टि में रखते हुए, यह इतनी व्याख्या आवश्यक समझ कर, ही की गई है। साथ में लगे ❀चित्र (संख्या १३) से भी सहायता लीजिए और अगला विषय प्रत्यक्ष कीजिए।

❀ चित्र संख्या १३ का विवरण—ज्ञानेन्द्रिय और उनके विषयों का प्रत्यक्षीकरण :—

१. बृहन्मस्तिष्क में तीन (आंख, कान और रसना) ज्ञानेन्द्रियों के केन्द्र दिखाये गये हैं।

२. बृहन्मस्तिष्क के क्रियाशील भाग में घ्राणेन्द्रिय द्वारा उसके विषय पुष्पगन्ध के प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया दिखाई गई है, जिस में मन द्वारा विषय का आदान, प्रत्यादान और बुद्धि में एक विलक्षण निर्णयात्मक प्रतिक्रिया हो रही है।

३. कर्णेन्द्रिय के द्वारा उसके विषय घन्टी के शब्द से प्रतिबिम्बित मन के आदान प्रत्यादान से बुद्धि में एक विलक्षण निर्णयात्मक प्रतिक्रिया हो रही है।

१—घ्राण-इन्द्रिय का वर्णन—नासिका से गंधमात्र का ग्रहण होता है; किंतु 'गंध' के भी सुगंध और दुर्गंध ये दो स्थूल भेद हैं। इस के आगे सुगंध भी पदार्थ-भेद से गुलाब, कस्तूरी, मोतिया, केवड़ा, केसर, आम, सेब, अनार, संतरा इत्यादि के रूपों में अनेक प्रकार की होती है। ऐसा ही दुर्गंध के विषय में भी समझ लें। प्रत्येक प्राणी के पास गंधमात्र को अनुभव करने का साधन 'घ्राण' है। नासिका तो 'घ्राणेन्द्रिय' का निवास-स्थान है अथवा घ्राण का स्थूल स्वरूप है । किन्तु शक्तिरूपा 'घ्राण' मस्तिष्क गत 'ब्रह्मरन्ध्र' में स्थित 'मनोमयकोश' में है जहाँ पर अन्य 'नेत्र', 'श्रोत्र' आदि सूक्ष्म-इन्द्रियां हैं। मस्तिष्क के साथ जुड़े तथा वहां से निकले अनेकशः ज्ञानतन्तु देह भर में फैले हुए हैं, और वे नथुनों में भी विद्यमान हैं। नासा-द्वारों में प्रविष्ट हुई गन्ध इन्हीं ज्ञानसूत्रों के द्वारा मस्तिष्कगत 'सूक्ष्मघ्राण' तक पहुंच कर सब के अनुभव में आती है गन्धों की विविधता—नाम-रूप का निर्णय हमारी 'बुद्धि' करती है। गन्धों को प्रत्यक्ष करते समय जो दर्शनीय तत्त्व है वह यह कि गुलाब तथा कस्तूरी की आई हुई गन्धों का निर्णय करते समय होने वाली 'बुद्धि' की क्रियाएँ किस प्रकार की, कैसे रंग रूपों की होती हैं। अर्थात् गुलाब की गन्ध का निर्णय करते समय जैसा क्षोभ 'बुद्धिमण्डल' में उत्पन्न होता है, उस से कस्तूरी की गन्ध का निर्णय करते समय होने वाली बौद्धिक-क्रिया में क्या भेद दीखता है ? यही अत्यंत क्लिष्ट एवं सूक्ष्मतर विज्ञान है, जिसे आपने अपनी 'दिव्यदृष्टि' से प्राप्त करना है। अब सावधानी तथा तन्मयता से निम्न क्रम का अनुसरण करें, क्योंकि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के विषय के विज्ञान के दर्शन का क्रम यही है।

गन्ध प्रत्यक्षीकरण का क्रम—किसी दूर देश या समीप से आकर 'गन्ध' नासिका में प्रविष्ट होती है। यहाँ से अन्दर-ही-अन्दर भ्रूमध्य में से होकर, थोड़ी-सी दूरी पर जाकर यह 'गन्ध' ज्ञान-वाहकतन्तु-निर्मित 'घ्राणखण्ड' से जा कर टकराती है और ब्रह्मरन्ध्र के कोने-कोने तक फैले हुए इन ज्ञानवाहक तन्तुओं के द्वारा 'ब्रह्मरन्ध्र'में फैल जाती है। अन्य इन्द्रियों के समान हीय ह 'सूक्ष्मघ्राणेन्द्रिय' भी ब्रह्मरन्ध्रगत 'मानसमण्डल' में है। अब नाक में प्रविष्ट हुई वह 'स्थूलगन्ध' इस 'घ्राणखण्ड' के साथ जुड़े ज्ञानवाहक-सूक्ष्म तन्तुओं के पथ से चलती हुई और परिणामभाव को प्राप्त होती हुई सूक्ष्म 'गन्ध-तन्मात्रा' के रूप में बन जाती है। और 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमयकोश' के १२ पदार्थों को 'सूक्ष्मशरीर' के रूप में संगठित करने वाले 'पंचतन्मात्रिक-मण्डल' में (जो कि प्रकाशमय एक 'कोश' के रूप में 'ब्रह्मरन्ध्र में है) प्रविष्ट होकर उसमें घुलती-मिलती-सी अथवा तैरती-सी 'सूक्ष्मघ्राणेन्द्रिय' पर अपना आघात या प्रतिबिम्ब किंवा प्रभाव डालती है। यह प्रभाव एक प्रकार की चमक के रूप जैसा होता है । जैसे दो भिन्न प्रकार के पदार्थों के संघर्षण अथवा 'ऋणात्मक' और 'धनात्मक' विद्युत् के सम्मिलन से प्रकाश प्रकट होता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी एक चमक प्रकट होती है । इसी 'तान्मात्रिक-अवस्था' को प्राप्त हुए 'गन्धतन्मात्रिक-रूप' को यह 'सूक्ष्मघ्राण' ग्रहण करने में समर्थ होता है। यह 'कार्यरूपा-स्थूलगन्ध', गन्ध-तन्मात्रा के 'कारणरूप' में किस तीव्रगति से इतने स्वल्पकाल में परिणत अथवा रूपान्तरित हो जाती है, यही दृश्य यहाँ पर लक्षित करने योग्य तथा दर्शनीय है। तीव्रतम गति से होने वाली इस 'परिणति' को 'योगज-दृष्टि' ही प्रत्यक्ष कर पाती है। साधारण-ध्यान दृष्टि की कथा ही क्या है। अब यह

'सूक्ष्मघ्राण' इस 'गन्धतन्मात्र' स्वरूप से क्रियाशील हो कर, मनोमयकोशस्थ 'मन' को अपने आपको अर्पित कर देती है। इस गन्धतन्मात्र-रूप से प्रतिबिम्बित 'मन' विज्ञानमय-कोश में क्रियाशील हो जाता है। यह दृश्य, जल में रंग घोल देने की क्रिया के तुल्य होता है। अर्थात् गन्धतन्मात्रा से प्रतिबिम्बित हुआ 'मन' बुद्धिमण्डल में प्रविष्ट होकर इसे 'मथ'-सा देता है, कम्पायमान कर देता है। तब 'बुद्धि' क्षणार्द्ध से भी न्यूनतम समय में 'गन्ध' विषयक सम्पूर्ण निर्णय करके पूर्ववत् हृदय तथा स्थूलदेह की ओर भेज देती है। इस व्याख्यान का बहुत-कुछ भाव 'चित्र' (१३ प्र. सं. १६३) से स्पष्ट हो जाता है।

अब इसके आगे—रस, रूप, स्पर्श, शब्द के विषयों का विज्ञान भी इसी सरणी से करते चलें।

२. **रसना-इन्द्रिय**—रसना का काम 'रसों' की अनुभूति कराना है। लोक में षट्-रस प्रसिद्ध हैं। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कषाय, कटु। इन रसों का सम्बन्ध जब जिह्वा से होता है तब रसवाहक-ज्ञानसूत्रों के द्वारा सूक्ष्मीभाव अर्थात् 'रसतन्मात्रा' के रूप में परिणत होकर ये सभी रस 'सूक्ष्म रसना' के साथ 'सूक्ष्मभाव' से ही सम्बन्धित होते हैं। तब अन्य इन्द्रियों के विषय में पहले देखे दृश्यों के अनुसार इस 'सूक्ष्म रसना' में विलक्षण चमक या क्षोभ दृष्टिगोचर होता है। आगे 'मन' इस क्रिया के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करके 'रस' के विषय का पूर्वदृष्ट क्रमानुसार समस्त व्यापार सम्पादित कर देता है। रसों को विभाजित करते समय 'बुद्धिमण्डल' में जो विलक्षण-क्रिया होती है वही यहां दर्शनीय तत्त्व हैं। जैसे कि 'मधुर-रस' के सम्पर्क से 'सूक्ष्म-रसना' में, 'मन' में, और 'बुद्धिमण्डल' में जैसी क्रिया होगी, उससे भिन्न ही प्रकार की क्रिया 'कटु-रस' के सम्बन्ध से, 'सूक्ष्म-रसना,' 'मन' और 'बुद्धिमण्डल' में होती है। यहाँ पर इसी भेद-ज्ञान का साक्षात्कार किया जाता है, किंतु 'त्रिगुणों' के भेद से रसों में भी भेद पड़ जाता है, जिस से यह क्रियाभेद और भी अधिक सूक्ष्म तथा जटिल बन जाता है। अब रस-विषयक समस्त निर्णय पूर्वदृष्ट क्रमानुसार 'मन' द्वारा विभक्त करा दिया जाता है, और मनुष्य-मात्र को इस रस की अनुभूति 'जीभ' पर होती है। इस प्रकार रस-विषयक आदान-प्रदान होता रहता है जब तक कि विषय का उपभोग पूर्ण नहीं हो जाता।

३. **नेत्र-इन्द्रिय**—लगभग आधा जगत् 'नेत्रेन्द्रिय' का विषय है। इस 'नेत्र' के विषय के ३ प्रकार के रंग, ३ से ७ प्रकार के इन रंगों के सम्मिश्रण से बने सभी अन्य रं।, सब प्रकार की आकृतियांजो कि रूप से सम्बद्ध हैं, इन चक्षुओं के ही विषय हैं। जब इन स्थूल नेत्रों के सामने कोई पदार्थ आता है, तब उस पदार्थ का 'आभास' नेत्रगोलकों के साथ जुड़े सूक्ष्मज्ञानवाहक-सूत्रों के द्वारा मस्तिष्क में स्थित 'सूक्ष्मनेत्र' पर पहुंच कर आघात करता है। इससे अगली शेष समस्त क्रिया का सन्तान-वितान 'गन्ध-साक्षात्कार' वत् होता चला जाता है। इस 'रूप' का भी उसी प्रकार साक्षात्-विज्ञान प्राप्त करें।

प्रतिबिम्ब—प्रत्येक पदार्थ का—चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म—प्रतिबिम्ब तो 'सूक्ष्मनेत्र' के पटल पर ही पड़ता है; केवल क्रमभेद हो जाता है। जैसे एक मनुष्य की आकृति-रूप-रंग का प्रतिबिम्ब सर्वप्रथम स्थूल नेत्रों पर पड़कर ज्ञानवाहक सूत्रों-द्वारा

'सूक्ष्म-नेत्रेन्द्रिय' पर पड़ेगा, और इसका बोध 'बुद्धि' के द्वारा होगा, किन्तु सूक्ष्म 'अतीन्द्रिय' पदार्थ तथा इनके व्यापारों का प्रतिबिम्ब सीधा ही 'दिव्यनेत्र' पर पड़ेगा और उसका बोध भी मन के माध्यम से 'बुद्धि' के द्वारा ही होगा। दूरवीक्षण यन्त्र लगा कर दूरस्थ पदार्थ तथा क्षुद्रवीक्षण यंत्र लगाकर सूक्ष्म वस्तु को देख लेने के समान ही यह 'दिव्यनेत्र' भी योगी को दोनों ही प्रकार का कार्य देता है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म, एकदेशी हो अथवा सर्वदेशी, सावयव, आकार वाला होने से वह दर्शन का विषय अवश्य बन जाता है। भेद इतना ही होता है कि 'स्थूलनेत्रों' से स्थूल पदार्थों का एवं सूक्ष्मशरीरगत 'दिव्यचक्षु' के द्वारा सूक्ष्म-अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन होता है। योगीजन इसी 'दिव्यचक्षु' के द्वारा अधिकारपूर्वक स्वेच्छा से 'दिव्यजगत्' के दर्शन करने एवं सूक्ष्मतन्मात्रिक भोगों का उपभोग करने में वैसे ही समर्थ होते हैं जैसे कि जनसाधारण अपने स्थूलदेह से बाह्य जगत् में सब भोग-व्यापार करते हैं। 'सूक्ष्म-शरीर' के व्यापार को सर्वसाधारण व्यक्ति तो समझ ही नहीं पाता। यद्यपि उस का सूक्ष्मशरीर भी योगी के सूक्ष्मशरीर के साधारण व्यापार के समान ही कार्य कर रहा होता है, तथापि योगी इस के व्यापार से अवगत होता है। अपने सूक्ष्मशरीर से विशेष कार्य लेने का कर्म तो योगी ही कर पाता है। अब स्पर्श-इन्द्रिय का विज्ञान कीजिए।

४. **स्पर्श-इन्द्रिय**—गीला, सूखा, शीतल, उष्ण, कोमल, कठोर आदि सब स्पर्श मात्र का ज्ञान करना 'त्वचा' का धर्म है। यह 'त्वचा' समस्त देह के ऊपर एवं शरीर के आन्तरिक मार्गों पर भी चढ़ी हुई है और मांस पेशियों में भी सर्वत्र है। यह 'स्पर्श-ज्ञान' भी पूर्व-इन्द्रियों के विज्ञान के अनुसार ही 'त्वचा' में फैले ज्ञानतन्तुओं के द्वारा मस्तिष्कगत 'सूक्ष्म-स्पर्शेन्द्रिय' के केन्द्र को प्रतिबिम्बित करता है। इस से आगे सब व्यापार पूर्वक्त प्रत्यक्षवत् होता है। अतः इसी प्रकार 'स्पर्श' का प्रत्यक्ष करें।

५. **श्रोत्र-इन्द्रिय**—शब्द भी कोमल-कठोर, भला-बुरा होता है। श्रोत्र 'शब्द-मात्र' का ज्ञान कराते हैं। आकाश-मार्ग से दूरदेश वा समीप से आया शब्द 'कर्णशष्कुलि में एकत्रित हो कर कर्ण के अन्दर विद्यमान ढोल पर आघात करता है। इस से आगे ज्ञान-सूत्रों द्वारा पूर्वदृष्ट विज्ञानवत् यह भी हमें प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रकार ये दशों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को 'मन' की सहायता से कैसे ग्रहण करती हैं, 'मन' इन के साथ किस रूप में कितनी शीघ्रता से व्यापार करता है, यह सब आपने जाना, और देखा; किन्तु 'मन' की क्षिप्रकारिता इस दृष्टान्त से अधिक स्पष्ट हो जाती है:—

एक यात्री अपने पैरों से बन में चला जा रहा है। वह यहां के वातावरण के अनुसार शीतलता अथवा उष्णता का अनुभव भी करता जा रहा है। हाथों में कुछ सामान भी पकड़ा हुआ हैं। नेत्रों से वन की शोभा तथा मार्ग भी देखता चलता है। एक हाथ से मुख में कुछ खाद्य पदार्थ डाल कर दांतों से चबाता जाता हैं। साथियों से बातें भी करता चलता हैं। कान, वन्यपक्षियों का गान, साथियों की बातें भी सुन रहे हैं, तथा

वन्य-हिंस्र-पशुओं की आहट भी ले रहे हैं। खिले वनैले पुष्पों की गन्ध भी आ रही है। इस प्रकार इस समय प्रायः सभी ज्ञानेन्द्रियां तथा कुछ कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को करती जा रही है। यहाँ पर 'मन' की दिव्यता प्रकट होती है। देखिए, क्रमशः सब इन्द्रियों से सम्पर्क रखता हुआ प्रत्येक इन्द्रिय से ही उन के पृथक्-पृथक् व्यापार कराता हुआ 'बुद्धि' से सबका निर्णय कराता जा रहा है। और फिर बुद्धि के निर्देशों को पूर्ण तत्परता से प्रत्येक इन्द्रिय से जिस शीघ्रता से पालन कराता जा रहा है इसका अनुमान करना भी सम्भव नहीं बनता। यह सब कर्म चाहे मन के आदान-प्रदान का है अथवा 'बुद्धि' से निर्णय करा कर लेने-देने का, सभी तो क्रमपूर्वक ही हो रहा है। **'एक कालावच्छेदेन'** नहीं; क्योंकि 'मन' एकदेशी, तथा अणुवत् सूक्ष्म है अतः इस का सब कार्य-क्रम क्रमशः तथा नियम से ही होता है। विभु के समान **'एक कालावच्छेदेन'** होता है, यह तो केवल कथन मात्र से ही सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

इस प्रकार 'मनोमय' कोश सम्बन्धी १० इन्द्रियों के साथ 'मन' के होने वाले व्यापार के विज्ञान का व्याख्यान तथा प्रत्यक्षदर्शन दोनों प्रकरण समाप्त होते हैं।

आध्यात्मिकता की आवश्यकता—साधक वृन्द ! जब तक आपने 'योगजदृष्टि' के द्वारा अन्तःप्रवेश करके इस आध्यात्मिक सूक्ष्मजगत् के सूक्ष्मतत्त्व 'मन' 'बुद्धि' 'सूक्ष्म-इन्द्रियों' के दिव्य ज्योतिर्मय-स्वरूपों का, तथा इनके पारस्परिक कर्म-व्यापारों का दर्शन नहीं किया था, तब तक आपको भी इन तत्त्वों की सत्ता के विषय में सम्भवतः इतनी आस्था न होती जितनी कि अब हो गई होगी इसी प्रकार वैचित्र्यपूर्ण इस जगत् में प्रत्येक समय कतिपय ऐसे विद्वान् भी दृष्टिगोचर होते रहते हैं जो कि केवल 'प्रत्यक्षवाद' में ही विश्वास रखते तथा **'अयं लोको नास्ति परं'** (कठो०अ०१।व०२। मं.६।) इस यमोक्ति की मान्यता का प्रचार भी करते आए हैं, और वर्तमान् में भी ऐसे लोग विद्यमान हैं। ऐसी मान्यता रखने वाले भौतिक वैज्ञानिक हों वा नास्तिक,भारतीय हों या विदेशी,सभी'सत्य' और यथार्थता से परे हैं, दूर हैं। यद्यपि वर्तमान कालिक पश्चिमी वैज्ञानिक बड़ी तीव्रता से भौतिक विज्ञान में आश्चर्यकर विकास करते जा रहे हैं,इसमें कुछ भी सन्देह नहीं,उन्होंने इन भौतिक बृहदाकार तथा सूक्ष्म, एवं अति दूरस्थ तथा निकटतम पदार्थों को देखने और उनका विज्ञान प्राप्त करने के लिए अद्भुत भौतिक यन्त्र भी रच डाले है; किन्तु 'आध्यात्मिक पथ में योगियों से बहुत पीछे हैं। जैसे कि शरीरशास्त्र के ज्ञाता वैज्ञानिक भी स्थूलदेह के सम्बन्ध में अत्यधिक जानकारी रखते हुए भी मानव के 'प्राणमय' 'मनोमय' 'विज्ञानमय' तथा 'आनन्दमयकोशों' के विषय में जो कुछ भी जान पाए हैं वह सब कुछ यौगिक दृष्टि से तो नगण्य जैसा ही है। ये सब पदार्थ उस सूक्ष्म जगत् के हैं जिस को न देख पाने के कारण इन पदार्थों में इतनी आस्था नहीं रखते, किन्तु 'आध्यात्मिक विज्ञान' के विज्ञाता योगियों का इस विषय में अपने साक्षात्कार के आधार पर यह निश्चित सिद्धान्त है कि इस दृश्यमान भौतिकजगत् के अतिरिक्त एक 'सूक्ष्मजगत्' भी है, जो भौतिक नहीं है। उस सूक्ष्मजगत् के पदार्थों को इन स्थूलइन्द्रियों तथा भौतिक यन्त्रों से नहीं वरन् वैसे ही 'दिव्य-सूक्ष्मकरणों' के द्वारा ही देखा और जाना जा सकता है। उसी सूक्ष्मजगत् से सम्बन्धित मानवमात्र के 'सूक्ष्मशरीर' तथा 'कारणशरीर' हैं अङ्ग-

प्रत्यङ्गों के साथ इनका प्रत्यक्ष दर्शन 'ध्यानयोग' के द्वारा प्राप्य दिव्यदृष्टि' के द्वारा होता है ।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसासह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमांगतिम् ।"

कठो०अ०२।व०६।मं०१०।

बाह्य साधनों, व्यापारों का जब सर्व प्रकार से निरोध कर दिया जाता है, तब दृश्यमान जगत् से परे सूक्ष्मतत्त्व आत्मा का दर्शन होता है। यह उपनिषद् के मंत्र का भावार्थ है। इसीलिए भौतिक साधन उसके दर्शन में विफल हो रहे है। और 'योग' की शरण लेकर जो भी व्यक्ति चाहे इस 'सूक्ष्मजगत्' के दर्शन ही नहीं वरन् इसका अनुपूर्वीय समस्त विज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। ये पाश्चात्य वैज्ञानिक केवल भौतिक विज्ञान के बल से ही इन आन्तरिक-सूक्ष्मतत्त्वों को जान सकेंगे, ऐसी आशा नहीं है । उन्होंने यदि कुछ जाना भी है तो वह इतना-सा है कि—यह 'मन' अपनी रश्मियों के द्वारा जब 'ज्ञान-वाहक' तथा 'गतिवाहक-सूत्रों' वा नाड़ियों को गतिशील बना देता है तब वे अपने। यन्त्रों से इन गतियों को ही देख तथा माप सकते हैं, इससे अधिक वे कुछ भी नहीं जान पाए हैं किन्तु जो वैज्ञानिक 'सूक्ष्म' तथा 'कारणशरीरों' की सत्ता में मान्यता एवं ,आस्था रखते हैं,आश्चर्य है कि वे भी, इन सूक्ष्मतत्त्वों को देखने तथा जानने के लिए 'स्थूलइन्द्रियों' तथा भौतिकयंत्रों की सहायता से देखना और जानना चाहते हैं, यही उल्टा प्रयास उन्हें सफल नहीं होने देता ।

इति श्रीमदखण्ड ब्रह्मचार्य योगिप्रवर श्रीव्यासदेव महात्मप्रणीते
आत्म-विज्ञाने सु भाषा विभूषिते
मनोमय कोषो नाम तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णः ।

—:०:—

L 9... 32

ॐ

अध्याय : ४

विज्ञानमयकोश

और उसका विज्ञान

पूर्वकथित—विज्ञानप्रधान इस 'बुद्धि' को १६ तत्त्वों के संघातस्वरूप क्रिया-प्रधान 'मनोमयकोश' के साथ मिला देने से १७ तत्त्वों वाला 'विज्ञानमयकोश' अथवा 'सूक्ष्मशरीर' बन जाता है, जो 'ब्रह्मरन्ध्र' में निवास करता है। इस 'विज्ञानमयकोश' किंवा 'सूक्ष्मशरीर' की आभा स्थूलशरीर गत दोनों कोशों में तथा स्थूलदेह से बाहर भी कुछ दूरी तक चतुर्दिक् फैले रहती है। यहां यह भी स्मरणीय है कि 'कारणशरीरगत' चित्त, अहंकार, सूक्ष्मप्राण, तथा 'सूक्ष्मशरीरगत' बुद्धि, मन, और इन्द्रियों की ज्योतियां पंचतन्मात्राओं के प्रकाश से अति सूक्ष्म हैं—दिव्य हैं। अब विज्ञान-साधिका 'बुद्धि' का वर्णन करते हैं।

विज्ञानमयकोश में—ज्ञानात्मक तत्त्व 'बुद्धि' ही मुख्य है। अतएव इस बुद्धि-तत्त्व की महिमा विश्वविख्यात है। बुद्धितत्त्व की महत्ता के विषय में **'बुद्धिर्यस्यबलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतोबलम्', 'सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञानेच परिसमाप्यते', 'सर्वज्ञानप्लवेनैव', 'नहिज्ञानेनसदृशंपवित्रमिह' 'ज्ञानान्मुक्तिः'** इत्यादि नीतिविशारद महानुभावों का अनुभव है, जो सर्वथा सत्य है। हम देखते हैं कि सर्व जगत् पर 'मस्तिष्क' शासन कर रहा है, करता आया है, और भविष्य में भी ज्ञान की ही साम्राज्य रहेगा। 'बुद्धि' की विलक्षणता पशु-पक्षियों में भी झलकती है। पशुओं में अश्व, बन्दर, हस्ती आदि एवं पक्षियों में तोता-मैना आदि विशेष रूप से 'सु-बुद्धि' गिने जाते हैं। यह बुद्धि तत्त्व' 'महत् रज' का कार्य होने से विशेष महत्ता रखता है क्योंकि वस्तुमात्र का प्रकाशक होने से 'महत्‌रज' इहलोक तथा परलोक का प्रदीप एवं ज्ञापक है। भगवती श्रुति-वेदत्रयी की सारभूत ऋचा जो तीनों वेदों में आती है, 'गायत्री-मंत्र' है तथा सर्वोत्कृष्ट वेद ऋग्वेद के प्रारम्भ के प्रथम मंत्र में भी भगवान को ज्ञानस्वरूप मान कर ही स्तुति की है-'अग्नि-मीळे'। भगवान् से अनेक मंत्रों में 'सद्‌बुद्धि' की ही प्रार्थना की गई है। संसार का अन्य कोई ऐश्वर्य इस से अधिक उपयोगी नहीं देखा गया। क्योंकि, अन्य ऐश्वर्य होते हुए भी यदि 'सद्‌बुद्धि' नहीं तो वे कष्टप्रद बन जाते हैं—सुखद नहीं रहते। 'सद्‌बुद्धि' की सहायता से ही सद् असद् का बोध होता है। उस से शुभ कर्म होते हैं। शुभकर्मों से शुक्लधर्म प्रादुर्भूत होता है। उसी से सुख मिलता है। सद्‌बुद्धि के बिना यह मननशील मनुष्य विषयों

का भारवाही बना रहता है। संसार में यत्र-तत्र जो थोड़ी-बहुत शान्ति-सुख आराम दीख पड़ता है, सब 'सु-बुद्धि का ही प्रताप है, अन्यथा यह संसार एक नरक कुण्ड ही दीखता। जगत में यह सांसारिक सद्बुद्धि लोकव्यवहार, नीति, धर्म, शास्त्र आदि में सर्वत्र परिपूजित है, किन्तु इससे अथवा इसकी सहायता से आध्यात्मिकश्रेयपथ में अधिक दूरी तक कार्य नहीं चलता। क्योंकि इस लौकिक बुद्धि में सत्य के साथ असत्य, सद् के साथ असद धर्म के साथ अधर्म, एवं सत्त्वगुण की प्रकाशशीलता के साथ रजस्-तमस् गुणों की मलिनता मिली रहने से यह पूर्ण स्वच्छ नहीं रहती।

सद्बुद्धि—'सद्बुद्धि' के विपरीत, 'दुर्बुद्धि' के विषाक्त-विश्वव्यापी परिणामों का फलस्वरूप कष्ट ही सर्वत्र व्याप्त है। यह सामान्य बुद्धि की बात है कि संसार में 'सु-बुद्धि के बिना 'पूर्णशान्ति' नहीं हो सकती, तब भला दुर्बुद्धि के द्वारा अतीन्द्रिय सूक्ष्म विषयों का विवेचन कैसे हो सकेगा ? वहाँ तो ऐसी बुद्धि की आवश्यकता है जो शतप्रतिशत शुद्ध सत्य को गृहण कर सकने में समर्थ हो।

ऋतम्भराप्रज्ञा'—यह योग दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो विशेष अर्थ का द्योतक है। इस का शब्दार्थ है—**ऋतंसत्यंविभर्ति इति** 'ऋतम्भरा', अर्थात् जिस बुद्धि की विवेचनाशक्ति केवल सत्य को ही ग्रहण करे असत्य के अंशमात्र को ग्रहण न करे, ऐसी ही सर्वश्रेष्ठ बुद्धि की मानवमात्र को आवश्यकता है। इस प्रकार इस त्रिगुणात्मक 'बुद्धि-तत्त्व' में से जब तक रजस्-तमस् के दोष इतनी मात्रा तक नहीं निकल जाते, कि बुद्धि तत्त्व शतप्रतिशत सत्य-ग्राही एवं कुशाग्र हो जाए, तब तक इसका प्रवेश अध्यात्म क्षेत्र में नहीं होता। मनीषिजनों का ऐसा साक्षात्कार है—**'अणुरेष पन्था वततो देवयानः'** अर्थात् यह मार्ग सूक्ष्म है, देवयान के पथिकों ने इसका विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। सर्वशास्त्रों के प्रदीप व प्रकाशक 'योग' ने इस 'बुद्धितत्त्व' को 'ऋतभ्भरा' का रूप देने के लिए इसका क्रियात्मकरूप से अनुमोदन कर के इसे सूक्ष्म- पथ में चलने योग्य बनाने का 'अनुभूत' उपाय भी बतला दिया है। योग का कथन है कि योगाङ्गों के निरन्तर अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय होकर ज्ञान की दीप्ति तब तक होती रहती है जब तक कि 'प्रकृति-पुरुष का विवेक' नहीं हो जाता। अनंतर, योग के अंग समाधि के प्रकारों में से एक विशेष समाधि 'निर्विचार' को दृढ़ता से जो विशिष्ट ज्योति उत्पन्न होने लगती है, उसे अध्यात्मप्रसाद कहते हैं। इस प्रसाद का योग-उक्त नाम 'ऋतम्भराप्रज्ञा' है (योग०१-४८)। यह प्रज्ञा सुने-सुनाए एवं अनुमित ज्ञान की अपेक्षा समस्त पदार्थों के आन्तरिक गुह्यरूप को प्रत्यक्ष कर लेने की विशेष-सामर्थ्य' रखती है और अतीन्द्रिय पदार्थों का भी निर्भ्रान्तिज्ञान-विज्ञान प्राप्त करा देती है। जैसा कि ऊपर हमने अर्थ किया है, यह अपने नाम को सार्थक सिद्ध करती है। अपने ऋतं-भरा रूप सत्य-ग्राही गुण के कारण इसके द्वारा संसार का गुह्यतम विज्ञान 'पुरुष-प्रकृति विभेदक' 'विवेक ख्याति' नामक साक्षात्कार मनुष्य को हो जाता है। जब तक 'बुद्धि' अत्युज्ज्वल बनकर नीर-क्षीर विवेकवती—ऋतमात्र-ग्राही नहीं बन जाती तथा भ्रान्ति में से सत्य को छाँटकर ग्रहण नहीं करा पाती, तब तक मानव को 'विवेक-ख्याति, प्राप्त

24०० – ३०

नहीं होती। इस ऋतम्भरा से कृतप्रत्यक्ष को 'परम प्रत्यक्ष' कहा जाता है, ऐसी ही मान्यता योगियों की है। इस में दूसरा यह भी गुण है-- कि 'ऋतम्भरा' दिव्यज्योति में रजस्तम युक्त अनिष्ट संस्कार स्मृतिरूप से समाधिकाल में न उभर सकते हैं और न बाहर से ही भीतर प्रविष्ट हो सकते हैं। यह दिव्यज्योति प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदार संस्कारों को 'दग्धबीज-कल्प', अर्थात् अंकुरित न होने योग्य बना देती है। यह कितनी बड़ी बात है कि ज्ञानाग्नि से प्रदग्ध संस्कार पुनः अंकुरित नहीं होते, और गीता का भी यही उपदेश है '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि**''**भस्मसात्**, **कुरुते तथा**' गीता-४। ३७।

संयम बल—जो धारणा, ध्यान, समाधि के संयुक्त अनुष्ठान से प्राप्त होता है, ये दोनों ही प्रकाशक दिव्य, सात्त्विक, सूक्ष्मदर्शी हैं एवं संसार की गुप्त, सूक्ष्मतम, अति-दूरस्थभूमिगत वस्तुओं को करतल पर रखे आमलक के समान पदार्थ का प्रत्यक्ष करा देने में समर्थ होती हैं। इन 'प्रज्ञा ज्योतियों' से योगी भूमिगत छिपे संस्कारों तथा प्रकृति के सूक्ष्मतम पूर्वापर, कार्य-कारण रूप सम्बन्धी सब विज्ञान को, यथार्थरूप से प्रत्यक्ष कर लेने में समर्थ हो जाता है। योगी को जब इन प्रकाशों की उपलब्धि हो जाती है तब वह धोखा नहीं खाता। केवल इतना ही नहीं, वरन् वह तो सात्त्विक-प्रतिभा की सहायता से अनिष्टों का निवारण करके एक के पश्चात् दूसरी यौगिक उच्चभूमियों को लाँघता हुआ परम वैराग्य के उच्चतम स्थिर-शिखर पर आ खड़ा होता है। क्योंकि संयम-जय से प्राप्त 'प्रज्ञाऽऽलोक' प्रकाश योगी को अज्ञानग्रस्त एवं पथभ्रष्ट नहीं होने देता। यहाँ पर एक तर्क उपस्थित होता है कि—

अनिष्ट निवारण क्या न्याय संगत है?—क्योंकि विज्ञसमाज का अधिकांश भाग तो ऐसी ही श्रद्धा रखता है कि इष्ट-अनिष्ट कर्म फलों का दाता तो ईश्वर है। जब योगी अपनी शक्ति से अनिष्टों का निवारण आदि कार्य स्वयं ही कर ले तब क्या ईश्वरीय न्याय में हस्ताक्षेप कर के वह उचित कार्य करता है? इस का समाधान यह है कि नेत्रोंवत् अतिकोमल एवं तपः पूत अतिनिर्मल तथा सम्वेदनशील बने—निज चित्त में लेशमात्र राजस्-तामस् की लाग भी योगी को व्यथित कर देती है और इन की यत्किंचित् भी विद्यमानता योगी को स्वरूपस्थ नहीं होने देती। इसलिए योगी राजस्-तामस् रूप मलिनता को अपनी वैराग्य-धारा से बहा कर चित्त से बाहर फेंक देता है। तब अन्तःकरणस्थ ज्ञानाग्नि रजस-तमस्-मयी वासनाओं के इन दागों को भी दग्ध कर देती है। यह कर्म ऐसा ही होता है जैसे हम अपने पैर में चुभे काँटे को अथवा नेत्र में आ पड़े रजः-कण को निकाल कर फेंक देते हैं, और ये कृत्य ईश्वरीय विधान के अनुकूल ही है। भावी कष्टों से बचने का उपाय कर लेना न्याय संगत एवं ईश्वरीय विधान के भी अनुकूल ही है, तथा ईश्वरीय आज्ञा का सम्यक् परिपालन भी है। क्योंकि संसार के सभी महान् पुरुषों ने '**हेयं दुःखमनागतम्**' योग०पा० २। सू० ६। अर्थात् भावी दुःख से बचने का उपाय कर लेने के योग के इस आदेश का अनुमोदन किया है. जो स्वतः प्रमाण श्रुति-सम्मत है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि सत्त्व-आप्लावित बुद्धि, '**ऋतम्भरा प्रज्ञा**' अथवा

इस के साथ के 'प्रज्ञाऽऽलोक' आदि नाम का आलोक दोषबीजों को दग्ध करके विज्ञान से परितृप्त करते हुए योगी को मोक्ष के द्वार पर पहुँचा देती है। यह महती-महिमा 'परम सात्त्विकी बुद्धि' की है। इस की संज्ञा कुछ भी रख लो, कार्य में भेद नहीं पड़ता। 'प्रतिभाद्वा सर्वम्' योग०पा०३। सू०३३। यह सूत्र इस कथन का अनुमोदक है। अब आप विवेकदात्री बुद्धि की सहायता से अपने 'दिव्यनेत्र' के द्वारा पंचमहाभूतों के दर्शन और तत्सम्बद्ध विज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न कीजिए। इस प्रत्यक्षीकरण का क्रम भी मनोमय-कोशगत 'गन्ध-प्रत्यक्ष' की प्रक्रिया के सदृश ही है, जिसे आप प्रत्यक्ष कर आये हैं।

साक्षात्कार दिव्यनेत्र से होता है—बीज-संस्कार-वासना के रूप में प्रत्येक जिज्ञासा मानव-चित्त में पड़ी रहती है और स्मृति के रूप में जाग कर 'अहंकार के आश्रय से 'बुद्धिमण्डल' में आकर विकसित होती है। तब यह बुद्धि ही 'मनोमण्डल' को प्रेरित करती है और यह 'मन' स्थूलभूत पृथ्वी को प्रत्यक्ष करने के लिये 'दिव्यनेत्र' को नियोजित करता है। स्थूल व सूक्ष्म पदार्थों का प्रत्यक्ष-विज्ञान कराने में जिस प्रकार सूक्ष्म दिव्य नेत्रेन्द्रिय समर्थ हैं उसी प्रकार अन्य श्रोत्र, त्वचादि सूक्ष्म-दिव्येन्द्रियाँ भी स्थूल व सूक्ष्म पदार्थों का प्रत्यक्ष विज्ञान कराने में समर्थ होती हैं। मनः प्रेरित यह 'दिव्यनेत्र' ही अपनी रश्मियों को पृथ्वी केगर्भ तक पहुँचाकर वहाँ के सब पदार्थों का अवलोकन कराते हैं कि यहाँ पर अमुक पदार्थ अमुक मात्रा में विद्यमान हैं। उन पदार्थों के रंग-रूप एवं सम्मिश्रण के अनुपात आदि की सूचना मन के द्वारा बुद्धि को अविलम्ब पहुँचती रहती है और 'बुद्धि' उसी क्षण अपना निर्णय देती रहती है। इस प्रकार 'मनोमय' तथा 'विज्ञान मय'कोशों का संघात यह 'सूक्ष्मशरीर' ही 'दिव्यदर्शन' 'दिव्यश्रवण' आदि के सब कार्य-सम्पन्न करता है, क्योंकि यह स्वयं भी दिव्य तथा पारदर्शी है। इसकी 'दिव्य इन्द्रियों' की दिव्य-सूक्ष्म रश्मियाँ समीप तथा दूरतम प्रदेश तक जाने, कठिनतम तथा कोमलतम पदार्थ में प्रविष्ट होने तथा छिपे-गुप्त पदार्थ को प्रत्यक्ष कर लेने में समर्थ हैं। विभूतिपाद के सूत्र ४५ के भाष्य में लिखा है कि—**'तत्र अणिमा भवति'**। उसमें अणु इत्यादि का अर्थ यह है कि भूतजयी सिद्ध-योगी अपने संकल्पबल से अति छोटा या अति भारी या हल्का हो जाता है। इस विवरण से यह तथ्य स्पष्ट तथा पुष्ट हो जाता है कि ये अलौकिक कार्य मानव का 'सूक्ष्मशरीर' ही करता है। जैसे, रवि रश्मियां स्वच्छ श्वेत शीशे को पार कर जाती हैं, वैसे ही हमारे 'सूक्ष्मशरीर' की ज्ञान वाहक रश्मियां प्रत्येक पदार्थ का भेदन कर लेती हैं। क्यों कि 'दिव्यनेत्र' -दिव्यश्रोत्र' आदि इसी के अंग हैं इसलिये इन की रश्मियां भी सब कुछ दिखाने-सुनाने आदि में समर्थ हैं। इन्हीं 'दिव्यनेत्रों' से योगी सभी पदार्थों, सब भूतों एवं जातमात्र वस्तु में होने वाले विकारों, परिवर्तनों तथा परिणामों की गति और क्रियाओं को प्रत्यक्षतः देखता और समझता है। जैसे कि भौतिक वैज्ञानिक अणुवीक्षणयंत्र की सहायता से सूक्ष्म अणुपरीक्षण करता हुआ कीटाणुओं का परस्पर विभेद देखता तथा उनकी प्रत्येक क्रिया को परिलक्षित कर लेता है। इतना ही नहीं, भूतजयी योगी तो भौतिक पदार्थो' से अधिकारपूर्वक,यथेच्छ कार्य लेकर अलौकिक पदार्थों का निर्माण भी कर सकता है। योग, ३-४४ सूत्र में इसका प्रकार यह बतलाया है कि—**"स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्म-अन्वय-अर्थत्त्वसंयमाद् भूतजयः"** अर्थात्, प्रत्येक भूत के सूत्र कथित ५ रूप होते हैं। इनमें क्रमशः 'संयम करने से भूतों पर योगी को प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है।

यही 'भूतजय' अवस्था है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पंच महाभूत हैं। इनमें से प्रत्येक भूत की उपरिकथित ५ ही अवस्थाएँ होती हैं—१—स्थूल अवस्था—जिसको हम नाम-रूप के द्वारा अपनी स्थूलइन्द्रियों से प्रत्यक्ष कर लेते हैं। अर्थात् इन भूतों का इन्द्रियगोचर रूप जो हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के रूप में अनुभव वा प्रत्यक्ष करते हैं,यह स्थूल अवस्था है। २—स्वरूप-अवस्था—इनके लक्षण ही इनकी स्वरूपावस्था है। जैसे, पृथ्वी की मूर्तिमत्ता, जल की आर्द्रता या तरलता, अग्नि की उष्णता तथा प्रकाश वायु की गतिमत्ता तथा कम्पन, आकाश का अवकाशदान। इनके अपने-अपने गुणों से प्रत्येक की भिन्नसत्ता लक्षित होती है। सत्ता को लक्षित कराने वाला गुण ही लक्षण कहाता है। ३—सूक्ष्म अवस्था—इन भूतों की पंचतन्मात्रिक रूप 'कारण अवस्था', जैसे कि पृथ्वी का गन्ध-तन्मात्ररूप,जल का रसतन्मात्ररूप, अग्नि का रूपतन्मात्ररूप,तथा वायु का स्पर्शतन्मात्ररूप, और आकाश का शब्दतन्मात्ररूप—इन सब की सूक्ष्म अवस्था है। ४—अन्वय-अवस्था—इन पंचमहाभूतों के साथ सदा रहने वाला त्रिगुण का स्वभाव—प्रकाश क्रिया, स्थितिशीलता सब में अनुगत है—आया हुआ है, यही इन सब की 'अन्वय' अवस्था कहलाती है। ५—अर्थवत्त्व-अवस्था—ये पांचों महाभूत पुरुषमात्र के भोग के लिए तथा मोक्ष के लिए उत्पन्न किए गए हैं। यह प्रयोजन सिद्ध करना ही पंचमहाभूतों की अर्थवत्ता है या सार्थकता है।

यह उपरिकथित समस्त विज्ञान 'संप्रज्ञात' समाधि के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष भी इन भूतों के स्थूल तथा कारणीभूत-पंचतन्मात्रिक परमाणुओं का ही होता है। परमाणुमात्र में व्याप्त होकर सब परमाणुओं को एवं समस्त जगत् को क्रियाशील बनाने वाली उस महतीसता का भी प्रत्यक्ष नहीं होने पाता, वरन् अनुमान ही होता है इस भौतिकविज्ञान मात्र की प्राप्ति से योगी की 'समाधिप्रज्ञा' इतनी सूक्ष्म नहीं बनने पाती कि जो सबके अन्दर व्याप्त सर्वप्रेरक अन्तःसत्ता का दर्शन करा सके। इतना अवश्य है कि विज्ञान की इस स्थिति में पहुँचकर योगी को भूतों के स्वरूपों को प्रत्यक्ष कर लेने की योग्यता तो अवश्य प्राप्त हो जाती है, और 'संयमजय' की सिद्धि प्राप्त कर लेने पर विभिन्न पदार्थों का निर्माण करके वह इन भूतों को स्वेच्छानुसार अपने काम अथवा भोग सम्पादनार्थ उपयोग में ला सकता है। क्रमशः स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हुए और भूतों के सूक्ष्मतम विज्ञान का सम्पादन करते हुए जब-तत्त्व ज्ञान रूप 'विवेक-ख्याति' का उदय होता है तब इस 'तत्त्व ज्ञान' से भ परम वैराग्य की उत्पत्ति हा कर हम अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं।

साक्षात् करने योग्य 'पंचमहाभूतों' का स्वरूप—पंचमहाभूतों का प्रत्यक्षज्ञान 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमय' कोशों के द्वारा निम्नक्रम से किया जाता है। यहाँ यह याद रक्खें कि क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ बनते जाते हैं; और अगले स्थूल पदार्थ में पहले सूक्ष्मतत्त्व भी 'कारणरूप' से विद्यमान रहते हैं। जैसे कि तमःप्रधानतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम में पंचतन्मात्रिक परमाणुओं द्वारा पंचमहाभूतों की उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है।

प्रथम क्रम—आकाश उत्पन्न होता है । आकाश का प्रादुर्भाव होता है । आकाश महाभूत में केवल आकाश तन्मात्रिक परमाणु होते हैं और स्थूल होने के कारण शेष सब भूतों का जो आगे उत्पन्न होंगे, इसमें अंश नहीं होता । २—वायु महाभूत में वायु-तन्मात्रा के परमाणुओं के साथ आकाशतन्मात्रा के परमाणु भी विद्यमान रहते हैं. । ३—अग्निमहाभूत में अग्नितन्मात्रा के परमाणुओं के साथ पूर्वोक्त वायवीयतन्मात्रा तथा आकाशीयतन्मात्राओं के परमाणु भी विद्यमान रहते हैं । ४—जल महाभूत में जलीय तन्मात्राओं के साथ आकाशीय, वायवीय, आग्नेय, तन्मात्राओं के परमाणु भी विद्यमान रहते हैं । ५—पृथिवी महाभूत में पार्थिव तन्मात्रा के साथ क्रमशः जल, अग्नि, वायु, आकाश के तन्मात्रिक परमाणु भी वर्तमान रहते हैं ।

द्वितीय क्रम—जब दो परमाणु संघात को प्राप्त होते हैं तब एक अणु बनता है । जब दो अणु संघात को प्राप्त होते हैं, तब एक द्व्यणुक बनता है । जब दो द्व्यणुक संघात को प्राप्त होते हैं तब एक त्र्यणुक बनता है । जब दो त्र्यणुक संघात को प्राप्त होते हैं तब एक चतुरणुक । इसी प्रकार जब दो चतुरणुक संघात को प्राप्त होते हैं तब एक पञ्चाणुक बनता है । फिर छोटे-छोटे असंख्य खण्ड बनकर और संघात को प्राप्त होकर स्थूल महाभूतों की सृष्टि के निर्माण में सहायता करते हैं ।

तृतीय क्रम—जब आकाश के दो परमाणु संयोग को प्राप्त होते हैं, तब उस संयोग की एक दृश्यमान आकाशीय संज्ञा होती है, जब आकाश के दो परमाणु और वायु के दो परमाणु संयोग को प्राप्त होते हैं, तब एक दृश्यमान वायवीय संज्ञा को प्राप्त होते हैं । जब आकाश, वायु और अग्नि प्रत्येक के दो-दो परमाणु संयोग को प्राप्त हों, तब एक दृश्यमान आग्नेय संज्ञा को प्राप्त होते हैं । जब आकाश के दो,वायु के दो,अग्नि के दो और जल के दो परमाणु संयोग को प्राप्त होते हैं तब एक दृश्यमान जलीय संज्ञा को प्राप्त होते हैं । पुनः जब आकाश के दो, वायु के दो, अग्नि के दो, जल के दो और पृथ्वी के दो परमाणु संयोग को प्राप्त होते हैं तब एक दृश्यमान पृथ्वी भूत की संज्ञा को प्राप्त होते हैं । फिर छोटे-छोटे असंख्य खण्ड संयोग को प्राप्त होकर स्थूल पञ्चमहाभूतों का निर्माण करते हैं । इसलिये उत्तरोत्तर भूत में एक, दो, तीन, चार पाञ्च शब्दादि गुणों का क्रमशः समावेश होता है ।

चतुर्थ क्रम—जब ६० परमाणु संघात को प्राप्त होते हैं तब आकाशभूत की दृश्मान संज्ञा होती है, और जब आकाश के ६० और वायु के ६० परमाणु संघात को प्राप्त होते हैं, तब एक वायुभूत की दृश्मान संज्ञा को प्राप्त होते हैं । जब आकाश के ६०, वायु के ६० और अग्नि के ६० परमाणु संघात को प्राप्त होते हैं तब अग्नि भूत की दृश्यमान संज्ञा होती है । जब आकाश के ६०, वायु के ६०, अग्नि के ६० और जल के ६० परमाणु संयोग को प्राप्त होते हैं तब जलभूत की दृश्मान संज्ञा को प्राप्त होते हैं । जब आकाश के ६०, वायु के ६०, अग्नि के ६०, जल के ६० और पृथ्वी के ६० परमाणु संयोग को प्राप्त होते हैं तब पृथ्वीभूत की दृश्यमान संज्ञा को प्राप्त होते हैं ।। फिर छोटे-छोटे असंख्यखण्ड संघात को प्राप्त होकर स्थूल पंचमहाभूतों का निर्माण करते हैं ।

पाँचवां क्रम—आकाश के ६० परमाणुओं एक अणु बनता है, ६०+६०=१२० परमाणुओं का एक द्व्यणुक बनता है। १२०+१२०=२४० परमाणुओं का एक त्र्यणुको बनया है। २४०+२४०=४८० परमाणुओं का एक चतुरणुक बनता है तथा ४८०+४८०=९६० परमाणुओं का एक पञ्चाणुक बनता है।

भूतों की उत्पत्ति के उपरोक्त क्रम शास्त्रों में देखे गये मेंहैं। सभी क्रमों में आकाश में शब्द, वायु में शब्द तथा स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप एवं जल में शब्द, स्पर्श रूप तथा रस चार गुण विद्यमान हैं। पंचमभूत पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध सहित पाँचों गुण विद्यमान रहते है। एक गुण वाला आकाश, दो गुण वाली वायु, तीन गुणों से युक्त अग्नि, चार गुणों वाला जल तथा पाँचों गुणों वाली पृथ्वी इस प्रकार की व्यवस्था सृष्टि रचना के सभी क्रमों में समान ही है। यह विषय विशेषरूप से स्मरणीय है।

अब आप ध्यान योग के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित होकर प्रथम पृथ्वी महाभूत का प्रत्यक्ष करें:—

१. पृथ्वी महाभूत—अब समाहित होकर, 'बुद्धि' के द्वारा 'मन' को आज्ञा दीजिए कि वह 'दिव्यनेत्र' द्वारा असंख्य 'परमाणुओं' के रूप में संघात को प्राप्त हुई तथा स्थूलाकार बनी पृथ्वी में प्रविष्ट होकर देखे, और इस में होने वाले परिणमों को देखता चला जाय, कि यह स्थूल आकार वाली सर्वभोग्या पृथ्वी जो पहले-पहल 'परमाणुओं' के रूप में थी, पश्चात् किन-किन परिणामों के क्रम से परिवर्तित होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुई है। जब असंख्य 'परमाणु' संघात को प्राप्त होते हैं तब यह पृथ्वी 'स्थूल आकार भाव' को प्राप्त होती है। जब इस का 'आकार' या स्वरूप कुछ-कुछ बन जाता है तब इसमें दूसरा 'गुरुत्व' भारीपन धर्म पैदा हो जाता है। फिर परिणामक्रम से इसमें 'रूक्षता' रूप तीसरा गुण प्रकट होता है। क्योंकि उस काल में जल का सम्मिश्रण कम होने एवं स्नेह धर्म के अभाव में रूखापन रहता है और इस पृथ्वी का यह परिणामक्रम चलता ही रहता है। जब तक यह पृथ्वी प्राणि मात्र के आवास एवं भोगने योग्य नहीं बन जाती। इसके पश्चात् चौथा 'आच्छादन' रूप गुण पैदा होजाता है और इसमें अपने अन्दर अनेक सूक्ष्मद्रव्यों को धारण करने की योग्यता हो जाती है। तत्पश्चात् इस भूमि में 'स्थिरता' रूप धर्म आ जाता है और यह आधाररूप बन जाती है। तदनन्तर इसमें 'विदारण' रूप गुण पैदा होता है अथवा-भेदन करने का गुण प्रकट हो जाता है, क्योंकि अब सर्व प्राणियों को इसके ऊपर वास करना है। अतः प्राणियों के वास करने के लिए किसी पदार्थ का कड़ा होना आवश्यक है। इसलिए भूमि में 'कठोरता' तथा जल के अभाव से सिकुड़न आ जाती है। क्योंकि अग्नि के संयोग से पाकजधर्म के द्वारा ही भूमि कठोर बनती है। तभी इस पर प्राणी निवास करते हैं। पाकजधर्म से उत्पन्न उष्णता जब दीर्घ काल के पश्चात् क्रमशः शान्त होती है उस समय इस में 'क्षमारूप' सहनशीलता उत्पन्न हो जाने के कारण प्राणियों का प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि अब यह उपजाऊ बन कर 'सर्वभोग्या' बन जाती है। इस प्रकार योगी को चाहिए कि जब सर्वप्रथम भूमि के

'कारणरूप' परमाणुओं में संयोग होकर परिणाम पैदा होता है, और इस परिणामक्रम में निरन्तर एक के पश्चात् दूसरा गुण वा धर्म उत्पन्न होता जाता है तब इसकी ओर विशेष ध्यान दे तथा अपनी 'दिव्यदृष्टि' से साक्षात् करता चले। यह परिणामक्रम पृथ्वी महाभूत में सदा ही होता रहता है—'कार्य' से 'कारण' रूप में और 'कारण' से 'कार्य' रूप में। इस को प्रवाहनित्यता अथवा क्रमनित्यता कहते हैं।

ये सब धर्म देश, काल के साथ जैसे, उत्पन्न होते चले जाते हैं उसी क्रम से इन का नाश भी होने लगता है। अतः उत्पत्ति के अनन्तर होने वाले विनाश को भी साक्षात् करें। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति प्रलय क्रम में पार्थिवतत्त्व की स्थितियों को प्रत्यक्ष करें जिस से सभी महाभूतों के धर्म, लक्षण, तथा अवस्थापरिणामों का भी इसी के क्रम के साथ प्रत्यक्ष होता जावे। अन्य भूतों की भांति पृथ्वी भी त्रिगुणात्मक हैं। ❀चित्र संख्या १४ देखें—पृथ्वीतत्त्व के सात्त्विक आदि तीनों प्रकार के रूपों का प्रत्यक्ष इस से उत्पन्न होने वाले पदार्थों में करें। इस से इस की 'कारणरूप' अवस्था का ज्ञान होगा। साथ ही यदि योगी की इच्छा हो तो वह अपने 'संयम बल' से यत्र-तत्र पड़े भूमि के गर्भ में अनेकानेक स्वर्ण, रजत, माणिक आदि खनिज पदार्थों को देख कर ग्रहण करके उन्हें उपयोग में भी ला सकता है, और स्वयं भी इनका निर्माण कर सकता है, किन्तु इस विज्ञान की प्राप्ति का उद्देश्य तथा परम लक्ष्य यही है कि इन अनात्मतत्त्वों का ज्ञानपूर्वक त्याग करते हुए, वैराग्य के द्वारा आत्मतत्त्व प्राप्त करे, और 'आत्मसाक्षात्कार' के द्वारा दुःखरूपी कण्टक को अति दीर्घ काल के लिए निर्मूल कर दे। इन पंचमहाभूतों के संघात से बने मोहक पदार्थों से वैराग्य तभी होता है जब कि हम इन के 'कारणभूत' तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप देख लेते हैं। इस वास्तविक दर्शन से इनके सभी गुण-दोषों को सन्मुख रख कर के आत्मसाक्षात्कार में हम इन्हें बाधक जान लेते हैं। ऐसा होने पर इन्हें त्यागते हुए कष्ट नहीं अपितु हर्ष होता है।

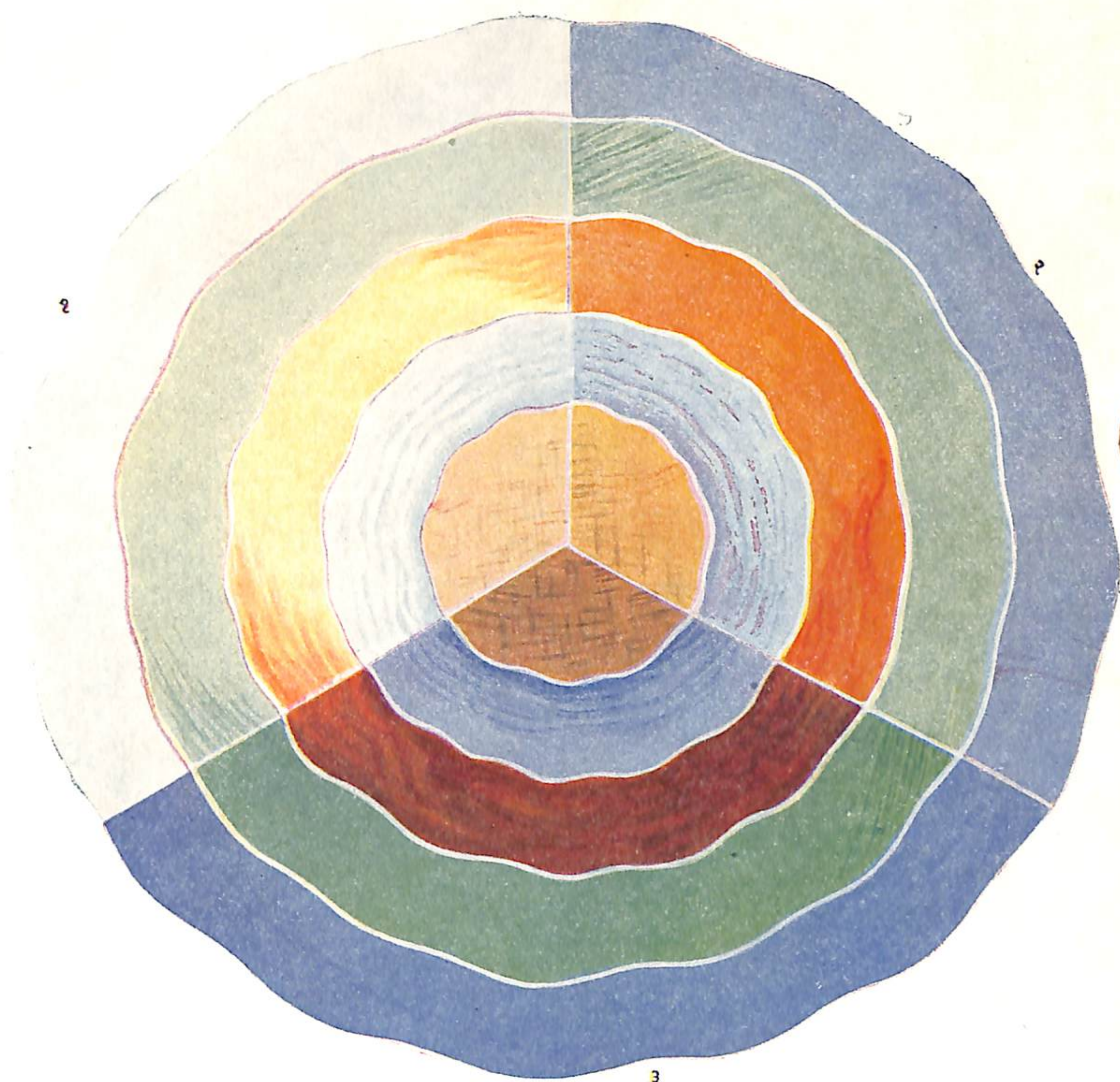
उपरोक्त दर्शन केवल हमारी इस पृथ्वी का ही नहीं है वरन् ब्रह्माण्ड के अनन्त लोकों के उपादानकारण 'पृथ्वीमहाभूत' का दर्शन है। ब्रह्माण्डगत लोक-लोकान्तरों में हमारी पृथ्वी भी एक लोक है जो उस कारण भूत पृथ्वी का 'कार्य' है। हमारे इस पृथ्वी मण्डल के चतुर्दिक्—७ परिधियाँ अथवा सात आवरण हैं जो इस पृथ्वी को अन्य लोकों से पृथक् करते हैं और दूसरे लोकों की परिधि में नहीं जाने देते। उन आवरणों के नाम ये हैं—१. समुद्र, २. त्रसरेण रूप वायु महाभूत का मण्डल, ३. मेघमाला का मण्डल, ४. 'वृष्टिजल-कणों' का कोश, ५. इन वृष्टिजल कणों को संगठित करके रखने वाला एक अन्य प्रकार की गैसविशेष का आवरण, ६. धनंजय नामक अति सूक्ष्म वायु जो एक

❀ चित्र संख्या १४ का विवरण—पंचमहाभूतों के त्रिगुणात्मक रंगरूपों का साक्षात्कार:—

१. पंचमहाभूतों का क्रम से (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) सात्विक रंग रूपों का दर्शन।

२. पंचमहाभूतों का क्रम से (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) राजसिक रंग-रूपों का दर्शन।

३. पंचमहाभूतों का क्रम से (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) तामसिक रंगरूपों का दर्शन।



14

चित्र संख्या १४
पंच महाभूतों के त्रिगुणात्मक रंग रूप

गैस के रूप में है तथा इसमें प्राणतत्त्व का आहार कम होने से प्राणी इस में आ कर मर जाता है, और अन्तिम मण्डल, ७. 'सूत्रात्मा वायु' का है, जिस से ये सब मण्डल आकर्षित संगठित हैं। यह अति सूक्ष्म है। ये सातों मण्डल प्रत्येक लोक के चतुर्दिक रह कर प्रत्येक लोक को पृथक और गतिशील रखते हैं।

देह-निर्माण—आप यह स्मरण रखिए कि पृथ्वी महाभूत के सात्त्विक अंश से देवताओं, कुछ न्यून सत्त्वांश से मानव-देहों फिर इसी क्रम से पशु-पक्षी आदि के शरीरों की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त अन्य भूतों के सात्त्विक अंश सहकारी हो कर देह की पूर्णता करते हैं। अस्थि, मांस, चर्म, नख, केश, लोम, आदि पदार्थ इसी पार्थिव-तत्त्व से उत्पन्न होते हैं। यह तत्त्व देह में अन्य सब भूतों की अपेक्षा अधिक है और पृथ्वी में गुरुत्व अधिक होने से इस से निर्मित पदार्थ भी भारी होते हैं।

राजस पृथ्वी—से स्वर्ण, रजत, पारद आदि तैजस धातुओं का निर्माण होता है। इन में हीरे पन्ने-लाल आदि मणियाँ और संखियाँ सम्मिलत है।

तामस पृथ्वी से :—मिट्टी-रेत, पाषण आदि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पृथ्वी महाभूत के सात्त्विक, राजस, तामस भागों से उत्पन्न होने वाले पदार्थ अनन्त हैं।

२. **जल-महाभूत**—पूर्ववत् रसतन्मात्रा के जब अनन्त 'परमाणु' संघात को प्राप्त होते हैं तब इन में 'स्निग्धता' झलकती है। इसीलिए जल के परमाणु पृथ्वी के परमाणुओं को संगठित कर देते हैं और अपने 'सूक्ष्मता' गुण के कारण इनमें व्याप्त होजाते हैं। फिर इन में एक 'चमक' प्रतीत होती है जो 'शुक्लवर्ण' की होती है। स्पर्श में ये 'मृदु' होते हैं। पृथ्वी के परमाणुओं के समान कठोर नहीं होते। ये गुण इन में धीरे-धीरे आते वा प्रादुर्भूत हो कर प्रकट होते हैं। पश्चात् इन में भारीपन वा 'गुरुत्व' धर्म उत्पन्न होता है तथा स्पर्श में 'शीतलता' प्रतीत होती है। वस्तुतः जल में विशेष शीतलता वायु तथा विशेष उष्णता अग्नि के सम्पर्क से आ जाती है। इसके पश्चात् इसमें 'रक्षा' करने का गुण प्रकट होता है, जिससे सब प्राणी अपनी पिपासा बुझा कर प्राण रक्षा करते हैं। प्रत्येक को स्वच्छ बना देने का 'पवित्रत्व' गुण भी प्रकट हो जाता है, और फिर पार्थिव परमाणुओं को परस्पर जोड़ देने की शक्ति 'सन्धान' उत्पन्न होती है। इस प्रकार जल के सब गुणों को योगी 'कारण' से 'कार्य' पर्यन्त क्रमशः परिणत होते हुए प्रत्यक्ष करे। पृथ्वी महाभूत के समान ही जल की महान् राशि समुद्र में, पृथ्वी के अन्दर बहते हुए जलस्रोतों के रूप में, मेघादि के रूप में विद्यमान आकाशमण्डल में तथा यत्र-तत्र सभी परमाणुओं को संगठित किए हुए प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान 'जल' को अपनी 'दिव्यदृष्टि से प्रत्यक्ष करे। देखे कि वहाँ सर्वत्र परमाणुओं के रूप में जल विद्यमान है जो कि' प्रत्येक पदार्थ को संगठित किए है। इन जलकणों ने विश्व के समस्त लोकों तथा लोकों में विद्यमान प्रत्येक पदार्थ को संगठित किया हुआ है। फिर जल के रस-गुण के ६ प्रकारों को देखे कि मधुर, लवण, कटु, अम्ल, तिक्त, कषाय आदि कैसे बने? यह विषय अति सूक्ष्म है। इस के आगे 'जल' के सात्विक-राजस आदि भेदों को जाने—प्रत्यक्ष करे तथा अन्यत्र जल के रूपों का प्रत्यक्ष करे कि जल किस अंश से क्या बना है?

देह-निर्माण में—देह-धारियों की देह रचना में 'सात्त्विक जल' सहकारी उपादान कारण के रूप में रक्तादि में मिश्रित है। देह में पार्थिव तत्त्वों का संगठन इसी की सहायता से होता है अन्यथा देह विचूर्ण होकर गिर जाए। इसी सात्त्विक रस से परिणत हो कर रस, रक्त, वीर्य बनते हैं। इसी से देह में लचक, तरलता, कोमलता, स्निग्धता, लावण्य, सुकुमारता, पुष्टि, श्लेष्मा की उत्पत्ति होती है। सब शारीरिक धातुओं की वृद्धि इसी से होती है। 'रजःप्रधान' जल किस प्रकार अन्तरिक्ष में वाष्प, ओले, मेघों के रूप में, तथा लोक-लोकान्तरों के निर्माण में सहकारी बन कर विद्यमान है और वायु में शीतलता सरलता, स्निग्धता उत्पन्न करता है। तमःप्रधान जलः जो समुद्रों में भरा है और नद-नदियों तथा प्रपातों और स्रोतों के रूप में बह रहा है वह भूमि के परमाणु अणु, द्व्यणुक, त्र्यणुक चतुरणुक पंचाणुक इत्यादिक कणों के संघात में उपादान कारण के रूप में सहकारी है। तेलों के रूप में भूगर्भ में बहता तथा अग्नि के द्वारा होने वाले पदार्थों के पाक में सहायक बनता है एवं लोक-निर्माण में सहायक है।

वह इस रूप में कैसे परिणत हो गया, इत्यादि जल के रूपों को पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष में सर्वत्र ही प्रत्यक्ष करें। यद्यपि जल में भी व्याप्त उस परम सत्ता का दर्शन नहीं होता; किन्तु 'समाधिप्रज्ञा' की दीप्ति क्रमशः बढ़ती जाती है जो अन्तिम लक्ष्य 'आत्मसाक्षात्कार' तक आप को ले जायेगी। आत्मचेतना की उपलब्धि इन अनात्म-तत्त्वों में नहीं होती; किन्तु कर्त्ता की रचना विचित्रता की उपलब्धि होती है, यह स्मरण रखिए। इस प्रकार भूतों के साक्षात्कार से क्रमशः निरन्तर सूक्ष्मता तथा महत्ता की ओर निःसन्देह बढ़ते जाना अभिप्रेत है। अब आगे तीसरे महाभूत 'अग्नि' का विज्ञान प्राप्त कीजिए।

३. अग्नि-महाभूत—समाहित होकर पूर्ववत् प्रकार से देखिए कि ये अनन्त परमाणु संघात को प्राप्त होकर जब 'अग्नि-महाभूत' को उत्पन्न करते हैं, तब इस में क्रम पूर्वक एक के पश्चात् दूसरा गुण उत्पन्न होता चला जाता है। अब संगठित हुए इस परमाणु-समुदाय में 'लघुता'—हल्केपन के कारण से 'ऊर्ध्वगमन' धर्म पैदा होता है। साथ ही 'दाह' गुण के कारण 'पाकजधर्म' भी प्रकट हो जाता है। दाह का अभिप्राय है किसी वस्तु को भस्म कर देना; एवं 'पाक' का अर्थ है भोजन-रोटी, दाल, शाकादि को पकाकर भोजन के रूप में बना देना। 'दाह' वा 'ताप' के साथ इस में 'प्रकाश' प्रादुर्भूत होताहै, जो वस्तुमात्र के दर्शन का हेतु है। ताप का एक गुण यह भी है कि वह संगठित अणु-परमाणुओं का भेदन-छेदन कर देने में समर्थ होता है—फाड़ देता है जिसे 'विघटित' करना कहते हैं। प्रकाश में जो चमक उत्पन्न होती है; वह मनुष्यों के चेहरों पर ओज और तेज के 'रूप' में प्रतीत होती है। वह अग्नि के गुण के कारण सब में आया हुआ है। प्रत्येक में प्रविष्ट हो जाने वाला तीक्ष्णता रूप गुण का दर्शन भी अपनी 'दिव्य दृष्टि' से करें इस दर्शन में आप को 'अग्नि-महाभूत' के कारण रूप 'पंच-तन्मात्राओं' के परमाणुओं से लेकर कार्य-रूप में दृश्यमान 'अग्नि' के सब परिणामों का क्रमशः विज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। **'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं-रूपं प्रति-**

रूपा बभूव' कठो० अ० २/व० ५/ म०९—इस तथ्य को प्रत्यक्षपूर्वक जान लेना चाहिए। और देखिये कि प्रत्येक पदार्थ-व्यापी वह्नि अपना विशेष रूप तथा विशेष गुण रखती है। जैसे—

देह-निर्माण में—अग्नि का सात्त्विक भाग जीवन का आधार स्तम्भ है।

सात्विक अग्नि—'जठराग्नि' के रूप में विद्यमान होकर समस्त आहार का परिपाक करके विभिन्न प्रकार के रसों तथा धातुओं को बनाता है। देहों में ऊष्मा उत्पन्न करता और शेष भूतों का सहकारी बन कर जीवन का आधार बना हुआ है। यह देह में कैसे 'प्रियरूप' में विद्यमान है? देहस्थ अग्नि और बाह्य अग्नि में यह अन्तर कैसे आ गया है? वह देहस्थ अग्नि विद्युत् के रूप में देहों में रहती हुई भी देहों को भस्म न कर इसके विपरीत देहों का पालन-पोषण कैसे कर रही है? देहगत ताप-परिमाण की निश्चित मात्रा के घट-बढ़ जाने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, और जीवन-मरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह 'अग्नि महाभूत' जड़ात्मक पाषाणादि तथा चेतन-शरीरधारियों—दोनों का उपादान कारण के रूप में सहकारी बना हुआ है। वायु के समान यह भी जीवन का आधार-स्तम्भ है।

राजस-अग्नि—विद्युत् के रूप में भूमि, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में व्याप्त है, तथा सब पदार्थों में निहित हो कर निर्माण तथा विनाश दोनों विपरीत कर्म कर रही है। यह कैसा आश्चर्यजनक—चमत्कारक व्यापार है! विद्युत् के रूप में परिणत होकर यह भौतिक अग्नि ही लोक-लोकान्तरों में स्थित होकर महान् आकार वाले ग्रह-उपग्रहों को तीव्रतम गति से अन्तरिक्ष में चला रही है और उन्हें आकर्षित भी किये हुए है। 'चपला' के विकराल रूप में चमक कर प्राणिमात्र के हृदय को दहला देती और यत्र-तत्र गिर कर महान् पर्वतों को भी विदीर्ण कर देती है। इस के प्रकाशक गुण से ही संसार में उजाला है। 'दाह-ताप' गुण के कारण संसार में जीवन है। हरियाली है। उत्पादन तथा चहल-पहल है। साथ ही विनाश करने में भगवान् रुद्र का 'रौद्ररूप' भी यही है। वर्तमान 'विनाशक-महास्त्र' इसी के परिणत रूप का परिणाम-विशेष ही तो हैं। इस की तीव्रतम गति के आश्रय से ही ये 'राकेट' अव्याहत गति से अन्तरिक्ष को चीरते हुए चले जाते हैं। प्रलय के समय में यही 'कालाग्नि' बन कर लोकों तथा ब्रह्माण्डों को तोड़ती-फोड़ती और घास के समान भस्मी-सात् करती हुई परमाणुवत् सूक्ष्म कर देती है। इसकी महती शक्ति का अनुमान लगा सकना मानव के लिए अति कठिन है! तमः प्रधान अग्नि से यह अति प्रबल है।

तमःप्रधान अग्नि—उत्पन्न लोकों को ठोस बनाने के लिए यही सब तत्त्वों का परिपाक करती है। यह भूमि में, पर्वत-पाषाणों में और काष्ठ-कोयले आदि में रहती है। यज्ञादि कर्मकाण्ड का आधार भी यही है। भूमिगत खनिज पदार्थों का परिपाक यही करती है। स्वर्ण, रजत, ताम्र, हीरा, कोयला आदि द्रव्य इसी के परिपाक के परिणाम-विशेष हैं भूकम्प का कारण भी यही अग्नि है, क्योंकि यही तो भूमिगत

पदार्थों को उत्तप्त कर के इतना द्रवित कर देती है कि वे भूमितल को फाड़ कर बाहर निकलने के लिए बाध्य हो जाते हैं। पत्थर को कोयला, सीमेन्ट, चूना, तथा एक धातु को गला कर दूसरी धातु में परिणत कर देना आदि कार्य इसी तामस-अग्नि के प्रभाव से हो रहे हैं, एवं भविष्य में भी होते रहेंगे। जल को वाष्प, वायु को आंधी, लोहादि को द्रव, पाषाण को चूना बना देना एवं संसार के कठिन-से-कठिन पदार्थ को अपनी दाहक-शक्ति के प्रभाव से द्रवित तथा छिन्न-भिन्न कर देने की सामर्थ्य इसी 'अग्नि' में है। अग्नि सब पदार्थों को सूक्ष्म करने की शक्ति का प्रतीक माना गया है। और **'अग्नि वैं देवानां मुखम्'** इत्यादि वाक्य इसकी शक्ति के द्योतक हैं। अग्नि ही संसार का नेत्र है। इसका 'प्रचण्डरूप' आदित्य में दृष्टिगोचर हो रहा है और रवि-रश्मियों के रूप में सात प्रकार के मुख्य रंगों को उत्पन्न कर रहा है। रंगों का आविष्कार इन्हीं रश्मियों के प्रताप से हुआ है। अग्नि के स्थूल रूप की अपेक्षा इस के सूक्ष्म रूप 'विद्युत्' में अधिक शक्ति है। प्रकाश, ताप, दाह, उष्णता, विद्युत, जठर, चुम्बक आदि के अनेक रूपों में परिणत हुई आग्नेय शक्ति ही सात्त्विक, राजस, तामस, अग्नि-महाभूत के स्वरूपों की है। ये तीनों प्रकार की अग्नियाँ दो अथवा दो से अधिक पदार्थों के संयोग से प्रकट होती हैं। अन्यथा अपने सब गुणों को गर्भ में धारण कर के प्रत्येक पदार्थ के अनुरूप बन कर यत्र-तत्र छिपी बैठी है। व्यवहार दशा में ही अग्नि के अन्यान्य गुण प्रकट होते हैं। प्रलयकाल में इस विशाल जगत् के पदार्थों को तोड़-फोड़ कर—भस्मसात् कर के स्थूल से सूक्ष्म बनाती हुई अन्त में पञ्चाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्व्यणुक, तथा अणु और परमाणुरूप में बना देना इस 'अग्नि-देव' का ही कृत्य है। इस की शक्ति को नियमित कर लेने पर यह हमारे भोजन को पकाने का कार्य करती है। धीमी आग पर पका भोजन कैसा मधुर होता है, तथा सूर्यताप से पके फल कैसे मधुर होते हैं।

इस प्रकार पिछले भूतों के विज्ञानों के समान इस का विज्ञान प्राप्त कर लेने से भी 'मानव-प्रज्ञा' इतनी सूक्ष्म नहीं बनती कि जो उपादान कारण इस 'प्रकृति' और निमित्त कारण 'ब्रह्म' का भी प्रत्यक्ष कर सके। इन भूतों का विज्ञान 'बुद्धि' को सूक्ष्मतम बना कर ज्ञान को प्रवृद्ध करता एवं वैराग्य की दीप्ति कर के प्रकृति-पुरुष के साक्षात्कार की योग्यता प्रदान करता हुआ आगे बढ़ता है। इस प्रकार यह भौतिक विज्ञान आत्म-परमात्म-साक्षात्कार में सहायक बनता है। दिव्यनेत्र का विषय यह 'साक्षात्कार' पूर्णतया लेखनी-बद्ध नहीं हो सकता। लेखनीबद्ध विषय तो एक संकेत मात्र है। समस्त-पूर्ण विज्ञान नहीं है। किन्तु जब तक विज्ञान परमपरा 'बुद्धि' तृप्त नहीं होती विज्ञान प्राप्त करना ही उचित है।

४ वायु महाभूत—'वायु महाभूत' का उपादान कारण 'वायुतन्मात्रा' है जो 'परमाणुओं' के रूप में है, और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सब स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों में ओत-प्रोत है। इन असंख्य परमाणुओं का संघात ही यह 'वायुमहाभूत' है। अब भूगर्भ से लेकर द्युलोक तक भरपूर वायु में वायु के गुणों को समावेश करके पूर्व कथित रीति से देखें— तो इस में 'गति' प्रतीत होती है जो कि 'तिर्यक्' तिरछी है। परिणाम क्रम से 'शोधन' करने का गुण, तथा दूसरे पदार्थों को गति देने का कम्पन गुण, अपना 'बल'

तथा 'चपलता' और 'शोषण,गुणों के साथ ही 'छाया का अभाव' भी इसमें प्रतीत होता है। अति सूक्ष्म होने से 'वायु' किसी को ढक नहीं सकता। पूर्व भूतों के समान 'वायु के सात्त्विक आदि तीन भेद हैं।

देह निर्माण में—अन्य महाभूतों के समान ही वायु भी जीवन का आधार है सत्त्व प्रधान वायु का सात्त्विक-भाग प्राणियों की देहरचना में सहकारी है और 'प्राण' के रूप में प्राणिमात्र के शरीर में व्यापक-सा है; जीवन का आधार है और स्थूल शरीर के समस्त कर्म-क्रिया तथा व्यापारों का संचालक है। यह 'प्राण' अपने दस भेदों के रूप में देहों में निवास करता हुआ जन्म-मरण का हेतु तथा आयु का साधन है। मोक्ष-साधक मानव-देहों में यह 'प्राण' के रूप में सहकारी बना हुआ है। महाभूत वायु के सात्त्विक भाग 'प्राण' का विस्तृत रूप से वर्णन 'प्राणमयकोश' में कर आए हैं, वहाँ पर देखें।

रजः प्रधान वायु——अन्तरिक्ष में वर्तमान रहकर द्युलोक तक कार्यशील है। अनन्त लोक-लोकान्तरों को गतिशील बनाए रखना—एक देश से दूसरे देश में गमन कराना, घुमाना, सूर्य चन्द्र को भास्वर बनाए रखना, पृथ्वी तथा चन्द्र को सूर्य के चतुर्दिक घुमाकर दिन रात तथा ऋतुएं उत्पन्न करना, मेघों को परस्पर टकराकर विद्युत् उत्पन्न करना तथा उनको उड़ाकर यत्र-तत्र ले जाकर वृष्टि कराना, एवं शब्द, प्रकाश, गति को अपने माध्यम में से गुजरने में सहायता देना आदि कर्म कराना इसी रजः-प्रधान् 'वायुमहाभूत' का धर्म है। यह रजःप्रधान वायु भी ५ प्रकार की है जो भूमण्डल के चारों ओर तथा लोक-लोकान्तरों के मध्य में रहती है।

१. 'प्राणप्रद' वायु, जो भूमण्डल के चारों ओर एक महान् दूरी तक फैली हुई है जिसको श्वास-प्रश्वास के रूप में ग्रहण करके यह प्राणीवर्ग, वनस्पतिवर्ग, ओषधिवर्ग जीवित तथा पुष्ट रहता है। पार्थिव, जलीय, आग्नेय आहारवत् यह वायवीय आहार भी प्रत्येक प्राणी के लिए परमावश्यक है। इसके अभाव में कुछ मिनटों-सेकेण्डों में ही मरण निश्चित है। 'आहार' के अभाव में मृत्यु तो सभी प्राणियों की हो जाती है। तथापि पार्थिव आहार न मिलने से कुछ 'मास' तक, जलीय आहार न मिलने से कुछ दिनों तक, आग्नेय आहार न मिलने से कुछ-एक घन्टों तक जीवन बना रहता है, किन्तु वायु और आकाश का आहार न मिलने पर कोई प्राणी दो-चार मिनट, सेकिंड वा क्षण से अधिक जीवित नहीं रह सकता। पंचभौतिक देह तो स्थूल आहार पर ही जीवित रहता है।

२. दूसरा वह वायु है जो अन्तरिक्ष में मेघमाला के साथ खेला करता है। फुटबाल की तरह मेघों को इधर से उधर फेंका करता है। इनसे वृष्टि कराता है, मेघों को टकराकर विद्युत उत्पन्न कर देता है।

३. इन दोनों स्तरों से ऊपर का वायु तो प्राणीमात्र का घातक बन जाता है उस स्तर में 'प्राणदा' वायु अति न्यून मात्रा में है। इस लिए उस स्तर में जाकर कुछ कार्य करने और जीवित रहने के लिए हमें 'प्राणदा' वायु किसी थैले विशेष में भर कर

भूमि पर से ले जानी पड़ती है। किन्तु उस स्तर में बसने वाले कीटाणु उसी से जीवित रहते हैं।

४. चौथे स्तर में 'धनंजय' नामक वायु का निवास है। इसका कार्य समस्त वायवीय स्तरों को आकृष्ट किए रहना, नक्षत्रमण्डल की गति को नियम में बांधे रखना, और सदा यथोचित गति कराते रहना है।

५. पांचवें स्तर में अति सूक्ष्म 'सूत्रात्मा' वायु का निवास है जो सब मण्डलों के ऊपर रहकर, सब को संगठित किए हुए है और पृथ्वी के गर्भ तक व्यापक 'वायुमहाभूत' का नियंत्रण—संचालन करते हुए ग्रह-उपग्रहों को परस्पर टकरा जाने से सुरक्षित रखता है। यह एक प्रकार का अति सूक्ष्म वाष्पीय या गैसीय स्तर जो अति शक्तिशाली है। इन स्तरो में भूतों की न्यूनाधिकता के कारण जो भेद आया हुआ है, उसे त्रिगुणों की न्यूनाधिकता भी कह सकते हैं। जैसे कि पृथ्वी की समीपता के वायवीय स्तर में पार्थिव परमाणु अधिक मात्रा में हैं। अतः यह स्तर अन्य ऊपर के स्तरों से भारी है। इसी क्रम से उस से ऊपरी स्तर में जलीय परमाणु, उससे ऊपरी स्तर में आग्नेय परमाणु, उस से ऊपर के स्तर में वायवीय परमाणु और सर्वोपरि सूत्रात्मास्तर में आकाशीय 'परमाणु' अधिक मात्रा में होते हैं। इसी प्रकार के पाँच मण्डल वा स्तर प्रत्येक लोक के चतुर्दिक् हैं, और एक से दूसरे लोक को परस्पर मिलने और टकराने नहीं देते। सूत्रात्मास्तर में प्राणियों की गति नहीं होती—वहां पर इस भूमण्डल के प्राणी नहीं जा सकते; किन्तु योगिक-दृष्टि से यह स्तर भी शेष नहीं रह सका है।

तमःप्रधान वायुमहाभूत—प्रत्येक लोक के निर्माण में सहकारी उपादान कारण के रूप में ठहरा हुआ है और इसका निवास भूगर्भ में है। यह वायु वसुन्धरा के गर्भगत खनिज पदार्थों की वृद्धि तथा ह्रास में सहकारी होता है तथा पार्थिव-शक्ति भी प्रदान करता रहता है; इसके कारण भूमि-तल वनस्पतियों, औषधियों तथा फूल-फल आदि को उत्पन्न करने में 'उर्वर' बना रहता है। भूगर्भ में रहने वाले सहस्रशः जीव-जन्तुओं का प्राणाधार भी यही है। गतिशील स्वभाव रखता हुआ यह 'धरा' को अपनी धुरी पर स्थिर रहने को बाध्य करता और पृथ्वी में अनेकों परिवर्तन करता रहता है। हीरा, पन्ना, सोना, चाँदी जैसी धातु, उपधातु तथा गन्धक, कोयला आदि द्रव्यों के बनाने एवं मिट्टी के तेल तथा पैट्रोल और जल के स्रोतों को बहाने में अति सहायक है। भूगर्भ में होने वाले कार्यों तथा परिवर्तनों में यह 'वायु' अन्य महाभूतों का सहकारी है। इन सब तथ्यों को प्रत्यक्ष करना इस विज्ञान का विषय है। इन सबको पिछले महाभूतों की भाँति साक्षात् कर के अपने ज्ञान की वृद्धि तथा वैराग्य की दीप्ति करते हुए आगे बढ़े चलें।

५. **आकाश महाभूत**—यह महाभूत पिछले सब भूतों से सूक्ष्म होने के कारण सब में व्यापक है एवं उत्पत्ति धर्मा है। आकाश की उत्पत्ति भी अन्य भूतों की भांति आकाश-तन्मात्रा के परमाणुओं के संघात से होती है। न्याय तथा वैशेषिककार आकाश को नित्य और विभु मानते हैं, किन्तु सांख्य और योग इसे उत्पत्ति धर्मा मानते हैं। यहाँ

उत्पत्ति का आशय अभिव्यक्ति से समझना चाहिए। इसकी व्यापकता 'ब्रह्मवत्' सर्वदेशी नहीं है, किन्तु अन्य चारों भूतों की अपेक्षा सूक्ष्म तथा महान् होने से यह उन भूतों के अन्दर ओत-प्रोत होकर व्याप्त-सा बना हुआ है अर्थात् इन्हें अपने गर्भ में धारण किए हुए हैं अब पूर्ववत् इसे भी ध्यान की तीव्र दृष्टि से देखें—तब, आकाश-तन्मात्रा के असंख्य परमाणु संघात को प्राप्त हो कर आकाश महाभूत को उत्पन्न करते दीखेंगे, और तभी ध्यान की विशाल दृष्टि द्वारा यह 'आकाश' सर्वत्र—सब में व्यापक दीखेगा, जो वायु-अग्नि-जल, पृथ्वी के छोटे बड़े सब अंशों को अपने गर्भ में धारण करने की योग्यता रखता है। अपनी सूक्ष्मता के कारण सब पदार्थों में प्रविष्ट होकर इसमें एक को दूसरे से पृथक् दर्शाने की योग्यता का 'विश्लेषण' गुण तथा सबको चलने फिरने और सब कर्म करने की योग्यता का 'अवकाशदान' का गुण उत्पन्न हो जाता है। इन गुणों को प्रत्यक्ष करें और यह भी देखें कि कारण रूप से अनुस्यूत 'त्रिगुण' इसे प्रभावित करके इसके सात्त्विक आदि भेद कर देते हैं।

देहों के निर्माण में—आकाश अवकाश प्रदान करने और स्थापकता क कारण है।

सत्त्व प्रधान आकाश—अन्य भूतों में सहकारी बन कर विद्यमान है, तथा शरीर में ओत-प्रोत होकर। अवयव मात्र की गतिशीलता के लिए अवकाश दे रहा है। इसके साथ ही शरीर में अन्य सब पदार्थों को गतिमय रखने के लिए प्रत्येक समय अवकाश प्रदान कर रहा है और देह की स्थित— स्थापकता का कारण यही है।

रजःप्रधान आकाश— सब लोक-लोकान्तरों को अपने अन्दर गमन करने के लिए अवकाश प्रदान करता है। शब्द, मेघ, वायु, यंत्र, नक्षत्र ग्रह-उपग्रह तथा विद्युत आदि पदार्थ इसी में गमन करते हैं। अन्यत्र कहीं भी आकाश के इस प्रकार से विभेदों का वर्णन नहीं मिलता; किन्तु त्रिगुणात्मक होने से योग के आचार्य इसे तथा प्रत्येक भौतिक पदार्थ को सत्त्व, रजस्, तमस् की न्यूनाधिकता से युक्त मानते हैं।

तमः प्रधान आकाश—समस्त लोकों में व्याप्त है और उपादान सहकारी कारण भी है अन्य सब जड़ पदार्थो के भीतर-बाहर व्याप्त है। भूमि में यह तमः प्रधान आकाश ही कण-कण को गतिमय करने के लिए अवकाश दे रहा है। एवं प्रत्येक अवस्था तथा परिणाम में एक दूसरे से भेद उत्पन्न कर रहा है।

इस प्रकार इस में भी तीनों परिणामों को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न कीजिए, क्यों कि प्रत्येक उत्पत्तिमान पदार्थ धर्मलक्षण तथा अवस्थापरिमाणों से युक्त है। इस प्रकार स्थूल जगत् के 'उपादान कारण' इन पंचमहाभूतों का विज्ञान तो प्राप्त हो गया किन्तु अभी उस परमसत्ता के दर्शन नहीं होने पाये हैं जो इस सृष्टि का निमित्तकारण है। इसलिए अब इन महाभूतों के भी उपादान-कारण का विज्ञान-क्रम लिखते हैं।

पंचतन्मात्राओं वा सूक्ष्ममहाभूतों का विज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया—जिस

प्रकार पंचमहाभूतों से पांचभौतिक स्थूलदेह बना है उसी भाँति मानव सूक्ष्मशरीर भी 'पंचतन्मात्राओं' से निर्मित होता है—पंचतन्मात्राएं अथवा सूक्ष्मभूत इस 'सूक्ष्मशरीर' के प्रति उत्पादन-कारण हैं। न्याय एवं वैशेषिक दर्शनाकारों के सिद्धान्त के अनुसार 'जगत्' के उपादान कारण ये ,परमाणु-आत्मक' पंचसूक्ष्म भूत हैं; किन्तु योग तथा सांख्यकार इन परमाणुयों को 'पंचतन्मात्रा' कहते हैं। इन परमाणुओं का परिणाम वा उपादान-कारण 'अहंकार' को, अहंकार का उपादान-कारण 'महत्'को, एवं 'महत्' का उपादान कारण ,अलिंग' वा 'अव्यक्त-प्रकृति' की कहते हैं * तथा निजी 'विज्ञान' के आधार पर हम भी इससे मिलता-जुलता ही मानते हैं। हमें प्रकृति का 'परिणामबाद' ही यथार्थ तथा समीचीन प्रतीत हुआ है अतः इन विभिन्न 'वादों में न पड़ कर हम इसे ही स्वीकार करते हैं। किन्तु यहाँ पर 'प्रकृतिवाद' में भी हमारा कुछ मतभेद है । उक्त आचार्य 'त्रिविध-अन्तःकरण' मानते हैं † और बुद्धि को चित्त में अथवा चित्त को बुद्धि में समाविष्ट कर के उत्पति क्रम में मन, बुद्धि, अहंकार के रूप से 'त्रित्व' का ही संकेत करते हैं, किन्तु हमने तो 'महत्' के भी सात्त्विक, राजस्, तामस् भेद कर के अहंकार के समान ही 'महत्' को भी त्रिविध माना है। हमारे निजी अनुभव के अनुसार संसार का प्रत्येक पदार्थ 'त्रिगुणात्मक' है; क्योंकि जो गुण 'कारण' में होते हैं वे 'कार्य' में अवश्य आते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में इन त्रिगुणों का 'अनुस्यूत' होना अनिवार्य और आवश्यक है इस नियम के अनुसार कोई भी अकेला 'गुण' किसी भी पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः सृष्टि के सब पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। तब फिर यह 'महत्' भी गुणों की न्यूनाधिकता के कारण तीन प्रकार का हो जाता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति का सर्वप्रथम विकार यह 'महत्' यद्यपि'सत्त्वगुणात्मक' ही कहा गया है, तथापि इसमें रज, तम भी आंशिक रूप भी से विद्यमान होते हैं, भले ही इनकी मात्रा न्यून ही है। जिस प्रकार शास्त्र ने कहा भी है—**प्रकाश-क्रियास्थिति-शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा पवर्गार्थंदृश्यम्** । (योग०पा०२। सू०१८।) यह प्रकाश, क्रिया,स्थिति तीनों गुणों का समुदाय है। जैसे,—एक पुस्तक है। पुस्तक में प्रदर्शित दर्शन का विषय यह प्रकाश या सत्व गुण है। जिस व्यापार ने इस दृश्य पुस्तकको अभिव्यक्त किया है वह रजोगुण का धर्म या क्रिया है। जिसमें यह दर्शन और व्यापार स्थिर हैं वह तम की स्थिति, स्वभाव या धर्म है। इसी त्रिगुणात्मक सिद्धान्त के आधार पर बने 'अन्तःकरण-चतुष्टय' का निरूपण हम 'अन्तःकरण-चतुष्टय' नामक प्रकरण में कर आए हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार शास्त्रों में यत्र-तत्र आए प्रसंगों में 'दिव्यविषयों' तथा 'दिव्यशरीर'का प्रसंग भी आता है; वहाँ पर 'दिव्यविषय' से तात्पर्य 'पंचतन्मात्रा' निर्मित विषयों से है एवं 'दिव्य शरीर' से तात्पर्य 'सूक्ष्मशरीर' से है। दिव्यशरीर द्वारा दिव्यविषयों का ग्रहण एवं उप-भोग सम्भव बनता है। यह 'सूक्ष्मशरीर' ही पंचतन्मात्रिक अवस्था में स्थित 'सूक्ष्म-

---

* सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्च-न्मात्राण्यु भयमिन्द्रियम्, तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।

सांख्य अ.१।सू.६१।

† त्रयाणां स्वालक्षण्यम्। सांख्य. अ.२। सू. ३०

विषयों' का ग्रहण तथा उपभोग करता है। 'सूक्ष्म शरीर' तथा सूक्ष्मविषय' ये दोनों भी 'त्रिगुण' से प्रभावित होते हैं। स्वर्ग में दिव्य-भोगों के उपभोग का जो वर्णन ग्रन्थों में मिलता है वे दिव्यभोग पंचतन्मात्रिक ही होते हैं। जीवात्मा 'ब्रह्मरन्ध्रगत' सूक्ष्मविषयों का ग्रहण एवं उपभोग अपने 'सूक्ष्मशरीर' के द्वारा और स्थूल विषयों का ग्रहण तथा उपभोग स्थूलदेह के द्वारा करता है। किंवा सुख-दुःख की अनुभूति केवल हृदयगति 'चित के द्वारा और 'ममेदम्' की भावना की उत्पत्ति 'अहंकार' के द्वारा हुआ करती है।

पंचतन्मात्रिक विषयों का उपभोग जिस प्रकार सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा होता है वह तो हम 'मनोमयकोश' में साधारण रूप से दर्शा आए हैं। और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अपने सूक्ष्मशरीर के दोनों भाग 'मनोमय' तथा 'विज्ञानमय' कोशों के संयुक्त व्यापार के द्वारा जैसे इन महाभूतों का विज्ञान कर आए हैं वैसे ही अब इन महाभूतों के उपादान-कारण 'पंचतन्मात्राओं' का विज्ञान भी यहाँ पर ही दर्शाते हैं। क्योंकि यही तो वह केन्द्र है जहाँ पर स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम समस्त भौमिक विज्ञान का साक्षात्कार किया जाता है। इन महाभूतों की बीजभूत 'तन्मात्राएं' महाभूतों से सूक्ष्म हैं अतः इनका विज्ञान भी यहीं हो सकेगा।

१ **गन्धतन्मात्रा**—के विज्ञान के लिए 'मनोमयकोश' गत 'घ्राण' के साथ मन के व्यापार के दर्शन-क्रम को पुनः पढ़ें और उसी क्रम का यहाँ पर भी अनुसरण करें। इस विषय का बहुत-कुछ प्रत्यक्ष आप कर भी आये हैं। प्रत्येक व्यक्ति को नासिका के सन्निकर्ष होने पर ही किसी गन्ध का अनुभव होता है, कस्तूरी आदि की तीव्र गन्ध तो दूर देश से भी आ जाती है किन्तु समीपस्थ होने पर प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यदि नित्य ही नासिका और गन्ध के अन्तर को बढ़ाते चलें—अर्थात् यदि प्रथम दिन कोई गन्ध नासिका से दो फुट की दूरी पर रखी भी अनुभव हो रही है तो अगले दिन ढाई फुट फिर तीन फुट पर रख उसी गन्ध को ग्रहण करें तो निरन्तर इस 'देश वृद्धि' के अभ्यास से दूर देशस्थ गन्ध भी ध्यान वा संकल्पमात्र से अनुभव होने लगेगी। इस अभ्यास में सिद्धहस्त हो जाने पर योगी, सैकड़ों मील पर स्थित गन्ध को आकर्षित कर लेने में समर्थ बन जाता है तथा दूसरे व्यक्तियों को भी इसका अनुभब करा सकता है। किन्तु इसका सूक्ष्म-रूप' जो कि 'ब्रह्मरन्ध्र' में स्थित 'सूक्ष्मघ्राणेन्द्रिय' अनुभव करती है, वह इस स्थूलगन्ध को गन्धतन्मात्रा के परमाणु रूप में परिणत कर देती है। यह परिणति अतिसूक्ष्म एवं अतिशीघ्र हो जाने के कारण अत्यन्त-तन्मयता से ही प्रतीत हो सकती है। क्योंकि यह परिणाम क्षणार्द्ध से भी न्यूनतम् काल में सम्पन्न हो जाता है। ये सब स्थूल गन्ध तो 'गन्धतन्मात्रा' के परिणाम के गुण-विशेष वा भेद-विशेष हैं, जिनका वर्णन किया गया है इन 'गन्धतन्मात्रिक' परमाणुयों से तो यह आकाश भरा पड़ा है। योगी उनका साक्षात्कार करके अपने संकल्प के अनुसार उपयोग भी कर सकता है। इसका एक उदाहरण लीजिये जो अनेक वर्ष पूर्व मैंने देखा था। अमृतसर के चाटीविंड-दर्वाजे से बाहर नहर के किनारे बनी मोतीराम जी की प्रसिद्ध बागीची में एक योगी मेरे पास ३-४ मास ठहरे। उन्हें 'दिव्यगन्ध' पर इतना अधिकार प्राप्त था कि वे स्वेच्छा से या प्रार्थना करने

पर जिस गन्ध को चाहते थे,अपना हाथ बढ़ा कर त्राटक कर के उसी गन्ध को आकाश से आर्कषित करके प्रत्येक व्यक्ति को अपने हाथ में आ-बसी गन्ध को सुंघा देते थे। वे हरियाना प्रान्त के निवासी ४०-४५ वर्ष की आयु के त्यागी, तपस्वी, साधु थे। ऐसी ही दूसरी घटना काश्मीर की है, जब मैं अपने 'भूतजयी' प्रथम गुरुजी का अन्तेवासी बन कर उन से योग की शिक्षा ले रहा था उनकी वे तीन घटनाएं तो आप 'भूमिका' में पढ़ ही चुके हैं। किन्तु दीर्घकाल से अभ्यासियों को अभ्यास कराते-कराते अब हमें भी,इतना अभ्यास हो गया है कि किसी अभ्यासी की योग्यता तथा 'अभीप्सा' (लगन) के अनुसार वात्सल्य-भाव से प्रेरित हो कर अभ्यासी के 'चित' वा 'बुद्धि' को आकृष्ट कर के उसकी भावना के अनुसार आन्तरिक 'विज्ञान' प्राप्त करा सकें। हमारे संकल्प के अनुसार ही वह अपने अन्दर तथा बाहर ध्यानस्थ दशा में अपने ही दिव्यनेत्रों से वही कुछ देखता जाता है जो हम उस की योग्यतानुसार उसे दिखाना चाहते हैं। हमने समीपस्थ अनेक अभ्यासियों को एक ही काल में इस मानसिक प्रभाव के द्वारा एक-सा 'दर्शन'—एक-सा 'विज्ञान' भी करा दिया है। इसी क्रम से किसी शुभ संकल्प द्वारा दूसरे के **'सूक्ष्मशरीर'** को प्रभावित कर के सन्मार्ग में प्रवृत्त तथा आन्तरिक विज्ञान में आगे बढ़ाया जा सकता है।

१ गन्ध तन्मात्रा को साक्षात् करने की विधि—गन्वतन्मात्रा को लक्ष्य बना कर समाहितचित्त से जब व्यापक-सी 'दिव्यदृष्टि' आकाश मण्डल में डाली जाती है तब संकल्प-बल से आकाश मण्डल में व्याप्त गन्धमात्रा के परमाणु सामने आ जाते हैं। कई बार तो परमाणुओं की महान् राशि ही सामने आ खड़ी होती है। **तमः प्रधान अवस्था** में ये परमाणु कुछ धूमिल या आसमानी रंग के; रज, **प्रधान अवस्था** में सुनहरी वा गुलाबी रंग के; **और सत्त्व प्रधान अवस्था** में शुक्लवर्ण के अथवा शुक्लवर्ण में कई प्रकार के रंग के गन्धतन्मात्रिक परमाणुओं का एक समुद्र-सा उमड़ आता है। इस राशि से योगी स्व-संकल्प बल के अनुसार जो गन्ध चाहे निर्माण कर सकता है। जिस प्रकार इन पंचमहाभूतों के संयोग से इस भूतल पर नाना प्रकार के पदार्थ बनते रहते हैं तथा उपयोग में आते रहते हैं एवं वैज्ञानिकजन इन साधारण-सी मेज कुर्सी आदि पदार्थों से लेकर, अनेक प्रकार के रासायनिक द्रव्य, विमान आदि तक का निर्माण कर लेते हैं, उसी प्रकार योगी भी इन पंचतन्मात्रिक परमाणुओं से दिव्यगन्धों, दिव्यरसादि का निर्माण कर के इन्हें उपयोग में ला सकता है। यह आध्यात्मिक विज्ञान भी भौतिक विज्ञान के समान ही रहस्यमय विज्ञान है, जिस के द्वारा सूक्ष्म जगत् का स्वेच्छापूर्वक भली भाँति उपयोग किया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार के संकल्पों की सिद्धि, **'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़भूमिः'** (योग०१-१४) सूत्र के अनुसार होती है। ध्यानावस्था में एकाग्रता द्वारा जब स्थूल देह का भान मिटाकर साधक अपने 'सूक्ष्मशरीर में आ जाता है, तब ध्यानावस्थित दशा में ही अपने तेजस्वी सूक्ष्मशरीर द्वारा 'ब्रह्मरन्ध्र' में ध्यान को केन्द्रित कर के मन, बुद्धि, इन्द्रियों की सहायता से गन्धतन्मात्रिक वा रस-तन्मात्रिक रूप स्पर्श के परमाणु को एकत्रित कर के इन से कार्य लेने का व्यापार प्रारम्भ कर देना चाहिए। तब कालान्तर में संकल्प बल से ये परमाणु संकलित होकर

संकल्पानुसार पदार्थों का निर्माण करने लगते हैं, और भोगप्रदान के लिए आ उपस्थित होते हैं। तब योगी इन से अपना भोग भी सम्पादित कर सकता है। यही 'तन्मात्रिक विज्ञान' का साक्षात्कार और उस पर अधिकार-प्राप्ति है।

किन्तु यह सब तभी सिद्ध होता है जब प्रथम नासाग्र पर 'गन्ध' का निरन्तर अभ्यास किया जाए, तथा 'स्थूलगन्ध' को सूक्ष्मगन्धतन्मात्रा के रूप में परिणामभाव को प्राप्त होते हुए 'दिव्यघ्राणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते जाने तथा समझते रहने का अभ्यास दृढ़ होता जाए। इस पुनरावृत्ति के साथ-साथ 'सूक्ष्मघ्राण' पर वशित्व-प्राप्ति का प्रयत्न भी किया जाता रहे। तब फिर व्यवहार में तन्मात्राओं से कार्य लेने की और इन से निर्मित पदार्थों का उपभोग करने की योग्यता आने लगती है। इस प्रकार 'गन्धतन्मात्रा' विषयक साक्षात्कार तथा उनके उपयोग के सम्बन्ध में यह संक्षिप्त निर्देश है; किन्तु इस साक्षात्कार-काल में होने वाली आनन्दानुभूति का निर्देश नहीं किया जा सकता, वह तो स्वयं-वेद्य भाव है।

२ **रस-तन्मात्रा**—भी 'स्थूलरस' का सूक्ष्म तथा दिव्यरूप ही है। इसके विज्ञान-प्राप्ति का क्रम भी 'गन्धतन्मात्रा' के साक्षात्कार के समान ही है। जीभ के अग्रभाग से स्पर्श हुआ कोई भी रस जिह्वा में जुड़े ज्ञानवाहक तन्तुओं के द्वारा जब 'पंचतन्मात्रिकमण्डल में से गुजर कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित 'सूक्ष्मरसनेन्द्रिय' तक पहुँच कर सूक्ष्मभाव को प्राप्त होता है, उस समय इस 'कार्यरूप' से 'कारणभाव' में परिणत हुए इस दिव्यरस का सूक्ष्मेन्द्रिय 'दिव्यरसना' के द्वारा आस्वादन तथा उसके स्वरूप को अवगत करना ही 'रसतन्मात्रिक' स्वरूप का साक्षात्कार है। इसी 'कारणरूप' में परिणत हुए रस को यह 'सूक्ष्म-रसना' ग्रहण करने में समर्थ होती है, अन्य को नहीं। यही सब दृश्य यहाँ पर साक्षात् करने योग्य है। इसके परिज्ञान तथा उपयोग की दूसरी विधि यह है :—

एकाग्रचित्त होकर अपनी ध्यान-दृष्टि को व्यापक-सी बनाकर सामने आकाश-मण्डल में स्थापित करके 'रसतन्मात्रिक' परमाणुसमूह का 'संयमबल' से आकर्षण करें। जैसा कि किसी वस्तु को खाने से पहले उसका स्मृत्यात्मक स्वाद 'नाम' लेते ही मुख में रस भर जाता है, ऐसी दृढ़भावना का 'ध्यान' इस समय भी करें। धीरे-धीरे इस अभ्यास-सामर्थ्य के अनुसार यथेष्ट रस की अनुभूति होने लगती है। जब ध्यान दृष्टि से इस रसास्वादन को आप देखेंगे तब आपको इस 'रसतन्मात्रा' का मधुर, तिक्त, कषाय, रस प्रतीत होगा जो कि आपके संकल्पबल से एकत्रित होकर 'दिव्यरसना' के द्वारा प्रत्यक्ष हो रहा है।

३. **रूप-तन्मात्रा**—रूपतन्मात्रा पदार्थ-मात्र में ओत प्रोत होकर ठहरी है। इसी के कारण समस्त पदार्थ रूपवान् आकारवान् बने हुए हैं। इन में यह रूपधर्म रूप-तन्मात्रा से ही अभिव्यक्त हुआ है। रूपतन्मत्रा के सहयोग के बिना सूक्ष्म-नेत्र (दिव्यचक्षु) भी अतिन्द्रिय पदार्थों का दर्शन कराने में असमर्थ है। जैसे स्थूल अग्नि भूत के पुञ्ज

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् आदि प्रकाश के उपकरणों के सहयोग के बिना स्थूल नेत्र स्थूल पदार्थों के दर्शन कराने में असमर्थ हैं। इन नेत्रों में स्वयं अपनी भी दर्शन करने की शक्ति है, किन्तु यह सूक्ष्म नेत्ररूप तन्मात्रा और स्थूल नेत्र बाह्य प्रकाश उपकरणों की अपेक्षा रखते हैं। रूपतन्मात्रा भी स्थूलरूप का सूक्ष्म तथा 'दिव्यस्वरूप' ही है। रूपतन्मात्रा का साक्षात् करने के लिए पहले कुछ देर तक इन स्थूल नेत्रों के सामने कोई रूप वाला पदार्थ स्थिर करें, फिर 'अन्तःत्राटक' द्वारा देखें तो प्रतीत होगा कि इस पदार्थ का प्रतिबिम्ब इन नेत्रगोलकों पर पड़ कर इनके साथ अन्दर की ओर जुड़े हुए ज्ञान-वाहक-तन्तुओं के बने मार्ग से जाता हुआ परिणामभाव को प्राप्त हो कर सूक्ष्म 'रूपतन्मात्रा' का रूप धारण करके उस 'दिव्यचक्षु' पर अपना प्रभाव 'प्रतिबिम्ब' या 'आघात' के रूप में डाल रहा है, इस प्रभाव से वह 'दिव्य-नेत्र' क्रियाशील बन गया है। यह सब दृश्य-दर्शन ही 'पंचतन्मात्रिक रूप' का साक्षात्कार तथा इसका विज्ञान है। योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने जो 'तालुनि रूपसम्वित्' (व्यास भाष्य योग पा. १। सू. ३५।) ऐसा कहा है, उस का अभिप्राय भी यही है कि रूप के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर के जब ये ज्ञानवाहक तन्तु ब्रह्मरन्ध्र को जाते हैं, तब ये तालु के आन्तरिक भाग में से होकर ही जाते हैं। इसी स्थान से स्थूलरूप का परिणाम-भाव को प्राप्त होना प्रारम्भ हो जाता है। तब यह परिणमित रूप ही 'सूक्ष्म-चक्षु' पर 'आघात' अथवा आभास फेंकता है और इसी 'दिव्यचक्षु' के द्वारा इस दिव्यरूप' का साक्षात्कार होता है। इसी भाव को भाष्यकार ने 'तालुनि रूपसम्वित्' शब्दों में कह दिया है। जैसे नासाग्र पर गन्ध का और जिह्वाग्र पर रस का स्पर्श होकर ज्ञानवाहक-सूत्रों के द्वारा पंचतन्मात्रिक सूक्ष्मरूप' को धारण करके ब्रह्मरन्ध्रगत अपनी-अपनी सूक्ष्मेन्द्रियों में ही इन का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार नेत्रों के अग्रिम भाग में रूप का संयम करने से 'दिव्यरूप' का साक्षात्कार क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा और होता है; और उपरिकथित विधि तथा उसी क्रम से होता है। यह विज्ञान-क्रम साधारण मनुष्यों को प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु योगी को अपनी 'दिव्यदृष्टि' द्वारा प्रत्येक स्थूल इन्द्रिय के साथ जुड़े ज्ञानवाहक सूत्रों से ही यह सब क्रम प्रत्यक्ष होने लगता है। वस्तुतः यह सब प्रक्रिया प्रतिक्षण इसी क्रम से चलती रहती है, क्योंकि प्रत्येक समय इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण और उपभोग होता रहता है, अन्यथा स्थूल शरीर में स्थित यह 'सूक्ष्म-शरीर' व्यर्थ ही सिद्ध होगा। जैसे 'स्थूलशरीर' स्थूल भोगों का उपभोग करता है वैसे ही 'सूक्ष्मशरीर' सूक्ष्म-दिव्य भोगों का उपभोग करता है, परन्तु जब योगी को सूक्ष्म भूतों या तन्मात्राओं और सूक्ष्मशरीर पर पूर्ण अधिकार हो जाता है तब उसके सूक्ष्मशरीर में पंचस्थूलभूतों तथा उनके विषयों को भोगने और कार्य लेने की योग्यता और सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। जब चाहे स्थूल भूतों से कार्य-सम्पादन कर सकता है। वास्तव में ध्यानकाल में मूर्द्धा में ध्यान करने से जो सिद्धों या दिव्यशरीरधारी आकाशगामी योगियों के दिव्य शरीरों का दर्शन होता है, अथवा सूक्ष्मतन्मात्राओं से बने पदार्थों का जो दर्शन होता है यह सब दिव्य रूप ही कहलाता है।

अब आप 'गन्धतन्मात्रा' तथा 'रसतन्मात्रा' में वर्णित अभ्यास के समान ही

2900-40

अभ्यास करके 'रूपतन्मात्रा' पर वशित्व पाकर तथाकथित 'प्रदर्शन' एवं 'उपयोग' कर सकते हैं। अतः अपनी आन्तरिक इच्छा के अनुसार 'रूपतन्मात्रा' निर्मित पदार्थों का 'प्रदर्शन' तथा 'उपभोग' भी किया और कराया जा सकता है।

४. स्पर्श-तन्मात्रा—भी स्थूल-स्पर्श का सूक्ष्म एवं 'दिव्य-स्वरूप' ही है। यह स्पर्शेन्द्रिय 'त्वचा' देह के ऊपर तथा आन्तरिक मार्गों पर चढ़ी हुई है और स्पर्शानुभूति कराती रहती है। आप काया के किसी भाग में किसी वस्तु का भी स्पर्श कर दें तो तुरन्त आपको उसका अनुभव होगा कि अमुक या किसी वस्तु का स्पर्श शरीर के साथ हुआ है। किन्तु शरीर में भी सर्वत्र एक समान त्वचा नहीं है। जैसे, इस शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय के विषयों के शीघ्र अनुभूति के कुछ केन्द्र एवं 'मर्मस्थल' हैं, वैसे ही त्वचा भी कहीं पर मोटी तथा कहीं पर पतली है। इसी के अनुसार स्पर्शानुभूति भी शीघ्र वा देरी में होती है। जैसे नेत्रों की पुतली जिह्वाग्र, नासाग्र, अंगुलि का अग्रभाग आदि एवं तालु आदि स्थानों में 'स्पर्शबोध' शीघ्र होता है। जिह्वा का मध्यभाग भी स्पर्श का शीघ्र अनुभव करा देता है। इस स्पर्श का बोध भी हमें देह-व्याप्त ज्ञान-वाहक-तन्तुओं के द्वारा ब्रह्मरन्ध्रगत स्पर्शेन्द्रिय के सूक्ष्मकेन्द्र 'सूक्ष्मत्वचा' पर ही होता है। और इस के विज्ञान के साक्षात्कार का क्रम भी पिछले विज्ञान क्रम के सदृश है। अतः उसी अभ्यस्त अभ्यास के द्वारा इसका भी विज्ञान करें। किन्तु यहाँ पर विशेषता इतनी होगी कि गन्ध, रस, रूपतन्मात्राओं के समान 'स्पर्श-तन्मात्रा' के परमाणु 'दिव्यदृष्टि-गोचर' नहीं होंगे; प्रत्युत् स्पर्शतन्मात्रिक परमाणुओं के आकर्षण से उत्पन्न शीत-उष्ण, कोमलता और कठोरता का अनुभव स्वयं किया तथा अन्यों को कराया जा सकता है। निरन्तर अभ्यास से इस पर भी विजय या वशित्व प्राप्त कर पूर्ववत् इस का प्रदर्शन एवं उपभोग किया कराया जा सकता है।

५. शब्द-तन्मात्रा—भी स्थूल-शब्द का सूक्ष्म तथा 'दिव्य स्वरूप' है। इस के साक्षात्कार की प्रक्रिया भी वैसी ही है जैसी पिछली तन्मात्राओं की थी। कर्णशष्कुलि के साथ जब बाह्य स्थूल शब्द का संयोग हो वा निरन्तर होता रहे, तब यह शब्द कर्ण के भीतर जाता है और वहाँ से ज्ञानवाहकसूत्रों के द्वारा पूर्वकथित प्रकार से ब्रह्मरध्र में स्थित 'सूक्ष्मकर्ण' पर जाकर अभ्यासी को अनुभूत होता है। व्यासभाष्य में जो दिव्य-शब्दानुभूति के लिए 'जिह्वामूल' प्रदेश का निर्देश किया गया है, उसका तात्पर्य भी यही है कि ब्रह्मरन्ध्र को जाता हुआ वह शब्द जब सूक्ष्मभाव धारण कर लेता है तब वह धारणा करने से जिह्वामूल के ज्ञानवाहक सूत्रों पर भी सुना जा सकता है। किन्तु वास्तविकता वही है, जिस विधि का निर्देश हम करते आ रहे हैं और आप भी उसका अनुसरण कर के सब-कुछ प्रत्यक्ष कर चुके हैं। वह 'दिव्यश्रवण' वस्तुतः ब्रह्मरन्ध्र में 'सूक्ष्मकर्ण' के द्वारा ही होता है। हमारे विज्ञान का क्रम उसकी अपेक्षा अधिक सुगम भी है, क्योंकि जब नासिका के अग्रभाग पर संयम करने से दिव्यगन्ध की प्रतीति ;हो सकती है तब कर्णशष्कुलि पर संयम करने से 'दिव्यशब्द' श्रवण भी सम्भव बन सकता है। वर्तमान् काल में यह 'रेडियो' दूर-श्रवण का प्रत्यक्ष प्रमाण है, ऐसे ही 'दिव्यश्रवण' भी हो सकता है। भेद इतना ही है कि योगी स्वतन्त्रता से सब 'दिव्य विषयों' को स्वेच्छा-

नुसार जब चाहे ग्रहण कर लेता है और 'रेडियो' केवल 'स्थूल शब्दमात्र' को ही ग्रहण करता है ।

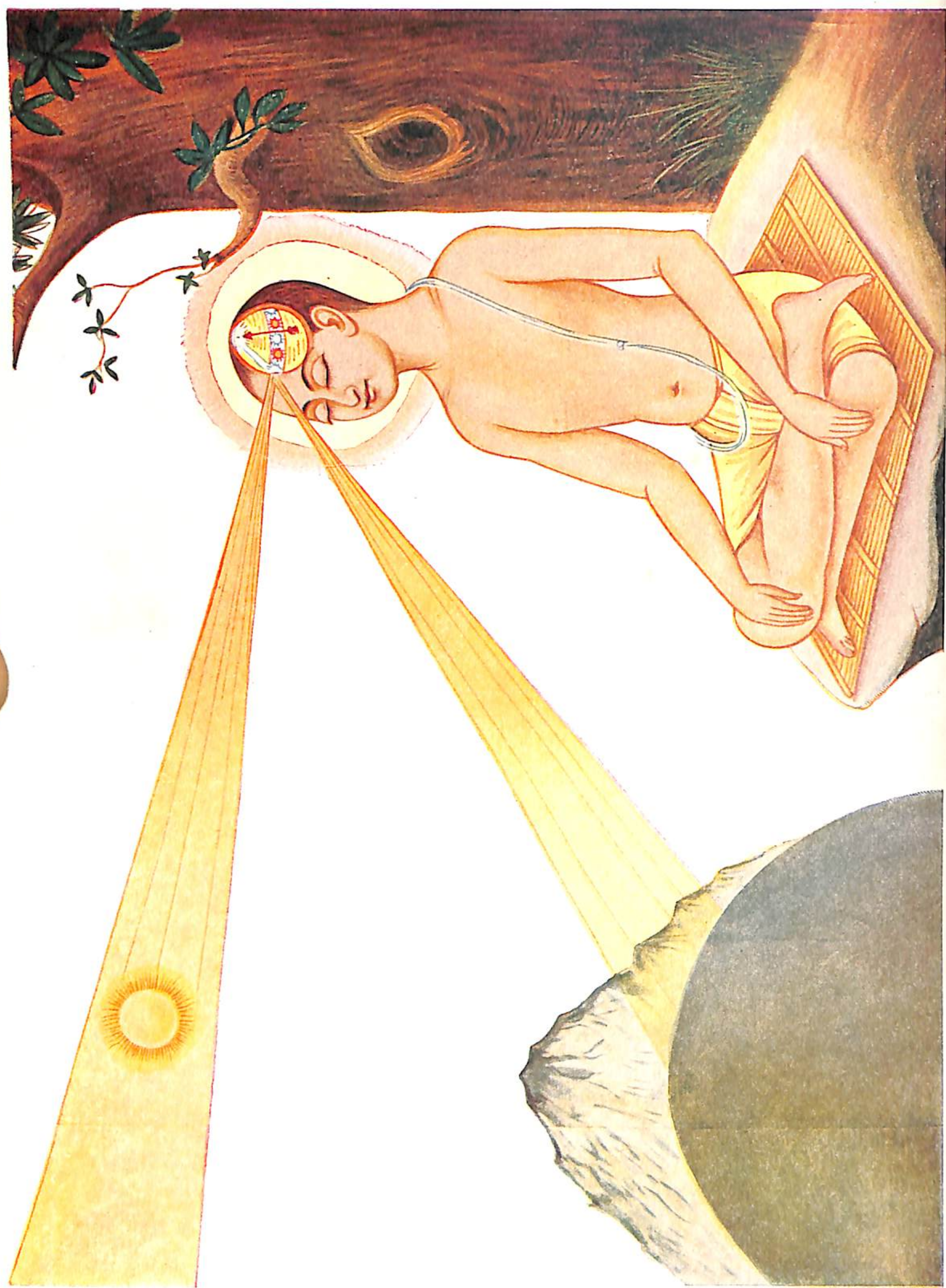
आकाश तन्मात्राओं पर वशित्व हो जाने पर, योग सूत्र (३-१७)※ के अनुसार **'भूतरुत ज्ञानम्'** प्राणिमात्र की भाषा को समझ लेने की शक्ति आ जाती है। क्योंकि प्रत्येक भाषा, शब्द-अर्थ-ज्ञान इन तीन भागों में विभक्त है। योगी इन के सम्बन्धों का ज्ञान कर लेता है—तब उसे प्रत्येक भाषा का ज्ञान हो जाता है । **'श्रोत्राकाशयोः सम्बन्ध संयमाद्** दिव्यं श्रोत्रम् (योग-३-४१) सूत्र इसी बात का पोषक है ।

सूक्ष्म इन्द्रिय तथा तन्मात्रा को मानने की आवश्यकता—जब 'स्थूल शब्द' का 'स्थूल कर्ण' के साथ सम्बन्ध होकर, बुद्धि द्वारा विभागशः शब्दका ज्ञान होजाता है तब 'सूक्ष्म-इन्द्रिय' तथा'शब्दतन्मात्रा' को मानने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान इस दृष्टान्त से होजाता है कि—मनुष्य जब सो जाता है तब ये स्थूल इन्द्रियां तो निष्क्रिय होती हैं; किन्तु स्वप्न में जो शब्द सुनाई देते हैं, शीत-उष्ण का स्पर्श होता है, विभिन्न आकृतियों का दर्शन होता है, रसा-स्वाद होता है, एवं गन्धों का अनुभव होता है; पांचों ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों के साथ कर्मेन्द्रियों से भी कर्म करता है, जिसका प्रभाव कभी स्वप्नदोष हो जाने, स्वप्न में बोलने, चलने-फिरने, हाथ पैर मारने के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देता है; तब ये सब व्यापार कौन करता है ? इन सब आन्तरिक व्यापारों को वे सूक्ष्म इन्द्रियाँ ही करती हैं । और यह मन कराता है; भले ही ये स्वप्न-कालीन व्यापार, अनुभूत विषयों की समृति के कारण होते हैं, किन्तु इन्हें करती तो सूक्ष्म इन्द्रियाँ ही हैं; और इन व्यापारों से कर्मफल भी मिलता है । इस लिए सूक्ष्मशरीर के भोग सम्पादन के निमित्त इन सूक्ष्म इन्द्रियों और स्थूलभोग के लिए स्थूलइन्द्रियों की आवश्यकता है । इसीलिए विधाता ने दोनों प्रकार की इन्द्रियां मनुष्यों को प्रदान की हैं ।

यद्यपि आन्तरिक दिव्य विषय-भोगों का उपभोग भी बाह्य स्थूल पदार्थों के उपभोग के समान ही होता है किन्तु दिव्यभोगों के आनन्द की अनुभूति स्थूल सुखानुभूति से कई गुणा अधिक होती है । दिव्यभोगों से प्राप्त होने वाले आनन्द के सम्मुख ये स्थूलभोग फीके तथा नीरस हो जाते हैं ।

समष्टि विज्ञान—इस भाँति आपने पंचमहाभूत, पंचतन्मात्राएं, दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सब के स्वरूप तथा इनकी व्यापार परम्परा को, 'सविचार समाधि' में निरन्तर स्थित होकर अपने अपने 'सूक्ष्म-शरीर' के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है; किन्तु विज्ञान यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता । समष्टि-इन्द्रियाँ, समष्टि-मन, समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहंकार, समष्टि-चित्त, तथा इन सब से बना विराट्पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि एवं लोक-लोकान्तरों का निर्माण, प्रलय, सृष्टि उत्पत्ति आदि अनेक विज्ञानों का क्रमिक

※ शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुत ज्ञानम् । **योग ३. १७.**



चित्र संख्या १५

दिव्य नेत्र या ज्ञानचक्षु

समिष्ट-विज्ञान, जो अलिंग प्रकृति पर जाकर समाप्त होता है, इसी 'सविचार समाधि' द्वारा बाह्य आकाश मण्डल में प्रत्यक्ष किया जायगा। यह सब समिष्ट-विज्ञान 'योग' का विषय है। इसका वर्णन ब्रह्म-विज्ञान ग्रन्थ में करेंगे।

ऐसे आन्तरिक साक्षात्कार किस रूप में होते हैं ? उन के दो चार दृष्टान्त दे देने से साधकों को यह प रज्ञान हो जायगा कि साक्षात्कारों का 'रूप' ऐसा ही होता है; और चित्रों द्वारा व्यक्त हो सकने योग्य दृश्य का कहीं-कहीं पर चित्र भी दे दिया गया है।

विज्ञानमयकोश सम्बन्धी कुछ साक्षात्कार

१. **प्रज्ञाऽऽलोक**—योग का यह पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है 'समाहित दशा में उत्पन्न दिव्य-प्रकाश'। यह 'प्रकाश-विशेष' तब उत्पन्न होता है जब 'मनस्तत्त्व' अपनी 'दिव्यशक्ति' को इस 'सूक्ष्म-नेत्र' के साथ जोड़ देता है। उस समय यह 'दिव्य-नेत्र सूक्ष्म, छिपी, अति दूरस्थ वस्तुओं का दर्शन करके तद्-विषयक विज्ञान प्राप्त करने में भी समर्थ बन जाता है। देखो सामने के ॐ चित्र संख्या १५ से यह स्पष्ट है।

२. **ज्ञान नेत्र**—अथवा 'तृतीय-नेत्र' कहलाने वाले (आज्ञाचक्र) में ऐसी क्या विशेषता है जिस के कारण इसे 'ज्ञान-नेत्र' या 'तृतीय-नेत्र' आदि नाम दे दिए गए हैं। इस विषय में यह है कि प्रसिद्ध कपाल प्रदेश के भीतर मध्य-मस्तिष्क में 'ब्रह्मरन्ध्र' वा 'सहस्रार' में हो मनुष्य का सूक्ष्मशरीर रहता है। यहीं पर मनोमय तथा विज्ञानमयकोशों के साथ इनके अध्यक्ष 'मन' तथा 'बुद्धि' का निवास भी है। ये दोनों मिल कर इन्द्रियों के द्वारा ज्ञानोपलब्धि करने में समर्थ बनते हैं। किन्तु जब किसी अतीन्द्रिय दूरस्थ वा कहीं पर छिपे पदार्थ-विषयक विज्ञान की प्राप्ति के लिए 'चित्तमण्डल' से उठ कर 'बुद्धि-मण्डल' में आत्म संकल्प प्रस्फुटित होता है तब यह 'दिव्यदृष्टि' कभी सीधी ही और कभी आज्ञाचक्र के मार्ग से बाहर को फैल जाती है और विश्वब्रह्माण्ड में अपनी रश्मियों द्वारा कहीं पर भी स्थित उस पदार्थ से संयुक्त हो कर तद्-विषयक विज्ञान को प्राप्त कर लेती है। इस विज्ञान से प्रतिबिम्बित-मन 'बुद्धि' के द्वारा तद्विषयक सब निर्णय करा के अहंकार के द्वारा हृदयगत 'आत्मा' के समीप चित्त में भेज देता है। यद्यपि 'आज्ञाचक्र' में अपना प्रकाश भी उत्पन्न होता है, तथापि 'दिव्यचक्षु' का प्रकाश मनोबल की सहायता पा कर 'दिव्य एवं अति दूरगामी बन कर कार्य करता है, मानो 'नेत्र' पर दिव्य दूरवीक्षण' लगा दिया गया हो। इसी प्रकार 'दिव्य-नेत्र' वत् दूसरी इन्द्रियाँ मनोबल से असाधारण शक्ति से युक्त होकर अतीन्द्रिय पदार्थों का रूपवत् शब्द और स्पर्शात्मक विज्ञान कराने में समर्थ हो जाने पर अपनी सीमा तथा शक्ति से अधिक कार्य कर जाती हैं। जैसे हमारे स्थूलदेह में विभिन्न पदार्थों के ग्रहण तथा निस्सरण के लिए भिन्न-भिन्न 'पथ' बने हुए हैं, वेसे ही इस 'दिव्यनेत्र' की रश्मियाँ 'प्रकाश-धारा'वत् 'आज्ञाचक्र' के पथ से

ॐ चित्र संख्या १५ का विवरण—सूक्ष्म चक्षु; ज्ञान नेत्र या दिव्य नेत्र :—

समाहित स्थिति में मनस्तत्त्व अपनी दिव्य-शक्ति को सूक्ष्म चक्षुः के साथ जोड़ कर अति दूरस्थ सूर्य एवं पृथ्वी के स्वरूप का विज्ञान और दर्शन योगी को करा रहा है।

तथा सीधी भी आती जाती हैं। अर्थात् 'दिव्यदृष्टि' की इन संगठित सी रश्मियों को यह 'आज्ञाचक्र' बाहर फेंकता है—प्रतिक्षिप्त करता है। सहस्रार के समीप ही 'आज्ञाचक्र'की स्थिति या रचना यह सिद्ध करती है कि संकल्प के साथ ही 'दिव्यनेत्र' की रश्मियाँ झट बाहर निकल 'जीवात्मा'की आज्ञा का तुरन्त पालन करती हैं। प्राय: 'आज्ञाचक्र'के द्वार से यह बौद्धिक-संकल्प बाहर जा कर कार्य करता है। जाग्रत्काल में हमें इस तथ्य का भान नहीं होता। चित्रों में जो 'मदन-दाह' का दृश्य चित्रित किया गया है वह इसी तथ्य का पोषक है कि भगवान् 'रुद्र' ने अपना संकल्प इसी अभ्यस्त 'आज्ञाचक्र' के मार्ग से भेजा था। 'शंकर' जैसे दिव्य, सिद्धपुरुष, इसी द्वार से 'शाप' और 'वरदान' के द्वारा किसी को 'अपकृत' तथा 'उपकृत' कर देते थे। और यह ठीक है कि योग-पथ में प्रवेश किए बिना सर्वसाधारण पर यह रहस्य नहीं खुलता, क्योंकि यह भी अतीन्द्रिय'-ज्ञान है। इस प्रकार यह एकदेशी 'जीव' इस स्थूलदेह में आबद्ध हुआ भी 'आज्ञाचक्र' के दिव्य-द्वार से झांक कर सम्पूर्ण सृष्टि का अवलोकन, उपकार-अपकार भी कर सकता है। संयमजयी 'सिद्धपुरुष' तो सीधे अपनी 'प्रतिभा के द्वारा ही सब विज्ञानों की प्राप्ति में सफल हो जाते हैं। चित्र से यह दृश्य स्पष्ट हो जाता है। इस का पूर्वभाग 'अन्नमयकोष' में वर्णित आज्ञा चक्र' पृष्ठ ७७ पर पढ़ लें।

३. **'ब्रह्मरन्ध्र' तथा 'आनन्दमय' कोश में समता-विषमता का दर्शन**—देखा है 'ब्रह्मरन्ध्र' गत मन-बुद्धि-इन्द्रियों की 'पंचतन्मात्रिक-मण्डल' से संगठित आकृति निचले हृदयगत चित्त, अहंकार, सूक्ष्मप्राण के मण्डलों से बनी शुभ्र-शुक्ल छोटी-सी अण्डाकृति से मिलती-जुलती है। किन्तु दोनों में भेद इतना-सा है कि 'ब्रह्मरन्ध्र' के इन सब पदार्थों का 'संगठित मण्डल' एक कुक्कुटाण्ड के समान बड़ा, अतिप्रदीप्त-स्वर्णमय, तथा बुद्धि-मण्डल के शिखर पर स्थित 'मनस्तत्त्व' शुक्र तारे के समान चमक रहा है। इस से भिन्न हृदयगत 'आनन्दमय कोश' का सं-गुम्फित स्वरूप शुभ्र-श्वेत-सौम्य प्रभा से युक्त कपोत के अण्डे के समान छोटा है। चित्तमण्डल के गर्भ में ध्यानावस्थित होने पर 'जीवात्मा' की स्थिति भासती है; और ये दोनों ज्योतिर्मय अण्ड परस्पर रश्मियों के द्वारा आबद्ध हैं। यदा-कदा ब्रह्मरन्ध्र सहित समस्त मस्तिष्क एक 'छत्र' के समान भासता है और इस के साथ रश्मियों द्वारा आबद्ध 'आनन्दमय कोश' लटकता-सा दीखता है। ये दोनों भाव इस एक ही सामने के १ चित्र (संख्या १६) से स्पष्ट प्रकट हो रहे हैं। ये शब्द प्राय:

---

१ चित्र संख्या १६ का विवरण—ब्रह्मरन्ध्रस्थ सूक्ष्म शरीर तथा हृदयस्थ कारण शरीर के मण्डलों में समता और विषमता का दर्शन :—

ब्रह्मरन्ध्रस्थ पंचतन्मात्रिक मण्डल में, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के मण्डल तथा हृदयस्थ आनन्द-मय का मण्डलाकार संगुम्फित स्वरूप। दोनों ही शुभ्र, श्वेत. सौम्य प्रभासंयुक्त मण्डलपरस्पर सूक्ष्म-रश्मियों से सम्बद्ध हैं।



चित्र संख्या १६

ब्रह्मरन्ध्रस्थ सूक्ष्म शरीर तथा हृदयस्थ कारण शरीर

दोहराने पड़ते हैं कि इस 'दिव्य दर्शन' और इस के 'वर्णन' में महान् अन्तर है जो किसी प्रकार पूरा नहीं किया जा सकता। ये सभी आन्तरिक-दृश्य केवल 'दर्शनीय मात्र', किन्तु 'अवर्णनीय' हैं।

४. **अतीन्द्रिय विज्ञान प्राप्त करने** में स्थूल इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। ध्यानस्थ हो कर इस विषय का विवेचन किया जाए तो इस प्रकार प्रतीत होता है कि साधक के संकल्प के अनुसार 'सत्त्व' से अतिभास्वर बनी 'बुद्धि' की आज्ञानुसार मन' तुरंत ही अपनी शक्ति देकर 'सूक्ष्म नेत्र' को 'दिव्य दर्शन' के योग्य बना देता है। 'तब यह 'दिव्य दृष्टि' 'रश्मियों' के रूप में टार्च की बंधी ज्योति के समान 'आज्ञाचक्र' से अथवा सीधी ही ब्रह्मरन्ध्र से आकाश की ओर चल देती है और साधक के संकल्प के अनुसार अन्तरिक्ष को भेदन करती हुई तारागण, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य आदि के निवास-स्थान 'द्युलोक' में फैल कर साधक को मनोवांच्छित दर्शन तथा विज्ञान करा देती है। फिर यदि 'भूगर्भस्थ' किसी 'तत्त्व' को जानने का संकल्प बन गया है तो यह 'दिव्य दृष्टि' भूगर्भ में प्रविष्ट हो कर वहां के पदार्थों का साक्षात्कार तथा विज्ञान प्राप्त करा देगी। सारांश यह है कि **'प्रवृत्याऽऽलोकन्यासात् सूक्ष्म-व्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्'** सूत्र ❀ कथित निर्देश के अनुसार ही स्थूल इन्द्रिय अगोचर सूक्ष्म-पंचतन्मात्रा के परमाणु अहंकार-महत् आदि; नेत्रों से ओझल पड़े भूगर्भ गत धातु-उपधातु-स्वर्ण, रजत, कोयला, पेट्रोल, जल आदि; तथा अति दूरस्थ आकाश-पाताल में स्थित किसी भी पदार्थ का ज्ञान-विज्ञान, आसनस्थ साधक को 'दिव्य दृष्टि' के द्वारा हो जाता है; केवल संकल्प-बल की आवश्यकता है। यह दृश्य भी 'चित्र सं० १५ पृ० १६१ से स्पष्ट हो रहा है।

इस सूक्ष्म जगत् में देश, काल, दिशा की सीमा नहीं है। इसलिए नेत्रों पर एक 'दूरवीक्षण' लगा देने के समान यह इन्द्रियराज 'मन' अपनी शक्ति से प्रत्येक इन्द्रिय को असाधारण शक्ति-सम्पन्न बना देता है। तब इस असाधारण मानसिक शक्ति को पाकर ये इन्द्रियां अपनी गति, सीमा, और सामर्थ्य से अधिक कार्य कर लेती हैं। इस साक्षात्कार के पोषक **'तारकं सर्वविषयं, सर्वथाविषयम्, अक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्'** (योग. ३-५४) सूत्र के अनुसार भी प्रज्ञाऽऽलोक के समान अथवा इससे भी बलिष्ट 'विवेकज ज्ञान' का प्रकाश तो दृष्टिपात मात्र-से किसी भी पदार्थ का विज्ञान तुरन्त करा देता है।

५. **प्रत्याहार दशा का साक्षात्कार**—विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी मन, बुद्धि और इन्द्रियों की क्या स्थिति होती है? इसे ध्यानस्थ होकर देखने पर जो दर्शन होता है वह आगे लिखते हैं। आपने 'मनोमयकोशान्तर्गत प्रत्याहार' के स्वरूप को तो पढ़ा ही होगा, यहाँ पर उसके विषय में किया गया साक्षात्कार दर्शाते हैं। प्रथम यह स्मरण रखिए कि ध्यानस्थ दशा में इन की स्थिति का निर्देशक तो 'चित्त' होता है और 'अहंवृत्ति' करण बनी होती है। अब—जब हम अपने संकल्प-विकल्पों का अभाव करते हुए एकाग्रता में जाते हैं तब एकाग्रता से पूर्वावस्था में इन्द्रियां मन, बुद्धि, ये तीनों ही शान्त दीखते हैं। जैसे निर्वात स्थान में दीपक की शिखा शान्त-

❀ योग० पा०३। सू० २५।

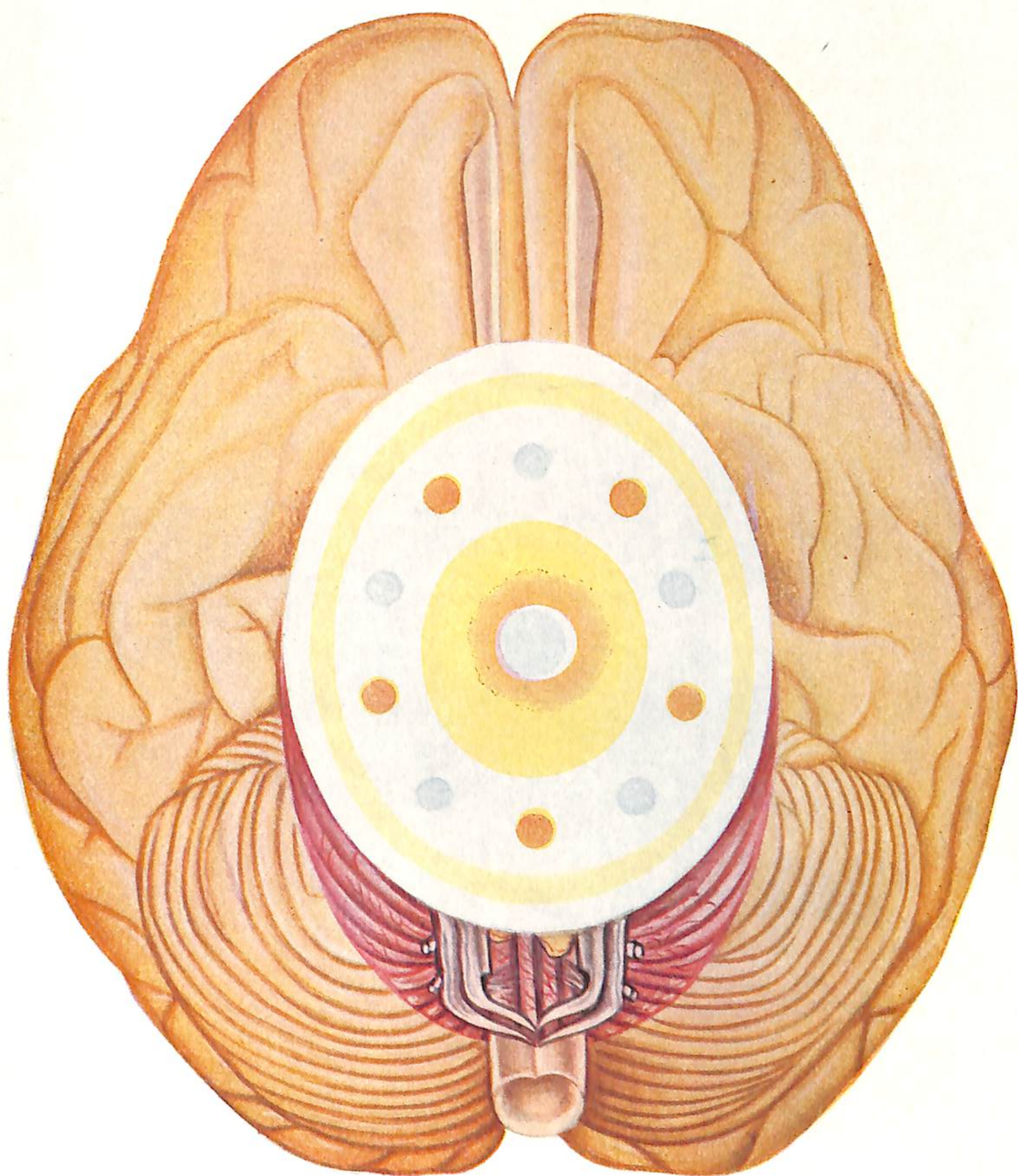
स्थिर भासित होती है। किन्तु उस दीपशिखा को समीप से देखा जाए तो उस में प्रकाश के कणों में हो रही गति के रूप में ज्वलन रूप क्रिया स्पष्ट ही दीखती है। इसी प्रकार शान्त दीखने वाले मन, बुद्धि और इन्द्रियों के क्रियाशील न होने पर भी इन में हो रहा स्वाभाविक-परिवर्तन अब भी दीखता है। प्रत्याहार का अर्थ इन्द्रिय तथा मन का 'विषयों' के ग्रहण करने में प्रवृत्त न हो कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थिर हो जाना ही है। इस 'प्रत्याहार' दशा में ये ऐसे ही दीखते हैं, जैसे निर्वात स्थान में रश्मि-वहीन अंगार पड़ा हो, अथवा तन्द्रा-मग्न, मनुष्य अपने नेत्रों को कभी खोलता और कभी मूंद लेता हो,किंवा एक स्थान पर बैठे जुगनू की पुच्छ कभी जलती हो कभी बुझती हो। इसी भाँति इन इन्द्रियादियों के प्रकाशों में 'प्रदीप्तिरूप' स्वाभाविक परिणाम होते हुए भी ये सब स्थिर-से दीखते हैं। यदि इन में यह स्वाभाविक परिणाम न हो तो ये दीख भी नहीं सकते। हाँ, इन में इस समय विषय-सम्पर्क से होने वाली चपलता नहीं होती है। इन बाह्य प्रकाशों के जलने-बुझने के दृष्टान्त से 'मन' की संकल्प-विकल्पात्मक दशा को दर्शाना अभीष्ट है। अर्थात् 'मन' की स्वाभाविक प्रकाशशीलता के बने रहते हुए भी इस समय इन्द्रियों, मम और बुद्धि किसी में भी ऐसा क्षोभ नहीं होता जैसा विषय से प्रतिबिम्बित होते समय होता है। जो क्षोभ है भी, वह इसलिए है कि शारीरिक सूक्ष्म-व्यापार इस समय भी चालू है। जैसे, रक्त-परिभ्रमण, पचन, श्वसन आदि क्रियाओं को, मन अब भी प्राण के द्वारा करता है। अतः मन में इतनी जागृति आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि 'चित्तनिरोध' की सूक्ष्मतम अवस्था से स्थूल इन्द्रियादियों की इस 'प्रत्याहार' दशा को अपने अन्दर देखना, अर्थात्, 'स्व' से 'स्व' का बोध करना भी सम्भव नहीं है। और 'निरोध' एवं 'प्रत्याहार' इन दोनों अवस्थाओं में भी 'चित्त तथा 'मन' आदि में स्वाभाविक परिणाम तो होता ही रहता है। इसलिए योगी अपनी प्रज्ञाऽऽलोक दृष्टि से किसी दूसरे अभ्यासी के शरीर में प्रविष्ट होकर इन दोनों मंडलों अथवा दोनों कोशों की आन्तरिक स्थिति का बोध कर सकता है। 'स्व' से 'स्व' का बोध होना कठिन है, अतः अपनी स्वाभाविक परिणाम-शीलता के कारण 'चित्त' एवं 'पदार्थ' दोनों ही के क्रियाशील बने रहने से अतीन्द्रिय-विज्ञान प्राप्ति के लिए सर्वत्र 'प्रज्ञाऽऽलोक' की आवश्यकता रहती है। क्योंकि, विषय-भेद के कारण प्रत्येक इन्द्रिय का व्यापार-भेद एवं गुणों की तारतम्यता तथा इन्द्रिय और अर्थ-संयोग के समय भी इन्द्रियों की चेष्टाओं और प्रकाशों में भिन्नता होने के कारण अति शीघ्र हो जाने वाले इन सबके पारस्परिक व्यापार को परिलक्षित करने का एकमात्र साधन दिव्य-प्रज्ञा का आलोक ही है। इस 'प्रत्याहार' दशा को दर्शाने वाला * 'चित्र' संख्या १७ को देख कर आप 'साक्षात्कार' को समझ लेंगे।

---

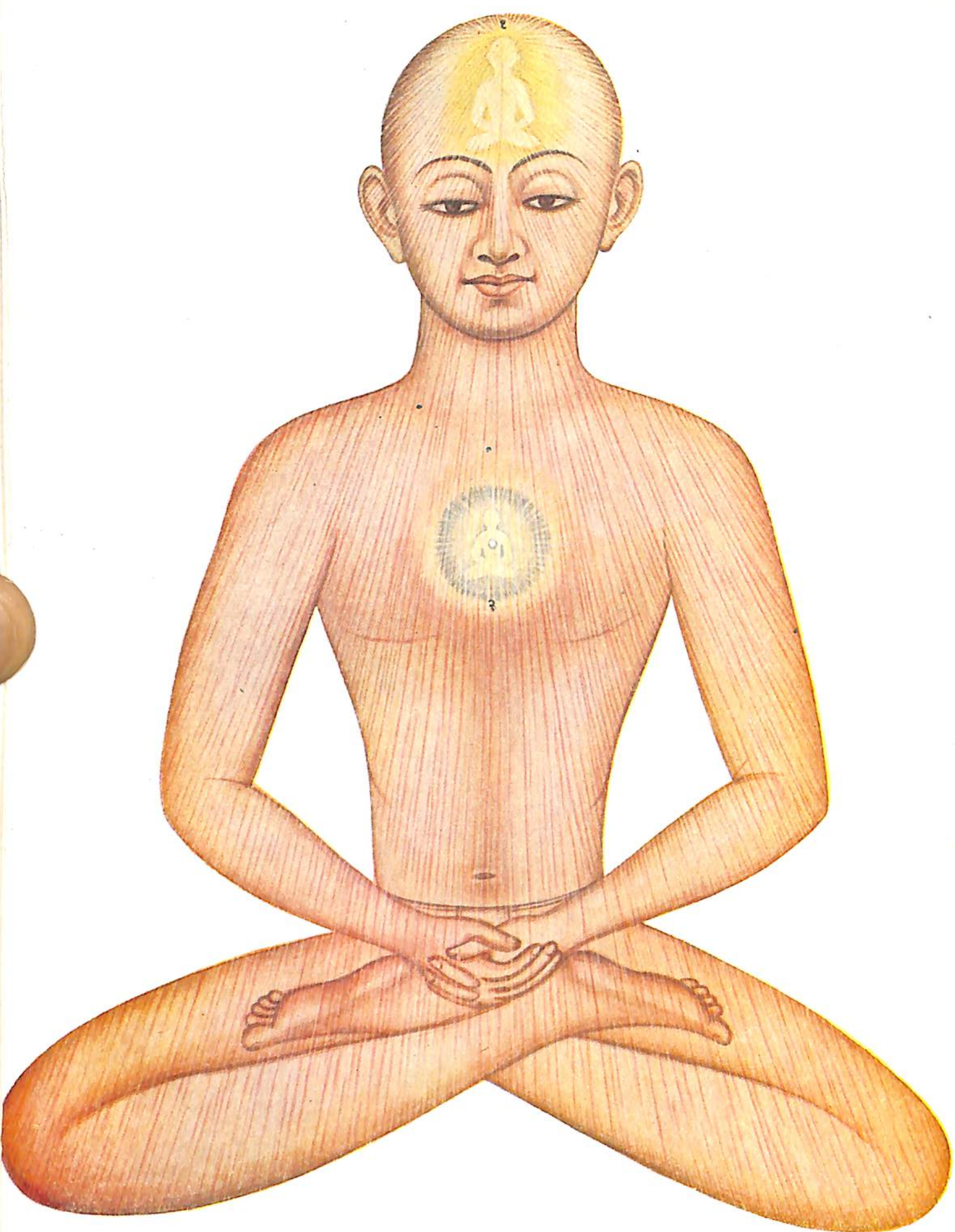
* चित्र संख्या १७ का विवरण—प्रत्याहार का साक्षात्कार :—

विषयों से निवृत हुई, शान्त, अन्तर्मुखी इन्द्रियों एवं मन,बुद्धि के मण्डलों की प्रत्याहार दशा का दर्शन। निर्विकल्प या असंप्रज्ञात समाधि में भी इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि के मण्डलों की ऐसी ही स्थिति होती है किन्तु सत्त्वगुण एवं प्रकाश की बाहुल्यता होती है।



चित्र संख्या १७

प्रत्याहार का साक्षात्कार



चित्र संख्या १८

सूक्ष्म तथा कारण शरीर के दर्शन का

६. **सूक्ष्म तथा कारण शरीर के दर्शन**—अभ्यासियों को कभी-कभी अपने सूक्ष्मशरीर के दर्शन इस प्रकार से भी होते हैं। साधक जब अन्तर्मुख होता है तब वह 'ब्रह्मरन्ध्र' में स्थित अपने सूक्ष्मशरीर के द्वारा आन्तरिक सब व्यापार सम्पादित होते हुए देखता और नित्य ही देखा करता है। किन्तु मानव-आकृति के प्रतिरूप—कभी छोटे कभी बड़े; किन्तु प्रकाशमय, और कभी ज्योति से व्याप्त छाया के समान सन्मुख खड़े अथवा ध्यानस्थ बैठे दीखते हैं। कभी इस प्रकाशित छाया-मूर्ति के हृदय-देश से सौम्य-ज्योति की आभा निकल कर इस छाया-प्रतिमा को व्याप्त करके बाहर भी चतुर्दिक फैलती दीखती है। मानो हम अपने तैजस्-शरीर को दर्पण में देख रहे हों। कभी यह प्रतिमा अंग-प्रत्यंग-विहीन, काया के आकार से बड़ी, अति दूर, एक छाया-कृतिवत् दीखा करती है। ये साथ के 'चित्र'* संख्या १८ से दोनों रूप स्पष्ट हो जाते हैं जो कि हमारे सूक्ष्मशरीर के हैं।

इस प्रकार साक्षात्कारों के कतिपय उदाहरण वा दृष्टान्त चित्रों सहित दे दिए हैं। इन से आपको आन्तरिक दृश्यों के स्वरूपों को देखने और समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। अब आप का विज्ञानमयकोश सम्बन्धी विज्ञान समाप्त होता है; और इसका सार निम्नलिखित है :

विशेष वक्तव्य—जो पंचमहाभूत तथा इनके 'कारण' 'सूक्ष्मभूत' पंच-तन्मात्रिक रूप में विद्यमान हो कर इस सृष्टि में सदा ही कुछ-न-कुछ ध्वंस और निर्माण करते रहते हैं, उनके स्वरूपों एवं मानव-शरीर के साथ प्रतिक्षण चल रही व्यापार-व्यवस्था का दर्शन तथा विज्ञान आपने प्रत्यक्ष देखा और समझ लिया होगा, ऐसी आशा है। किन्तु इस के साथ आप यह हृदयंगम करलें कि इस मर्त्यलोक के सभी मनुष्य इन पंचतन्मात्राओं से निर्मित सभी दिव्यभोग हों अथवा पंचभौतिक स्थूलभोग; इन दोनों का सदा उपभोग करते रहते हैं। किन्तु इन भोगों से मुग्ध मूर्ख व्यक्ति पशु के समान लिप्त होकर दुखः-चक्र में फंसा रहता है; जब कि ज्ञानीजन इन सब भोगों को ज्ञान-वैराग्य पूर्वक त्याग-भाव से अपने उपयोग में लाते हुए दुःख-निवारक मोक्षपथ पर अग्र-सर होकर मुक्त हो जाते हैं। यह स्पष्ट भेद दोनों में सबको दीखता है। योग-दर्शनकार ने विशेष रूप से भूतजयी ऐसे सिद्ध-पुरुषों को सचेत किया है, कि जो पंचतन्मात्राओं से दिव्य पदार्थों का निर्माण करके उनका उपयोग करने में ऐसे सिद्ध-हस्त हो गए हैं जैसे एक कुशल हलवाई घी चीनी आटे आदि से नित्य नूतन मिष्ठान्न बना कर स्वयं भोग लगाता तथा दूसरों की रसना-तृप्ति भी करता है; एवं एक सु-पाचक विविध स्वादिष्ट भोजन बना कर दूसरों की परितृप्त कर देता है। ऐसे 'सिद्धों' की पूर्वप्रवृत्ति प्रायः लोक कल्याण के लिये ही होती है, और ये लोक-कल्याण करते भी हैं। किन्तु लोक-कल्याण भावना से प्रेरित हो कर इन 'विभूतियों की सुन्दर आग' से खेलना कहां तक उचित

---

* **चित्र संख्या १८ का विवरण—सूक्ष्म तथा कारण शरीर का दर्शनः—**

१ ब्रह्मरन्ध्रस्थ सूक्ष्म शरीर ने अपनी दिव्य रश्मियों से स्थूलशरीर एवं हृदयस्थ कारण-शरीर का तेजोमय दिव्य रश्मियों से आच्छादित किया हुआ है।

२. हृदय में अस्मितानुगत समाधि में आत्म-विज्ञान की एक स्थिति-विशेष का दर्शन।

होगा, यह तथ्य विद्वद्जन स्वयं निर्धारित करलें। योग-सूत्र स्पष्ट कहता है कि 'ते **समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः'** (योग०पा.३ सू.३७) अर्थात् ये सब 'संयमजय' से प्राप्त होने वाली सिद्धियां स्वरूपस्थिति में ले जाने वाली 'असम्प्रज्ञात-समाधि' के लिए बाधक हैं। इस बात को प्रत्यक्षतः सभी देखते हैं कि पांच भौतिक-पदार्थों से निर्मित स्वादु षट्रस भोजन एवं सुखद-सामग्री एक ज्ञानी योगी को भी मुग्ध करके मोह, राग, द्वेषादि विकारों में बांध देती हैं। तब क्या ये 'अतिदिव्य विषय' बुद्धि को विचलित नहीं करेंगे ? अतः 'आध्यात्मपथ' के प्रत्येक पथिक को इन विभूतियों से मुख मोड़ कर सदा विवेक का आश्रय लेते, और काया तथा भोगों की नश्वरता को सन्मुख रखते हुए परम वैराग्य को साथी बनाकर परमसुधामय-धाम भगवान को पाने के लिए ही अपने सब प्रयत्न करने चाहिएं। यही मार्ग सब के लिए श्रेयस्कर तथा आनन्ददायक और शान्तिप्रद है।

देखिए, यह भागवत विधान कैसा 'प्रिय' है कि जो आत्मविद् योगी, भक्त, ज्ञानी, अपने विज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति के बल से गुणातीत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें न तो किसी 'सूक्ष्म' न 'स्थूल' पदार्थ के बनाने की आवश्यकता पड़ती है, और न वे बनाते ही हैं। उन्हें तो लौकिक भोग्य पदार्थों के समान ये दिव्य भोग भी स्वयं आ मिलते हैं। उनके समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार तथा भगवत्-प्राप्ति के पश्चात् 'कृतकृत्य' होकर इनका जीवन केवल एक 'भोगयोनि' मात्र बन जाता है, और इस अवस्था में इन के सब कर्म एक 'यन्त्रवत्' निःस्पृह भाव से होते रहते हैं। भोगोच्छेद के लिए कुछ काल तक ठहरे देह में खान-पान, श्वास-प्रश्वास, मल-मूत्र त्यागने की स्वाभाविक क्रिया होती रहती है। ये महान् आत्मा सब द्वन्द्वों से विरक्त इस संसार में एक 'निद्रित-व्यक्ति' समान रहते हैं। इन के सब कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं। ये इच्छा पूर्वक कोई भी कर्म या भोग नहीं करते। **'चक्र भ्रमण वत् धृत-शरीरः'**(३।८२) सांख्य शास्त्र के सूत्र के अनुसार कुछ प्रारब्ध के भोग जो शेष होते हैं उनके आश्रय ही यह शरीर ठहरता है। जिन प्रारब्ध कर्मों से इस शरीर का निर्माण हुआ था उनके समाप्त होते ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर अपने-अपने कारणों में जा मिलते हैं और आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

इति श्रीमदखण्ड ब्रह्मचारि योगिप्रवर श्री व्यासदेव महात्मप्रणीते
आत्म-विज्ञाने सु भाषा विभूषिते
विज्ञानमयकोशो नाम चतुर्थो ऽध्यायः सम्पूर्णः।

—:o:—

ॐ

अध्याय : ५

आनन्दमयकोश

और उसका विज्ञान

जीव सम्बन्धी सूक्ष्मतम विज्ञान की दृष्टि से यह 'आनन्दमयकोश' अन्तिम है। इसके नाम हैं—हिरण्यमयकोश, हृत्कमल, हृत्चक्र, हृदय दहर, हृदय गुहा, हृदय पुण्डरीक, अनाहत |चक्र, हृदयाकाश. हृत्पद्म, कारण-शरीर, लिंग-शरीर ब्रह्मपुर और आनन्दमयकोश।

आनन्दमयकोश का स्वरूप—हृदय के मध्य में एक छोटी-सा बेदाना श्वेत अंगूर के तुल्य अण्डाकृति एक रिक्त पिंड है। पुराणों में इसे 'ज्योतिर्लिंग' के नाम से कहा गया है।

आनन्दमयकोश की स्थिति—मानव-देह में वक्षःस्थल के मध्य दोनों फुपफुसों में छिपा और उनसे घिरा 'हृदय' नाम का जो रक्ताशय है, जहाँ से रक्त परिभ्रमण के कारण देह की त्वचा से लेकर अस्थियों तक एवं देह में फैले ज्ञानसूत्रों, गतिवाह प्राण-सूत्रों और अंग-प्रत्यंगों को जीवन, शक्ति तथा पुष्टि मिलती है, उसी में ही लिंग-शरीर अथवा आनन्दमयकोश है इसमें 'आत्मा' अवस्थित है। यदि हृदय को लम्बाई की दिशा में काट कर दो भागों में विभक्त कर दिया जाय तो एक 'छोटे बेदाना' अंगूर के समान आकार और प्रकार का यह एक पोल है। इसी में हमारा आनन्दमयकोश व्याप्त है। रक्तागार हृदय रक्तशोधन, रक्त सञ्चार, एवं जीवनी-शक्ति का प्रधान केन्द्र है। हृदय अशुद्ध रक्त को आकर्षित करता–खींचता है, और शुद्ध रक्त को देह भर में फैलाता है। इस रक्त के साथ-साथ ज्ञान और क्रिया भी देह भर में फैलती जाती है। एक-देशीय अणु 'आत्मा' अपने समीपतम 'करणों'—चित, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय और प्राण के द्वारा देह का संचालन करता हुआ अपने भोग और अपवर्ग को निष्पन्न करता है। इस कार्य-शैली का वर्णन भी यथास्थान आयेगा। यदि हृदय-यन्त्र कभी किसी भी कारण से अवरुद्ध हो जाता है 'जीवात्मा' अपने प्रजा-वर्ग प्राण, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण चतुष्टय सहित निकल कर भाग जाता है और जीवन-तंत्री बन्द हो जाती है—सब खेल ही समाप्त हो जाता है।

प्रायः मस्तिष्क-विकार के समान हृदय के अनेक रोगों में भी जीवन बना रहता है। मस्तिष्क-विकार से मनुष्य बहुधा पागल—उन्मत्त होते देखे जाते हैं और उनमें जीवन बना रहता है; किन्तु जीवन दाता हृदय के स्थब्ध होते ही (हार्टफेल होते ही) जीवन भी समाप्त हो जाता है। यह क्यों ? इसीलिए कि जीवन का स्वामी हृदय में वास करता है, और वह हृदय की गति के रुकते ही निकल भागता है।

प्रश्न—वर्तमान काल में डाक्टर शल्यकर्म आपरेशन में बहुत उन्नति कर रहे हैं। हृदय को आपरेशन करते समय उसे शरीर के बाहर निकाल कर मेज़ पर रख लेते हैं और चीराफाड़ कर के उसे ठीक कर उसी स्थान में लगा देते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि दूसरे के हृदय को भी लगाया जा सकता है। ऐसा भी किया गया है कि एक के सिर को आपरेशन से अलग कर के पुनः उसी के साथ लगा दिया गया। एक कुत्ते के बच्चे का सिर दूसरे कुत्ते के बच्चे के सिर के स्थान पर लगाया गया, और वह पूर्ववत् कार्य करने लगा। यहाँ तक भी भविष्य में होने की संभावना है कि एक सिर को काट कर उस की जगह दूसरा भी लगाया जा सकेगा। इन परिस्थितियों में कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, और आत्मा की क्या परिस्थिति होगी ?

उत्तरः—स्थूल शरीर का कोई भी अङ्ग प्रत्यक्ष काटा जाये, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और आत्मा तब तक नहीं निकलते या निकल कर जाते, जब तक सम्पूर्ण शरीर के रक्त और प्राण के संचार सर्वथा बन्द नहीं हो जाते। हृदय का आपरेशन करते समय रक्त संचार के लिये कृत्रिम हृदय या कोई नली-ट्यूब या यन्त्र साथ में लगा दिया जाता है जिस से रक्त-संचार बराबर बना रहे, उस समय कारण शरीर कृत्रिम हृदय (यन्त्र) से कार्य लेने लगता है, क्योंकि कारण शरीर को रक्त शुद्धि और रक्त सञ्चार के लिये उसे कुछ न कुछ यन्त्र मिल गया। आत्मा और कारण शरीर वहां ही वर्तमान रह कर उस दूसरे यन्त्र रूपी साधन से कार्य लेने लगते हैं। रक्त सञ्चार आवश्यक है, यही सारे स्थूल शरीर में जीवन का सञ्चार करता है। इस के बन्द हो जाने पर शीघ्र ही हार्ट फेल या मरण हो जाता है। कारण शरीर दूसरे कृत्रिम हृदय में सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। और अपना कार्य पूर्णतया चालू कर देता है। डाक्टर और वैद्य ऐसा भी करते हैं कि किसी के हाथ पैर की कोई हड्डी यदि टूट जाये या खराब हो जाये तो उस की जगह कृत्रिम हड्डी या लोहे की शलाका, या दूसरे आदमी की हड्डी लगाकर कार्य चला दिया करते हैं। जैसे एक यन्त्र का कोई पुर्ज़ा खराब हो जाये, तो उस की जगह दूसरा पुर्ज़ा भी लगा कर काम चला लिया जाता है। यही बात हृदय के विषय में भी है।

दूसरा उत्तर—कुत्ते के बच्चे के सिर पर एक दूसरा सिर लगा देने या पहिले सिर को काट कर उसकी जगह लगा देना, इन दोनों परिस्थितियों में वह सूक्ष्म शरीर इन से कार्य लेने लगता है। जो कि इस सारे स्थूल शरीर का अभिमानी है। स्थूल शरीर के किसी एक अङ्ग के परिवर्तन हो जाने पर सूक्ष्म में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इस के लिये सिर होना चाहिए चाहे एक हो या दो दो। जब दो सिर हो जायेंगे या लगाये जायेंगे तब यह होगा कि जैसे चक्षु इन्द्रिय एक है परन्तु गोलक दो हैं इसी तरह

नाक कान भी। दूसरा सिर लगने पर सूक्ष्म इन्द्रियां तो एक ही रहेंगी, परन्तु गोलक चार चार हो जायेंगे, इस से सूक्ष्म शरीर में कोई परिवर्तन या विकार नहीं होगा। वह पूर्ववत् कार्य करता रहेगा। पहले एक सिर से करता था अब दो से करता है। दक्ष-प्रजापति के भी दूसरे का सिर लगाया गया था। ब्रह्मा के चार मुख, रावण के दस सिर की जो बात है संभव है उस समय मुख और सिर लगाने की विद्या प्रचलित हो। बूढ़े से जवान बनाने की कल्प विद्या तो बहुत प्रचलित थी। अब पश्चिम ने भी इस विद्या का पुनरुद्धार किया है।

इसे पुनः इस प्रकार समझें कि हृदय और सिर को काट कर दूसरा लगाने से आत्मा, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के भोग कर्म गुण व्यवहार पूर्ववत् ही होते हैं। इन में कोई भेद नहीं आता। ये काटने से नहीं कटते हैं। भोग कर्म ज्ञान का साधनी भूत स्थूल शरीर है। इस के अंगों प्रत्यंगों का परिवर्तन किया गया है। भोग और मोक्ष सम्पादन के लिये सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर मोक्ष तक रहेंगे। स्थूल शरीर समय समय पर बदल कर साधन का हेतु बनता रहेगा।

हृदय में आत्मा का आवास—हृदय के भौतिक आकार-प्रकार का पूरा वर्णन 'अन्नमयकोश' में कर आये हैं। यहाँ तो इतना ही दर्शाना अभीष्ट है कि पंच-कोशों के स्वामी 'जीवात्मा' का आवास इस रक्ताशय हृदय के मध्य में स्थित 'आनन्दमयकोश' में है, जैसा कि, अन्नमयकोश के चित्र संख्या १ पृष्ठ ३२ से स्पष्ट है।

आनन्दमयकोश के विभाग—एक दुर्ग के समान सुदृढ़ बनी अयोध्यानामी देवपुरी इस मानव-देह में एक नाशपाती अथवा अधोमुखी मुकुलित कमल-कलिका के समान हृदय के मध्यगत एक लम्बूतरे बेदाना अंगूर के परिमाण पोल—'बीजकोश'—में भास्वर स्वर्ण-अण्ड की तरह विराजमान मानव का 'आनन्दमयकोश' है, जो ६ ज्योतिर्मय मण्डलों का एक संगठित मण्डल है। यह एक अति मनोज्ञ 'ज्योतिर्मय' छोटे से अण्डाकार पिंड के समान दीखता है।

प्रथम मण्डल—ब्रह्म—सब से बाहर का प्रथम मण्डल 'ब्रह्ममण्डल' है। 'ब्रह्म' यद्यपि सर्वव्यापक है, सर्वदेशी है, उसको मण्डल कहना उपहास-मात्र कहा जा सकता है। किन्तु यह उपहास की बात नहीं है। जैसे व्यापक आकाश के 'घटाकाश' 'मठाकाश' आदि खण्डों का व्यवहार लोक में होता है उसी प्रकार हृदयाकाश व्यापी 'ब्रह्म' को समझाने के लिए ही हमने 'ब्रह्ममण्डल' संज्ञा का प्रयोग किया है। हमारा आशय ब्रह्म का कोई विभाग या खण्ड करके दर्शाने का नहीं है। सर्वत्र परमाणु मात्र में भी परिपूर्ण, निरवयव, निराकार व्यापक, अखण्ड सर्वज्ञ ब्रह्म का अभ्यासियों को साक्षात्कार की दृष्टि से समझाने के लिए ही एक मण्डल के रूप में यहाँ निरूपण किया गया है। जब कभी ब्रह्म का दर्शन होता है तो इसी 'मण्डल' के रूप में होता है। इसके दो कारण हैं, एक तो इस प्रदेश का आकार 'मण्डलाकार' है। दूसरा—प्रकृति ने भी हृदय-देश में ब्रह्मदर्शन करने की योग्यता प्रदान की है।

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत् पूर्णमप्रवर्ति,
पूर्णमप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद। (छां०प्रपा० ३, खं० १२, छन्द ६)

अर्थात्, पुरुष के हृदयप्रदेश में जो आकाश है वह वही आकाश है जो बाहर है। जैसे बाहर का आकाश शून्यवत् होता हुआ भी ब्रह्म से परिपूर्ण है, वैसे ही हृदयाकाश भी शून्यवत् होता हुआ ब्रह्म से पूर्ण है। गायत्री इसी ब्रह्म का गान करती है। यह आकाश शून्य नहीं है—ब्रह्म से, परिपूर्ण एकरस है। जो उपासक ऐसा साक्षात्कार कर लेता है वह पूर्ण तथा परिवर्तन-रहित 'श्री' को पा लेता है। यही बाहर का आकाश पुरुष के अन्दर हृदयाकाश के रूप में वर्तमान है। हृदयाकाश में गायत्री द्वारा गाया जाने वाला 'ब्रह्म' जैसे कि पुरुष के बाहर वैसे ही पुरुष के भीतर प्रकाशित हो रहा है।

ॐ अन्त श्चरीस भूतेषु गुहायां विश्वतो मुखः।
त्वं यस्त्वं वषट्कार आयो ज्योती रसोऽमृतम् ॥

(कात्यायनपरिशिष्ट सूत्र)

अर्थात्—हे परमात्मन्! तुम समस्त प्राणियों के भीतर उनकी हृदयरूप गुहा में विचरते हो। तुम्हारा सब ओर मुख है। तुम्हीं यज्ञ हो, तुम्हीं वषट्कार (इन्द्रादि का भाग हविषय) हो। और तुम ही जल प्रकाश रस एवं अमृत हो।

इन वचनों से स्पष्ट सिद्ध है कि अन्तः-करण और ब्रह्म का व्याप्य—व्यापक-भाव सम्बन्ध है। और ब्रह्म-दर्शन का दर्पण हृदयाकाश है। जैसे सूर्य का बिम्ब पाषाण-शिला और जलाशय दोनों में समान रूप से पड़ता हुआ भी स्थिर जलाशय में ही प्रत्यक्ष होता है, पाषाण-शिला पर नहीं; ऐसे ही जीवात्मा तथा परमात्मा का दर्शन भी हृदय रूपी सर वा हृदयाकाश में यथाकार एक 'मण्डल' के रूप में होता है। परन्तु जैसे कि सूर्य बिम्ब के दर्शन से सूर्य का पूर्वापरीय परिज्ञान नहीं होने पाता, ठीक इसी प्रकार हृदय में भी ब्रह्म की ही अनुभूति होती है परिपूर्ण रूप से उसकी सर्वव्यापकता की नहीं।

यह ब्रह्म का मन्डल 'गर्भस्थ'—अपने अन्दर के— सब मण्डलों को व्याप्त करके स्थित है। यह मण्डल अव्यक्त-सा है। इसका वर्ण 'अवर्णनीय' किन्तु कहने को अति शुक्ल, शुभ्र, पारदर्शी और स्वच्छ है। साधक को सब से अन्त में इसका आभास मिलता है। साधना की अपरिपक्व अवस्था अर्थात् 'संयम-जय' की अवस्था प्राप्त न होने तक अभ्यासी को हृदय में ध्यान द्वारा प्रविष्ट होने पर भी प्रथमतः ब्रह्म-मण्डल का आभास नहीं मिलता।

द्वितीय मण्डल—सूक्ष्म प्रकृति—ब्रह्म मण्डल के अन्दर 'अव्यक्त परा प्रकृति' का अंशभूत 'सूक्ष्म-प्रकृति का मण्डल है, जो हल्के-से पीताभ वर्ण का है। यही जीवात्मा का वास्तविक 'कारण' वा 'लिङ्ग शरीर' है। इसका जीवात्मा के साथ अनादि काल से ही सम्बन्ध चला आ रहा है। यथा—**'जाति देश काल व्यवहितानामप्यानन्तर्ये स्मृति संस्कारयोरेक--रूपत्वात्'**

(योग० ४-९),

अर्थात्, वासनायें जाति, देश, काल के पर्दे या आवरण से कट नहीं सकतीं और संस्कार स्मृति के अनुरूप आकृति वाले होते हैं। इस कारण अभिव्यञ्जक या उकसाहट को पाकर संस्कार रूपी वासनायें झट उदबुद्ध हो जाती हैं अथवा जाग पड़ती हैं।

'तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्'
(योग० ४-१०)

अर्थात्, ये वासनायें अनादि हैं क्योंकि प्रत्येक जीव में 'नष्ट न होने की इच्छा अनादि काल से इस के साथ चिपकी हुई है। इस सम्बन्ध का हेतु अज्ञान है योग०-(२-२४) १ यह सूक्ष्म प्रकृति का मण्डल अपने गर्भस्थ सभी मण्डलों को संगठित करके स्थित है। हृदय में ध्यान द्वारा प्रविष्ट होने पर अभ्यासी को अपनी अति सूक्ष्मता के कारण यह मण्डल भी पूर्वावस्था में प्रत्यक्ष नहीं होता,—२ कालान्तर में ही प्रत्यक्ष होता है।

तृतीय मण्डल—सूक्ष्मप्राण—सूक्ष्म प्रकृति मण्डल के अन्दर' 'सूक्ष्म प्राण' का मण्डल है। ध्यान द्वारा हृदय में प्रविष्ट होने पर अभ्यासी को सर्वप्रथम इसी सूक्ष्म-प्राण के मण्डल के दर्शन होते हैं। क्योंकि, इसका वर्ण अति शुभ्र वाष्प अथवा रवि-रश्मियों द्वारा चमचमाते ओस-बिन्दु वा वर्षा-बिन्दुओं के समान ही चमकीला होता है। यह त्रिगुण समुदाय से प्रभावित होता है। सत्त्व बहुलता में यह रवि-रश्मियों के प्रतिक्षेप से वर्षा बिन्दुओं के समान शुभ्र द्युति-युक्त होता है। रजः बहुलता में उन चमकीली बूंदों में कुछ गुलाबी रंग के साथ चपलता आ जाती है। और तमः बाहुल्य में अपार दर्शक वाष्पवत् धुन्धले वर्णों के साथ सूक्ष्म प्राण कुछ मन्थर गति--धीमी चाल वाला हो जाता है। यह सूक्ष्म प्राण का मण्डल चेतन-तत्त्व आत्मा के संयोग से चित्त को चेतन-सा बनाने की क्रिया का स्थूल रूप है जो चमकीली वाष्प के-से रूप में व्यक्त होता है। इसकी प्रतीति अहङ्कार मण्डल के बाहर होती है। यहाँ से आगे समस्त देह में क्रिया होने लगती है। हृदय में हमें कभी पाँच छिद्र भी प्रतीत होते हैं जिनसे होकर विभिन्न प्रकार की रश्मियाँ निकलती हैं। ये छिद्र 'बीज कोश' में हैं। इन्हें छान्दोग्य उपनिषद् प्र० प्रा०३, खं० १३, छं० १ में **'तस्यह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देव-सुषयः'** कहा गया है। इन्हीं छिद्रो से यह सूक्ष्म प्राण जीवन वा जीवनी-शक्ति को प्रसृत करता या फेंकता रहता है। 'ब्रह्मरन्ध्र' से प्रतिक्षण भर रही सूक्ष्म शरीर (बुद्धि तत्त्व+मनस्तत्त्व) की रश्मियों द्वारा, जो कि हृदय से भी सदा ही सम्बद्ध रहती हैं; जीवन का यह सञ्चार इन्हीं रश्मियों के साथ मिल कर देह भर में ऐसे फैल जाता है जैसे जल में कोई रंग वा चीनी, लवण आदि घुल जाते हैं, अथवा जलादि-द्रव्यों में उष्मा फैल जाती है, किंवा प्रातः कालीन आकाश मण्डल में आदित्य की रश्मियां सम-रूप से फैली हुई हैं।

चतुर्थ मण्डल—अहंकार—'सूक्ष्म प्राण मण्डल' के अन्दर ध्यान दृष्टि से देखने पर मयूर ग्रीवा के रंग से मिलता जुलता अति देदीप्यमान मरकत मणिवत् स्वच्छ वर्ण का भास्वर मण्डल दीखता है। मानो, एक शुभ्रवर्ण प्रकाश वाले लैम्प पर हरी चिमनी चढ़ी हो। यह 'अहंकार' का मण्डल है जो कि अस्मिता का स्थूल स्वरूप है। यह मण्डल भी सत्त्वगुण की बहुलता में थोड़ी-सी हरी आभा-युक्त शुभ्र वर्ण का हो जाता है। जैसे

---

१ तस्य हेतुरविद्या। (यो०२-४)
२ सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः। (सांख्य १-१०९)

कि श्वेत वस्त्र को नील दे दिया जाता है। रजः बहुलता में—मयूर-पुच्छ के चन्द्रों वत् वर्ण का, तथा पारदवत् चपल हो जाता है। और तमः बाहुल्य में गहरा हरित नीलिमा युक्त वर्ण लिये हुए मन्थर गति वाला होता है।

पञ्च मण्डल—चित्त—'अहं मण्डल' के अन्दर चित्त मण्डल है। यह जीवात्मा का सदन है जो कि अत्यन्त शुभ्र, शुक्ल, पारदर्शी वर्ण का, मनोरम ज्योति युक्त किन्तु अपनी वृत्तियों द्वारा सदा परिवर्तनशील रंगों वाला होता रहता है। यह चित्त अन्तः-करण का विशेष रूप से ज्ञानात्मक अङ्ग हैं। इस वृत्तिमान् अंग में सदा वृत्ति रूप तरंगें उठती रहती हैं। जैसे, किसी जलाशय में पवन-सम्पर्क से तरंगें उठती और विलीन होती रहती हैं। इसमें प्रतिक्षण वृत्ति रूप परिणाम होते रहने से वृत्ति रूप-सा ही भासता है। ये तरंग रूप वृत्तियाँ संस्कारों को उभारती रहती हैं,जो कि चित्त में निवास करते हैं। त्रिगुणों से प्रभावित वृत्तियोंके कारण यह चित्त 'सत्व बहुलता'में नवनीत हिम, अथवा बगुले के परों जैसा शुक्ल वर्ण, शुभ्र, पारदर्शी, स्वच्छ और सौम्य होता है। रजः बहुलता में अति चपल पारदवत् भासता है। और तमः बाहुल्य में—मानो चित्त पर हल्का मेघ छा गया हो, ऐसा भासता है। यह चित्त जीवात्मा की चेतना—ज्ञान शक्ति का द्योतक और अन्तःकरण का ज्ञान-प्रधान अंग वा भाग-विशेष है। हृदयगत इसी चित्त-गुहा में आत्मा का निवास है।

षष्ठ मण्डल—आत्म—आत्मा का मण्डल सृष्टि में लघुता की दृष्टि से परमाणु से भी छोटा और सूक्ष्मता में ब्रह्म के समान सूक्ष्म है। रंग-रूप में अनुपमेय वा स्वयं ही अपना दृष्टान्त वा उपमा है। परन्तु चित्त के सम्बन्ध से जैसा-जैसा चित्त का रंग-रूप होता है वैसा ही यह भी भासता है। जीवात्मा भी एक अति सूक्ष्म बिन्दाकार में विद्यमान है।

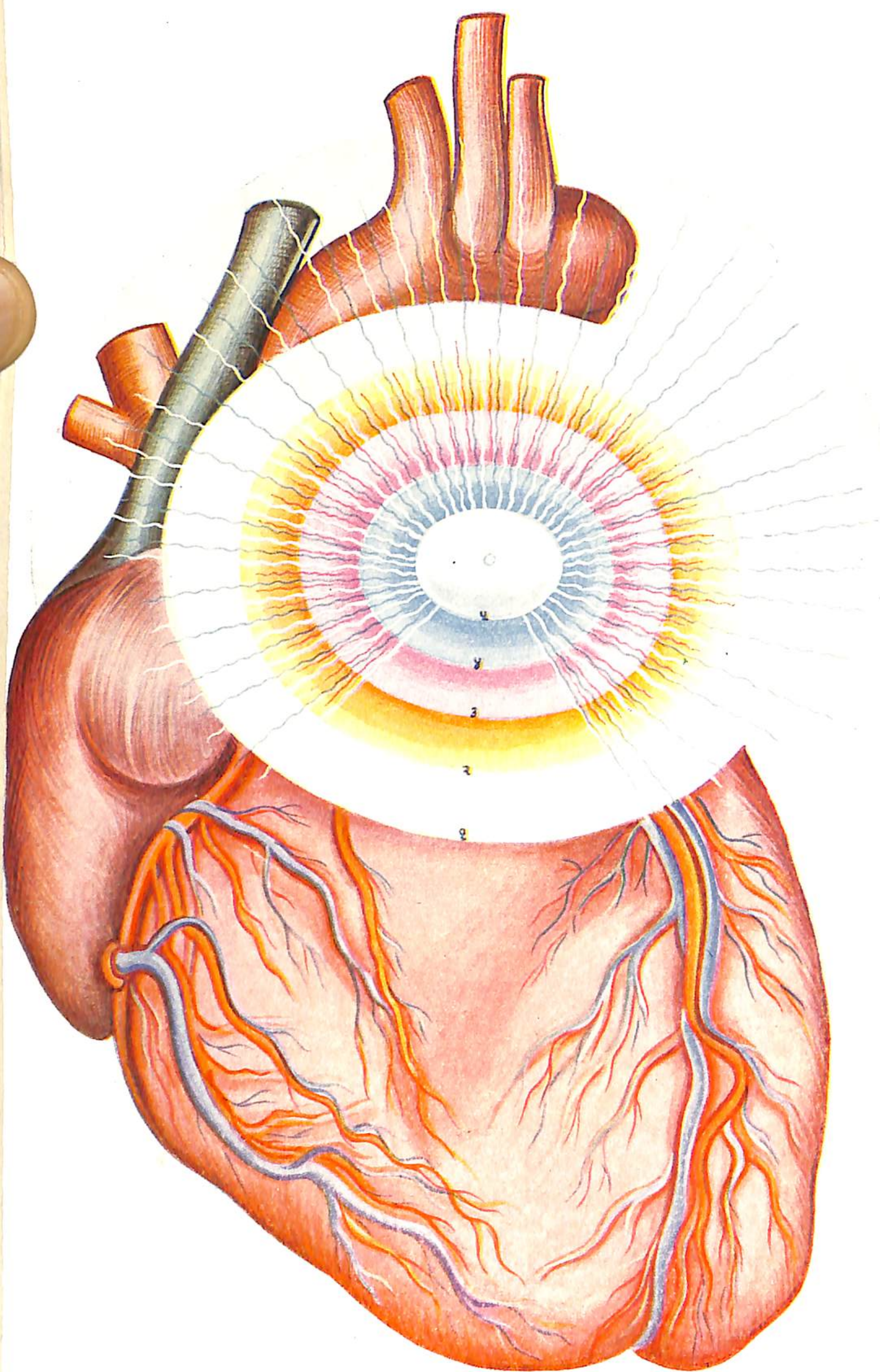
उपरिकथित ये छहों मण्डल संगठित रूप से हृदय-प्रदेश में भास्वर, छोटे-से ज्योतिर्लिंग के समान उद्भासित हैं। जैसे 'विज्ञानमय' कोश में मन, बुद्धि और इन्द्रियों को, 'पञ्चतन्मात्रिक कोश' ने संगठित किया हुआ है ऐसे ही 'आनन्दमय' कोश गत इन सूक्ष्म-प्राण, अहंकार और चित्त सहित आत्मा को सूक्ष्म प्रकृति के मण्डल-कोश वा ढाँचे ने संगठित किया हुआ है। यह सूक्ष्म प्रकृति का मण्डल भी 'अलिङ्ग' प्रकृति या समष्टि प्रकृति का हृदय देशावच्छिन्न रूप से एक अंश-सा ही है। इसी कारण मण्डलों के इस संघात को भगवती श्रुति ने, '**हिरण्ययः कोशः ज्योतिषाऽऽवृत्तः**' विशेषण दिया है। अन्यच्च—

हिरण्मये परे कौशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति तद् विदोत्म विदुः'
(मुण्डक मु० २ खं० २ छं० ९)

में मानों हमारे ही साक्षात्कार का वर्णन हैं कि ज्योतियों में शुभ्रतम ज्योति इस हिरण्मय कोश में उस कला-रहित ब्रह्म का साक्षात्कार आत्मज्ञ करते हैं।

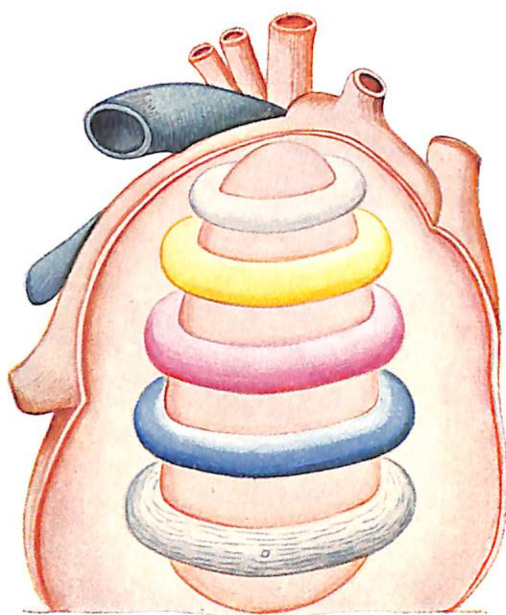
एवमेव—

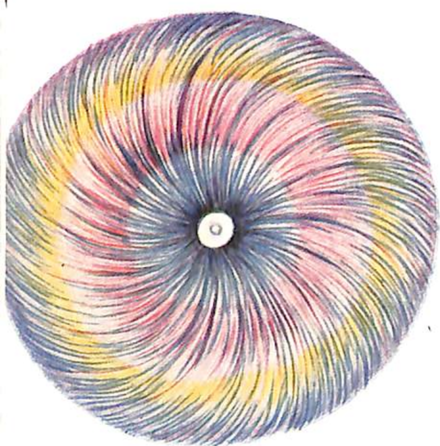
ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना

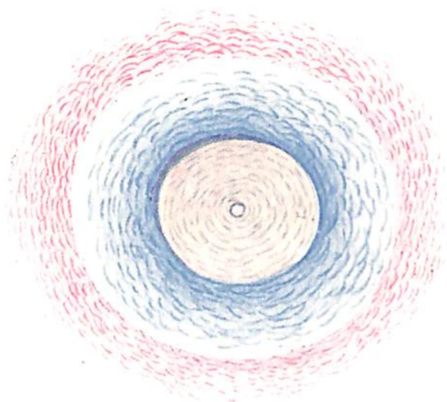


चित्र संख्या १९

हृदय प्रदेश में ज्योतिर्मय ६ मण्डलों का







चित्र संख्या २०

आनन्दमय कोष के ६ मण्डल

रजप्रधान अहंकार द्वारा चित्त और सूक्ष्म प्राणों के मण्डलों का आच्छादन

चित्त अहंकार एवं सूक्ष्म प्राण की सात्विक अवस्था का दर्शन

२१०-३५

तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य हरितस्य लोहितस्यपूर्णः' अर्थात् वे ही ये इस सशरीरी हृदय की हिता नाम नाड़ियां हैं जो शुक्ल, नील, पीत, हरित, लोहित रसों (रंगों) के प्रकाश से भरी हुई हैं। ये सब वर्ण सूर्यसे आये हैं। (वृहद० ४-३-२०; २-१-१६; ४, २, ३, में छं० प्रपा० ८ खं० ६ तथा कठ० ६-१६,) प्रश्न तीन में मिलता-जुलता वर्णन आता है जो कि हृदयस्थ ब्रह्म सूक्ष्म प्रकृति, सूक्ष्म प्राण, अहंकार, एवं चित्त के मण्डलों का वर्णन ही प्रतीत होता है। कोई इस वर्णन को प्राचीन चक्रोपासना का वर्णन भी कहते हैं तथा आत्मा की आदित्य धाम वा आदित्य लोक में स्थिति का वर्णन मानते हैं जो हमें साधु प्रतीत नहीं होता। सामने के ॐ चित्र सं० १६ से ये सब भाव स्पष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्मरन्ध्र और हृदय—पञ्चतन्मात्रिक मण्डल से संगठित मन,बुद्धि, इन्द्रियोंके ज्योतिर्मय मण्डलों के समान ही हृदयकाश वा हृदय-गुहागत पदार्थ भी ज्योतिर्मय और मण्डलाकृतिक हैं। इनमें परस्पर भेद इतना ही है कि ब्रह्मरन्ध्र गत ज्योतिर्मय मन्डलों के प्रकाश से चित और अहंकार से अधिक जाज्वल्यमान उग्रतायुक्त प्रकाश के महान पुंज प्रतीत होते हैं। हृदय की ज्योतियाँ सौम्य, शान्त, दुग्ध-धवल, पारदर्शी लघु और ग्राह्य हैं। हृदयगत झिल्ली के पोल इस 'बीज कोश' में स्थित ज्योतियों का मण्डल-समुदाय 'ब्रह्मरन्ध्र,के ज्योतिर्मण्डल से बहुत छोटा है हृदय में छोटे अंगूर के समान त्वचा वा माँस का बना एक पोल है। इसमें जीवात्मा चित, अहंकार, सूक्ष्म प्राण, प्रकृति औरब्रह्म के मण्डल या दिव्य-ज्योतियाँ ओत-प्रोत होकर ठहरी हुई हैं। जैसे शिव-लिङ्ग के पिण्ड में चूड़ियाँ पहनाई हुई हों। ये मण्डल अन्दर से बाहर निकल कर फैले हुए हैं। सामने के चित्र संख्या २० में देखें। इतना आनन्दमय कोश के विषय में संक्षिप्त वर्णन कर दिया

ॐ चित्र संख्या १६ विवरण—हृदय प्रदेश में ज्योतिर्मय मण्डलाकार छः पदार्थों का दर्शन :—

१, यह श्वेत वर्ण का मण्डल जो अन्य पांच मण्डलाकार पदार्थों को व्याप्त किये हुए है यह हृदयावच्छिन्न ब्रह्म का मण्डल है।
२. यह पीत वर्ण का प्रकृति का मण्डल है।
३. गुलाबी रंग को लिए हुये यह सूक्ष्मप्राण का मण्डल है।
४. नील-हरित वर्ण का यह अहंकार का मण्डल है।
५. जिसमें रश्मियां निकल रही हैं श्वेतवर्ण का यह चित का मण्डल है।
६. चित के श्वेत मण्डल में अतिशुभ्र जीवात्मा का मण्डल है।

ॐ चित्र संख्या २० का विवरण :—

१, हृदयस्थ झिल्ली के पोल में स्थित छोटे अंगूर के समान मांस का पोल है जिसमें जीवात्मा, चित, अहंकार, सूक्ष्म प्राण, हृदयावच्छिन्न प्रकृति और ब्रह्म के मण्डलों की मण्डलाकार शिवलिंग में पहनाई हुई चूड़ियों के समान अन्दर से बाहर की ओर भी पिरोई हुई दिव्य ज्योतियां।
२. रजःप्रधान अहंकार द्वारा चित्त और मण्डलों का आच्छादन।
३, चित्त अहंकार एवं सूक्ष्म प्राण की सात्विक अवस्था का दर्शन।

है किन्तु साक्षात्कार के आधार पर हुए विज्ञान का आगे वर्णन करेंगे । इस आनन्दमय-कोश में आत्मदर्शन,प्रकृतिपुरुष-विवेक का उल्लेख विस्तार पूर्वक करना तो अभी शेष है ।

मानव जीवन की उत्पत्ति का काल—यह मानव जब पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है तब इसका प्रारम्भिक काल जानने की इच्छा भी होती है । इसके विषय में शास्त्र तो ऐसा कहते हैं —

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्' (योग ४-१०)

अर्थात् वासनायें अनादि हैं क्यों कि पुरुष में जीवनेच्छा नित्य—अविनाशी है । वासनायें ही सांसारिक जीवन का आधार हैं । सृष्टि सृजन के समय, मोक्ष से पुनरागमन के पश्चात् जब कि इस आत्मा को प्रकृति-प्रसूत, त्रिगुण निर्मित, दिव्य चोला मिला, जो वासनाओं के धागे से सिला हुआ था, तभी से जीवात्मा की जीवन सरिता निःसृत हुई है । इस चोले के संयोग से पूर्व इस आत्मा में न तो कोई अच्छा थी न आकांक्षा, न कोई अतृप्ति थी, न ज्ञान-पिपासा; किंवा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि भी आत्मा के लिए न थे । केवल एक लघु सी 'अहं' भावना के स्पर्श होते ही यह समस्त विषाक्त विकराल संसार आत्मा के सन्मुख आकर उपस्थित हो गया । संसार के सभी भाव मूर्त्त हो उठे । इस 'हिरण्यमय पात्र' को देखकर न जाने कैसे भाव से और आश्चर्यचकित रूप से आत्मा ने इसे ग्रहण किया होगा । उस स्वरूपस्थ, केबली, परितृप्त, ब्रह्मानन्द निमग्न आत्मा के लिएयह कैसी विडम्बना थी । जिस हिरण्यमय चमकीले पात्र को इस जीव ने अपने लिए आनन्द कर समझा था वही इसके लिए सोने का बना बन्दी-ग्रह निकला । यही इतनी-सी इस जीव के जीवन-प्रारम्भ की मार्मिक, यथार्थ और संक्षिप्त-तम गाथा है । तभी से जीव की जीवन-सरिता संसार-क्षेत्र में प्रविष्ट हुई तथा इसके प्रवाह का अवसान वा अन्त परमानन्दपूर्ण ब्रह्म महार्णव में मिलकर ही होगा । यह मीन सा व्याकुल जीव ब्रह्म-सागर के अनन्त और आनन्दप्रद मधुर क्षीर में स्वच्छन्द विहार करके ही परितृप्त होगा । ब्रह्म के होमकुन्ड में पूर्णाहुत होकर दिव्य 'ज्योतिर्मय-पुरुष' को पाकर सन्तुष्ट होगा । क्योंकि ब्रह्मानन्द क्षीर-सागर का जल 'अहम्' भाव की मलिनता को धो देता है तथा ब्रह्माग्नि इस'अहन्ता'की केंचुली को जला देता है । तब आत्मा का अपना 'ज्ञान-ज्योतिर्मय' स्वरूप उद्भासित हो उठता है । उधर 'अहंभाव' का तम भी प्रकृति के गर्भ में जाकर प्रगाढ़ निद्रा में प्रसुप्त वा मूर्च्छित जाता है ।

मानव कर्तव्य—यदि काव्यमयी भाषा में संसार के विशाल क्षेत्र में ठोकरें खाने की इस दुःखद गाथा को एक खेल वा नाटक कहें तो इस खेलको भी हंसते-कूदते सफलता के साथ; किन्तु अति सचेत होकर सावधानी पूर्वक अनासक्त भाव से खेलना होगा । यही मानव कर्तव्य है । इस खेल में सफलता पूर्वक विजयी होने का पुरस्कार होगा—परमानन्दमय ब्रह्मानन्द के क्षीर-सागर में स्वच्छन्द विहार करने की आज्ञा, अथवा आनन्दमय भगवदङ्क में निवास का अधिकार वा खुली छुट्टी मिल जाना । संसार में माता, पिता, स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्र, बन्धु-बान्धव ऐसे ही पशु पक्षी, कीट, पतंग, सरीसृप, जलचर आदि के स्वरूपों में यह 'अहम्' भाव ही छिपा हुआ है, अथवा इन्हें 'अहम्' के स्वरूप कह देने में भी कोई अत्युक्ति या आपत्ति नहीं है । इसलिए विवेकज ज्ञान के द्वारा इस 'अहंकार'

जनित आसक्ति का विनाश कर देना ही मानव का कर्तव्य, परम धर्म, चरम लक्ष्य अथवा परम पुरुषार्थ है।

ब्रह्मपुर वासी आत्मा का वर्णन—पूर्वोक्त 'आनन्दमय कोश' ही ब्रह्मपुरशयी 'आत्माराम' की इन्द्रपुरी है। यह जीव अपने परम रक्षक पिता 'अज', देहदात्री भगवती 'अजा' के साथ तथा अपने आमात्य, भृत्य, सेवक वर्ग सहित एक 'राजा' के समान आनन्द और निर्भयता से रहता है। दुर्ग के समान बनी इसी इन्द्रपुरी में 'आत्माराम' के परमाराध्य परमेष्ठि देवाधिदेव 'ओ३म्' का सुचारु मन्दिर भी है। जहाँ पर समाधि अवस्था में 'ब्रह्मसारूप्य' में निमग्न होकर वह अपार ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है। '**यस्मिन विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति**' कथन के अनुसार इस 'इन्द्र' को अपने इष्टदेव के सहवास वा सत्सङ्ग से समस्त ज्ञान विज्ञान ही नहीं वरन्—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन,
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'

(कठ० व० २ छं० २२)

कथित यमाचार्य के उपदेशानुसार 'आत्म-परमात्म ज्ञान-विज्ञान जो तप-स्वाध्यायादि साधनों के अनुष्ठान से दुष्प्राप्य है, वह गहनतम 'ब्रह्मज्ञान' ईश्वर प्रणिधान रूप आत्म-समर्पण—सर्वाङ्गीण समर्पण से इसी ब्रह्मपुरी के देवमन्दिर में बैठे-बैठे मिल जाता है। जैसे शिशु को अपनी मातृ-अंक में पड़े-पड़े दुग्ध का अमृत पान मिलता है और शिशु की इच्छानुसार तब तक निरन्तर मिलता रहता है जब तक कि शिशु रूप से माता के प्रति उसका आत्म समर्पण रहता है। भगवान् पातञ्जलि ने भी इसी भाव की पुष्टी दो सूत्रों से की है—'**ईश्वरप्रणिधानाद् वा** (१-२३) तथा **समाधि सिद्धिरीश्वर-प्रणिधानात्**' (२-४५)। इस भगवत पुरस्कार का यहीं पर अन्त नहीं हो जाता, परंच वह दयालु पिता अपना समस्त बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप और प्रकृति के परम गुह्य रहस्यों को भी अपने परम भक्त ज्ञानी योगी, अपने प्रिय अमृत-पुत्र पर बखेर देता है—बरसा देता है। इसी को योग में 'धर्ममेघ' नाम से कहा गया है। तब यह 'आत्माराम' सत्य-संकल्प,सत्यकाम,आप्तकाम, निष्काम और अन्त में अकाम होजाता है। योग कहता है कि उस समय 'चित्त' पर पड़े सब मल और आवरणों के हट जाने से जहाँ चित्त का प्रकाश फैल जाता है वहाँ चित्तगत अहंकार में बंधा आत्मा का प्रकाश भी देदीप्यमान हो जाता है। फिर ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। 'ब्रह्मसारूप्य' का अमृतरस पान करके मानव 'विदेह' देहाध्यास-विगत होकर जीवन्मुक्त हो जाता है; और समस्त क्लेश-कर्म वासनाओं का अवसान या अन्त हो जाता है।[१]

इस छोटे से 'ब्रह्मपुर' में ब्रह्म का समस्त सर्वव्यापक रूप तो समा नहीं सकता। सर्वव्यापक सकुड़ कर एक अंगुष्ठ मात्र स्थान में वह कैसे आ जाए ? किन्तु वह यहाँ पर चिन्ह मात्र से अक्षय-ज्योति के बने अण्डाकार रूप में इस हृदय-गुह्या में बने देव-मन्दिर

१. ततः क्लेश-कर्म-निवृत्तिः। (योग. ४-२८)

में विराजमान है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपना अनुभूत साक्षात्कार महाराज जनक को इस प्रकार बताया है :—

हृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्यहि किं स्यादित्यब्रवीत् स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनम्। आकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येन दुपासीत। का स्थितता याज्ञवल्क्य। हृदयमेव सम्राड् इति होवाच। हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनम्। हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा। हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति। हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म।

बृहदा० अ० ४। ब्रा० १। मं० ७

अर्थात् यह हृदय ब्रह्म के समान विशाल है, जो हृदय की विशालता से हीन है। वह व्यक्ति तुच्छ है। हृदयाकाश में ही सब भूतों, जीवों की स्थिति है--निवास है। साक्षात् करने पर ऐसा ही प्रतीत होता है हृदय में ही श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, निर्भयता आदि के सात्त्विक भाव संस्कार रूप से स्थित हैं और इस चेतना शक्ति के प्रकाशक सत्य, आनन्द तथा सर्वव्यापक ब्रह्म के दर्शन को इस मानवपिण्ड में वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और हृदय के रूपों में देखने का आदेश किया है। इस प्रकार सर्वव्यापी ब्रह्म, देहस्थ मन, बुद्धि, चित्त आदि की डोरियों से बन्धा हुआ है जिसे योगी सरलता से पकड़ सकता हैं। यह समस्त 'ब्राह्मण' इसी प्रकरण का हैं। हृदयगत इस ज्योतिमय अक्षय अण्ड के निर्भर से निरन्तर, प्रतिक्षण अक्षुण्ण रूप से निर्भरित ज्ञान जाह्नवी धर्म, **मेघ समाधि**' [1] (योग ४-२९) की स्निग्ध रस परिपूर्ण शान्ति की अबाध शीतलता से सिक्त धारा में स्नान करता हुआ योगी कृतकृत्य हो जाता है। इष्टदेव की ज्योति के स्पर्शमात्र से ही यह अल्पज्ञ 'जीव' पूर्ण निर्भ्रान्त ज्ञान की कोटि में प्रविष्ट हो जाता है और निश्चय से इस अपरिमेय, अगोचर, आनन्द महोदधि में प्रविष्ट होते ही दुग्ध धवल क्षीर सागर का यह निर्मल जल अति मादक, अति मोहक, अति स्निग्ध, शक्ति-ज्ञान-ज्योति-स्फूर्तिप्रद, ताप-त्रय हारी, दिव्य रसायन सिद्ध होता है। इस भागवत ज्योति के संस्पर्श मात्र से यह जड़ात्मक संसार जव दिव्य बना हुआ है तो भला यह चेतन जीव, भागवत प्रसाद से दिव्य-जीवन-युक्त, जीवन्मुक्त, शान्ति का आगार बन जाए तो आश्चर्य ही क्या है। उपनिषद्कार साक्षी दे रहे हैं

समाधि-निर्धूत -मलस्य चेतसो, निवेशितस्यात्मनि यतसुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणे न गृह्यते'॥

(मंत्रायणी प्रपा० ४। मं० ९)

इत्यादि साक्षात्कार के वचनों से उपनिषद् आपूरित हैं। यह सब वर्णन आत्मा की 'वृत्तिसारूप्य' से पृथक रहने का अभ्यासी बन जाने की अवस्था का है अथवा स्वरूपस्थ होने वाले की यह अवस्था कही जा सकती है।

भोग और अपवर्ग का साधक—वस्तुतः भोग और अपवर्ग का 'साधक वा

---

१. प्रसंख्यानेऽप्यकु सीदस्य सर्वथा विवेक-ख्यातिर्धर्ममेधः समाधिः **(योग. ४.२९)**

'कारण' तो यह अन्तःकरण हीं है; जो प्रकृति का कार्य है। कारण रूपा प्रकृति अपने सभी कार्यों में सर्वत्र अनुस्यूत होकर रहती है१। अर्थात् कार्यों में 'कारण' रूप से वर्त्तमान होकर रहती है। एकदेशी अणु जीवात्मा जैसी संसार की भोग-दशा में प्रकृति के कार्य रूप अन्तःकरण में रह रहा है, इसी भांति मोक्ष दशा में भी इसी महती अव्यक्त प्रकृति के गर्भ में अथवा आकाश में अपना आवास रखता है। क्योंकि स्पष्ट ही यह प्रकृति, अणु आत्मासे महान् विस्तृत है और सर्वदेशी भी है। किन्तु ब्रह्म की अपेक्षा एक देशी है। क्यों कि ब्रह्म अन्दर तथा बाहर भी है; मोक्ष दशा में इस कारण रूप-प्रकृति के साथ जीव का कोई भोगात्मक सम्बन्ध नहीं होता। मानव-देह में यह सूक्ष्म प्रकृति का मण्डल अन्तः-करण को अपने गर्भ में धारण करते हुए सूक्ष्म, अव्यक्त रूप से इसके भीतर बाहर विद्य-मान है। इसीलिये इसे 'प्रकृतिमण्डल' वा कोश के रूप में कह दिया गया है। इस प्रकार कारण रूप प्रकृति के साथ सम्बन्ध तो मोक्ष-काल में भी बना ही रहता है, जो बन्धन का कारण नहीं होता। बद्ध तथा मुक्त सभी आत्माओं का सम्बन्ध सूक्ष्म प्रकृति के साथ 'कारण' रूप से नित्य है और 'कार्य रूप' से अनित्य है। और कार्यरूप सम्बन्ध-विच्छेद का नाम ही अपवर्ग है।२

अन्तःकरण में जीवात्मा की स्थिति—साक्षात्कार के आधार पर यह निश्चय से कहा जा सकता है कि जीवात्मा इस अन्तःकरण में कील के समान ठुका हुआ नहीं है; वरन् चक्र में स्थित नाभि के समान 'केन्द्रित' केन्द्र में स्थित है। जैसे लोहे के बने एक वृत्त वा चक्र के केन्द्र में स्थित चुम्बक चक्र का संतुलन रखता है, ऐसे ही आत्मा भी अन्तः करण के उत्तम भाग 'चित्त' के केन्द्र में ही स्थित रहता हुआ 'अन्तःकरण-चतुष्टय' से कार्य ले रहा है। केन्द्र को त्यागता नहीं। यदि केन्द्र को त्याग दे तो शक्ति का संतुलन बिगड़ जाय। विश्व में सर्वत्र यही नियम कार्य करता हुआ दीखता है। प्रत्येक गतिशील पिण्ड 'गोलाकार' वा 'अण्डाकार' है। और प्रत्येक गतिशील गोलाकार पिण्ड जैसे-सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी आदि मपापिण्ड भी अपने केन्द्रों पर गतिशील हैं और केन्द्र-भ्रष्ट नहीं होते। इनका शक्तिसन्तुलन केन्द्र में ही है, एक पार्श्व वा किनारे पर नहीं। किनारे पर केन्द्र मानने से गोले वा चक्र की गति नियमित नहीं रह सकती। यही नियम अन्तःकरण में काम कर रहा है।

बन्धन से छुटकारा—यहाँ तक लिखे विज्ञान के पठन-मात्र से आत्म-कल्याण नहीं हो सकता जब तक कि अन्तःकरण के मुख्य भाग 'आनन्दमयकोष' गत चित्त से लेकर सूक्ष्म प्रकृति तक, सब तत्त्वों का अनुपूर्वीय यथावत् साक्षात्कार करके सहानुभूति के आधार पर इस सब प्रपंच से परम विरक्त होकर **'दुखमेव सर्वं विवेकिनः'** ३ तथ्य की भावना को अपने जीवन में पूर्णतया चरितार्थ नहीं कर लेते। पर वैराग्य सम्पादन के

---

१. कारण भावाञ्च। सांख्य० १। ११८।

२. यद्वा तद्वा तदुच्छितिः पुरुषार्थस्तदुच्छितिः पुरुषार्थः। सांख्य० अ. ६। सू० ७०।

३. परिणामताप संस्कार दुःखै गुर्ण-वृत्ति विरोधाञ्च दुःख मेव सर्वं विवेकिनः। (योग० २।१५)

पश्चात् कर्म-फल द्वारा प्राप्त भोग बन्धन के कारण नहीं रहते; किन्तु अपवर्ग के साधक बन जाते हैं। चित्त और अस्मिता किंवा आनंन्दानुगत तथा अस्मितानुगत समापत्तियों की दृढ़ता से जब निर्विचार समाधि की दृढ़ता होने लगती है तब एक प्रकार की परम-शान्त निश्चल अवस्था प्राप्त होती है जिसे 'अध्यात्म प्रसाद' कहते हैं। इसी अवस्था में एक परम दिव्य ज्योति 'ऋतम्भरा' उदित होती है जिसमें 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' होता है। यह 'विवेक' जब अन्तरात्मा में स्थित हो जाता है तब इस 'चित्त' से भी विरक्त हुए योगी को यह 'प्रबोध' उस द्वार पर लाकर खड़ा कर देता है जिसमें प्रविष्ट होकर योगी 'स्व-स्वरूप' को तथा कालान्तर में 'ब्रह्म स्वरूप' को साक्षात्कार कर जीवन-मरण के बन्धन से निवृत्ति-लाभ करता और निश्चिन्त हो जाता है। ये दोनों अवस्थायें वाङ् मनसा अगोचर, अकथनीय, स्वानुभूतिप्रत्ययसार हैं। वैसे तो यह समस्त ग्रन्थ ही साक्षात्कार के आधार पर लिखा गया है किन्तु यह सूक्ष्मतम विज्ञान हृदय में प्रविष्ट हुए बिना प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिये साधक-वृन्द अपने दैनिक अभ्यास के साथ अन्तर्मुख होकर 'हृदय प्रदेश' में प्रवेश करें और ध्यान की दिव्य दृष्टि से अवलोकन करें। हृदयगत 'आनन्दमय-कोश' में हमें इन तथ्यों की स्थिति, 'आनन्दमय कोश' के पांचों भागों, इन भागों के परस्पर कार्य व्यवहार और इन सब के अन्दर स्थित जीवात्मा तथा ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। किन्तु यह सब साक्षात्कार तुरन्त नहीं होगा। हृदय में निरन्तर अभ्यास करते-करते ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों अवान्तर विज्ञान का पट खुलता जाता है। इस अवान्तर विज्ञान के पश्चात् 'जीवात्मा' का 'चित्त' से पार्थक्य पदार्थ रूप से भासता है किन्तु इसमें पर्याप्त समय लगता है। इन अवान्तर विज्ञान के साक्षात्कारों को हम यथास्थान 'साक्षात्कार' शीर्षक देकर समझाते जाएँगे।

यहाँ पर इस तथ्य को सदा स्मरण रखना चाहिये कि महतत्त्व सहित प्रकृति के सभी विकार वा पदार्थमात्र-परिणाम आत्मक त्रिगुण के 'कार्य' हैं, इसलिए प्रत्येक पदार्थ में प्रख्याशील 'सत्त्व' की विद्यमानता के कारण सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ 'दिव्य नेत्रों द्वारा देखा अथवा प्रत्यक्ष किया जा सकता है। केवल 'संयम जय' की प्राप्ति की आवश्यकता होती है।

आप हृदय के चित्र में दिये 'आनन्दमय कोश' के भागों का अवलोकन कर चुके हैं। उसी के अनुसार जब हृदय में प्रवेश करेंगे तो किसी प्रकार का कोई प्रकाश दीखेगा। उस समय साधक पिछले विवरणों के आधार पर यह जान सकता है कि यह प्रकाश 'आनन्दमय कोश' गत किस विभाग का है। जैसे-हृदय में ध्यान करते समय यदि चमकीली वाष्प, या वाष्प का छोटा-सा शंखाकार-सा दीखे तो यह 'सूक्ष्म प्राण' का दर्शन है। और यदि हरे-से रंग का प्रकाश या अण्डा-सा दीखे तो यह 'अहंकार का' दर्शन, और यदि शुभ्र प्रकाश या श्वेत माखन, हिम आदि-से बना अंडा-सा वा महान् प्रकाश पुंज दीखे तो यह 'चित्तमण्डल' का दर्शन है। साथ ही यह भी देखा गया है कि सूक्ष्म प्राण एवं अहंकार के मंडलों में गुणों के प्रभाव से रंग-परिवर्त्तन होता ही रहता है; किन्तु 'चित्त' के रंगरूप, आकार, प्रकार में जो सदा महान् और लघु परिवर्त्तन, इसकी वृत्ति-भेद से हो जाया करता है। अब कुछ 'साक्षात्कार' दिये जाते हैं जिनसे

साधक-वृन्द यह समझ सकेंगे कि इन आन्तरिक दिव्य पदार्थों वा तत्त्वों का साक्षात्कार किन रूपों में तथा कैसे होता है ? इन साक्षात्कारों से ही कई जिज्ञासाओं का समाधान भी हो जाता है ।

चित्त के रंग-रूपों का साक्षात्कार—ध्यानस्थ दशा में 'चित्त' को प्रायः इतने विभिन्न रूपों में देखा है कि यदि उन सब को लिखा जा सके तो भी कम है । साथ ही लिखा जाना असम्भव भी है, और यदि कहा जाय कि इस चित्त के अनन्त और असंख्यात रूप हैं, तो भी अत्युक्ति न होगी । 'वृत्तिसारूप्य' हो जाने के कारण, अर्थात्--इस संसार में जितने भी पदार्थ वा तत्त्व विद्यमान हैं, हो सकते हैं और होंगे, उन सभी के आकारों के संस्कारों को धारण कर लेने वा तद्रूप हो जाने अथवा उनसे रंजित हो जाने के अपने स्वाभाविक धर्म के कारण यह चित्त 'अनन्त' रूपों वाला है यह समझ लेना चाहिये । जब हम व्यावहारिक दशा या जाग्रत दशा में होते हैं; तब तो यह बुद्धि 'बाह्य' पदार्थों से अनुरंजित होकर हमारे 'भोग की साधक' अथवा पदार्थ विज्ञान की साधन बनी होती है । और जब हम 'ध्यानस्थ' या 'समाधिस्थ' होते हैं तब यह 'चित्त' आन्तरिक तत्त्वों वा भावनाओं से रंजित होकर उनको दर्शाता है—सदा ही 'वृत्ति' रूप में परिणत होता रहता है । ध्यान काल में सम्पूर्ण अन्तःकरण अथवा 'आनन्दमय कोश' वा केवल चित्त ही एक दीप शिखा वा मुकुलित वा अर्द्ध विकसित कमल कलिका, वा भास्वर-अण्डा, ज्योतिर्मय छोटे शिवलिंगवत् अथवा स्वर्ण थाल आदि के रूपों में प्रत्यक्ष होता है । जैसे हमें गेंदवत् गोल सूर्य, चन्द्रादि महापिण्ड यहाँ से एक बड़े थाल के समान चपटे दीखा करते हैं ऐसे ही गोल अण्डाकृति में 'चित' अहंकार सूक्ष्मप्राण, 'बुद्धि' 'मन' आदि के मण्डल भी प्रायः थाल के समान चपटे दीखा करते हैं । इस प्रकार हृदयगत ये तत्त्व भी जब तक 'संयम' बल से सन्मुखी दिशा से न देखे जायें, प्रायः थालवत् चपटे से दीखते हैं, और इन थाल से बने मण्डल वा 'पट्ट' में अहंकार आदि की क्रियायें भी प्रत्यक्ष होती हैं । त्रिगुणात्मक होने से चित्तादि पर गुणों का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष होता है । रङ्गों का परिवर्तन त्रिगुण के प्रभाव का द्योतक होता है । आकार का परिवर्तन पदार्थ तथा वृत्तिपरिवर्तन का द्योतक होता है । साथ ही धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम भी इस चित्त में ही होते हैं और चित्त को अपने प्रभाव से परिणत करते रहते हैं । इन सब प्रभावों से भी चित्त के अपने स्वाभाविक स्वरूप में कोई महान् परिवर्तन नहीं आता जब तक कि अपने किसी संकल्प-विशेष का प्रयोग न किया जाय । नीचे साक्षात्कार हुए चित्त के कुछ रूप दिये जाते हैं ।

१. **ध्यानस्थ साधक**—अपने सन्मुख सुनहरा-सुदीप्त-टाइमपीस-सा देखता है जिसमें अक्षर नहीं होते, आकृतिमात्र होती है जिसके चारों ओर धानी रङ्ग का वृत्त (अहंकार का मंडल) देख कर आनन्द की अनुभूति होती है ।

२. तत्पश्चात् हृदय में शुभ्र प्रकाश फैल जाता है, सन्मुख प्रकट हुआ दीपशिखावत् 'चित्त' विभिन्न प्रकार की आभायें फेंकता है, जो ध्यानस्थ बैठे साधक को प्रदीप्त कर देती हैं । साधक आनन्द-निमग्न हो जाता है ।

३. साधक अपने को सुदीप्त 'चित्र' मण्डल में 'ध्यानस्थ' दशा में देखता है।

४. कभी साधक अपने को केवल शुभ्र, शुक्ल, मन्द से प्रकाश से आवृत देख कर 'परम शान्ति'को अथवा गुलाबी से प्रकाश से आवृत आनन्द को; (यह आनन्दानुगत समाधि का आभास है) और कभी नील हरित आभा से आवृत 'अहमस्मि' (अस्मितानुगत समाधि का आभास है) को कभी 'अस्मि' के साथ आनन्द विशेष को अनुभव करता है। कभी आनन्द के साथ गम्भीर शान्ति को, कभी केवल शान्ति को, कभी सर्वथा अभाव का अनुभव करता है। ये विभिन्न अवस्थायें क्रमशः 'सात्त्विक' सत्त्व, रज मिश्रित, रज के साथ अहन्ता मिश्रित, सत्त्व तम मिश्रित समाधियों के रूप हैं। जब तक चित्त पर विशेष अधिकार नहीं हो जाता तब तक ये अवस्थायें क्षणिक अथवा स्वल्पकालिक होती हैं। अभ्यास की दृढ़ता से आगे घन्टों तक बनी रहती हैं।

कभी शीशे की बनी शुभ्र चिमनी-सी में निज को ध्यानस्थ देखता है। इसके भीतर बाहर प्रकाश होता ही नहीं। इसमें साधक को अपना आकार अति लघु लगभग एक इंच का दीखता है।

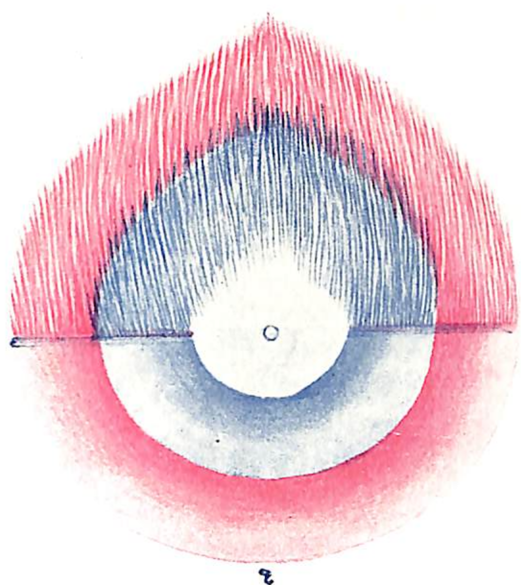
इस प्रकार कभी उदय और अस्त होते हुए किरणरहित सूर्य-मण्डलके आकार जैसा प्रकाशित; जिस पर कभी मेघ से छाये प्रतीत होते हैं जिनसे यह मण्डल कभी आधा और कभी पूरा आच्छादित हो जाता है। यह तमः प्रभाव से युक्त अहंकार से आच्छादित होने का रूप है। कभी यह थाल शुभ्र शुक्ल वर्ण का चार-पाँच इंच के लगभग, कभी एक रत्तीवत्, कभी राई के दाने के समान लघु किन्तु अति सुदीप्त, कभी बारूदी अनार छूटने के समान, चित्त मण्डल से ज्योतिर्मय स्फुलिङ्ग निकल कर आकाशमण्डल को ही भर देते प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यह सब 'चित्त' के अव्यवस्थित रूप हैं जो चित्त पर अधिकार न होने से ऐसे प्रतीत होते हैं। गुणों से प्रभावित चित्त के रङ्गों की भिन्नता निम्न प्रकार से ज्ञात होती हैं। (चित्र संख्या २१ में देखें) :—

१. **सात्विक चित्त**—माखन के समान शुभ्र तथा मृदुल, कभी हिम के समान श्वेत कठोर, कभी स्वच्छ कूप जल के समान पारदर्शी होता है। स्थिर पारदर्शी अवस्था में ही चित्तगत अनेक भाव एवं आत्मा के दर्शन आदि विज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

२. **रजोगुणी चित्त**—पारदवत् शुभ्र, द्रवता युक्त, चपल, विज्ञान प्राप्ति में समर्थ होता है। इस समय भी कई रंगों की आभा छिटक जाती हैं। जब रजोगुण की

चित्र संख्या २१ का विवरण—चित्त के विभिन्न परिणामों का दर्शन:—

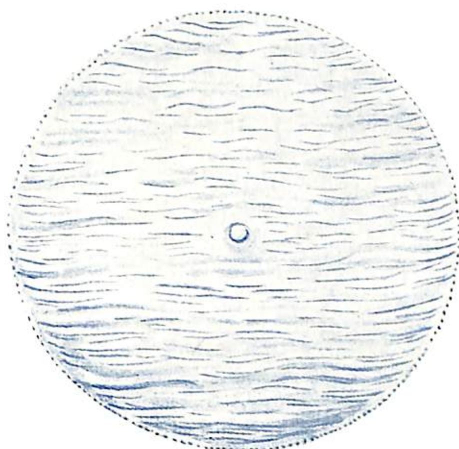
१. रजोगुण से क्रियाशील चित्त अहंकार और सूक्ष्म प्राण का परिणाम।
२. चित्त में रजोगुण से क्षुभित हुए अहंकार का परिणाम।
३. सात्विक अवस्था में चित्त और अहंकार का परिणाम।
४. राजस् अवस्था में चित्त और अहंकार का परिणाम।
५. तामस् अवस्था में चित्त और अहंकार का परिणाम।



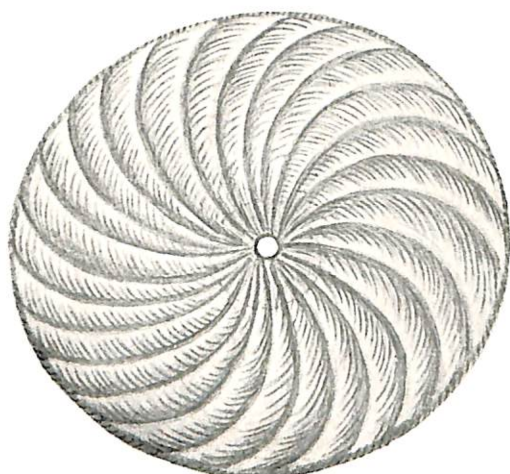
१



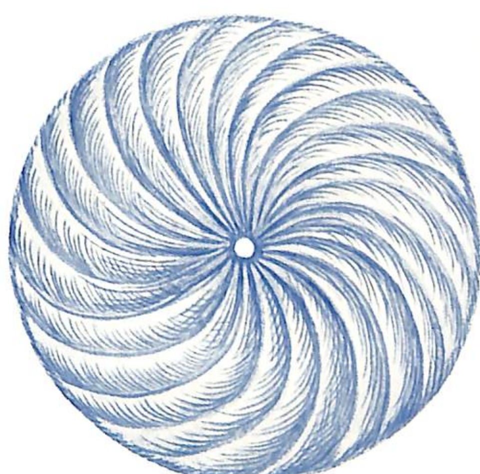
२



३



४



५

चित्र संख्या २१

चित्त के विभिन्न परिणामों का दर्शन

प्रबलता नहीं होती तब चपलता भी अधिक नहीं होती, केवल विज्ञान कराने के योग्य ही होती है। रजोगुण की प्रबलता में तो यह चित्त महान् जाज्वल्यमान महोदधि के समान उतुङ्ग तरङ्गों से पूर्ण अगाध प्रतीत होता है। इस समय अहंकार की चपलता से नीला-सा वर्ण हो जाता है।

३. **तामसिक चित्त**—का रङ्ग रूप मेघवत् अपारदर्शी ज्ञान-प्राप्ति में असमर्थ स्तब्ध, जड़वत् होता है।

'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' दोनों आत्म-तत्त्व इसी सात्त्विक चित्त की सहायता से दृष्ट होते हैं; अन्यथा मल विक्षेपयुक्त चित्त के लिये अदृश्य ही बने रहते हैं। साथ में विभिन्न रंग, रूप, आकृति वाले यह साक्षात्कृत चित्त के चित्र हैं, इन्हे देखें और समझें।

हमारा ध्येय—केवल इन चित्त, अहंकार आदि के प्रत्यक्ष करने मात्र से नहीं है, वरन् 'आत्मा' के लिये ये क्या-क्या कार्य किस-किस रूप से करते एवं भोग-कर्म विपाक दिला कर अपवर्ग को कैसे साधते हैं इस रहस्य का प्रत्यक्ष करना है। इसलि अब ऐसे साक्षात्कार दिये जाते हैं जो कि इसी रहस्य इसी तथ्य वा तत्त्व के साक्षात्कार से सम्बद्ध हैं :—

चित्त के दो परिणामों का साक्षात्कार—चित्त में दो परिणामों का दर्शन हुआ करता है—

१. स्वाभाविक परिणाम; जो ईश्वरीय नियम के अनुसार प्रतिक्षण, धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम में तथा त्रिगुणों के प्रभाव से होता है।

२. दूसरा परिणाम जीवात्मा कृत है, जो कि अपनी चेतना-शक्ति के द्वारा चित्त को प्रतिक्षण उपरञ्जित करके क्रियाशील बनाये रखता है। इसके साथ ही निद्रा स्मृति रूप वृतियों एवं संस्कारों के कारण से चित्त में प्रतिक्षण क्रिया रूप परिणाम होता रहता है, इस प्रकार किसी क्षण भी यह चित्त क्रिया वा परिणाम से रिक्त नहीं रहता। इसी के साथ बुद्धि भी तो निर्णीत विषयों को संस्कारों को प्रतिक्षण आनन्द-मय कोश की ओर प्रेषित करके चित्त के परिणाम का कारण बनी रहती है। इस प्रकार संस्कारों से रंजित होते समय भी चित्त में विशेष ज्योतिर्मय तरंगें उठती हैं। विशेष रूप से तब, जब कि लोकान्तरों के ज्ञान के संस्कार इसमें आकर पड़ते हैं और उन दृश्यों से उपरक्त होते समय तो किसी महासागर में उठती तरङ्गों के समान ही इस चित्त में भी ज्योतिर्मयी लहरें उठती हैं। यह क्रिया उसी प्रकार दिखाई देती है जेसे किसी तरङ्गित जलाशय में समीपवर्त्ती पर्वतीय कोई दृश्य पड़ रहा हो। यदि पर्वत खण्ड के वृक्ष वायु से कम्पित होंगे तो इस जलाशय में कांपते दीखेंगे, चाहे जलाशय का जल स्थिर-निस्तरङ्ग ही हो, फिर भी कम्पित दृश्य के प्रतिबिम्ब से जलाशय का जल भी कम्पित प्रतीत होता है। इस प्रकार इन क्रियाओं का विश्लेषण भी इसी ध्यानावस्था में करना होता है।

एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्—इसी रूप में प्रत्यक्ष होता है। दर्शन-मात्र का काम तो दिव्यनेत्रों का है किन्तु वस्तु वा विषय दर्शन के विश्लेषण से उत्पन्न सुख-दुख

की अनुभूति को चित्त करता है, अर्थात् सुख-दुःख रूप ख्याति का भान करना चित्त का काम है। इस सुख-दुःख में आनन्द भी सम्मिलित है।

आनन्दमयकोश के कतिपय दृश्य—इन दृश्यों को 'आनन्दमयकोश' के अवान्तर रूपों का साक्षात्कार भी कह सकते हैं। वे आन्तरिक रूप, ज्ञान, क्रिया वा गति, 'सूक्ष्म प्राण,' चित्त का आश्रय स्थान, कर्माशयचित्त, आनन्दमयकोश के संस्कारों का स्वरूप, संस्कारों का आदान-प्रदान आदि अनेक हैं। इनका साक्षात्कार कर लेने पर ही आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव बनता है। अतः इनका साक्षात्कार कैसे होता है? किस रूप में होता है? उसका प्रकार निम्नलिखित है :—

चेतना, 'ज्ञान' तथा 'क्रिया' का साक्षात्कार—ज्ञान तथा क्रिया को पृथक नहीं किया जा सकता, इसलिए इन दोनों का एक साथ ही प्रत्यक्ष होता है। प्रकृति के त्रिगुण समुदाय का प्रथम निर्माण रूप 'महत्' का कार्यात्मक अंशभूत यह 'चित्त' जहाँ पदार्थों का प्रकाशक है, वहाँ जड़तत्त्व का परिणाम होने से 'जड़' भी है; किन्तु यह चेतनवत् कार्य कैसे करता है? इसी तथ्य को साक्षात् करना है। 'ज्ञान' के साथ ही 'चित्त' में आत्म-संयोग से निरन्तर उत्पन्न हो रही क्रिया को भी देखते जाना है, क्योंकि 'ज्ञान' और 'क्रिया' ये दोनों स्वरूपतः पृथक् होकर भी यहाँ पर सूक्ष्मता के कारण अभिन्न प्रतीत होते हैं। अतः चित्त-मण्डल के मध्य में ध्यान की तीव्र कुशाग्र विज्ञान दृष्टि के द्वारा निश्चल रूप से देखने की आवश्यकता है। चित्त-मण्डल के अन्तःकेन्द्र में स्थित एक सजीव कण के समान प्रतीत हो रहा सुदीप्त, सुन्दर आत्मा अपनी सत्ता से प्रतिबिम्बित अति सौम्य, आह्लादक सूक्ष्म-सी आभा वा ज्योति का उद्भव करता है, और अति तीव्र किन्तु अदृश्य-सी गति से यह आभा चित्त-मण्डल के कण-कण को व्याप्त करती और अपनी चेतना से रंजित करती हुई चित्त-मंडल के किनारों की ओर बढ़ती चली जाती है। तांबे में जैसे विद्युत् अदृश्य गति से तुरन्त फैल जाती है, उसी प्रकार की प्रक्रिया इस समय 'चित्तमंडल' में भी होती है, मानो गति पर बैठ कर ही ज्ञान-प्रकाश चेतना चली जा रही हो। चेतना वा ज्ञान की सौम्य-ज्योति को चित्त की 'प्रख्याशीलता' अधिक चमका देती है तथा बढ़ती हुई गति से बनती जा रही अति सूक्ष्म लहरियाँ-सी भी चित्त के प्रकाश से ऐसी प्रतीत होती हैं मानो बहते जल में दूधिया-सा रङ्ग घुला हो और उस बहते जल को आदित्य की रश्मियाँ अधिक भास्वर बना रही हों, किन्तु सत्त्वप्रधान निर्मल अवस्था में तो 'चन्द्रिका' सी समुज्ज्वल बनी दीखती हैं। यह जल की धवलता तो 'चेतना या ज्ञान की ज्योति' है और इसकी क्रिया चित्त की चपलता की द्योतक है। जल की धवलता का दर्शन तो नेत्रों से होता है किन्तु जल में व्याप्त 'ऊष्मा' का ज्ञान नेत्रों से नहीं वरन् स्पर्श से होता है—ऐसे ही यहाँ पर 'चित्त' में क्रिया का ज्ञान होता है। इसी स्थिति में थोड़ा और गहरा देखें तो यह रहस्य भी स्पष्ट होगा कि 'चेतनत्त्व'—इस जड़ चित्त में 'आत्म-सम्पर्क' से आई चेतना ही है। जैसे लोह खंड में प्रविष्ट होकर 'अग्नि' अपने स्वरूप से रंजित या आत्मसात् करके लोहे को भी अग्निवत् बना कर अपने तेज से प्रकाश और दाहयुक्त बना देती है, तब लोहा भी अग्नि के समान ही प्रकाश को फैला कर समीपवर्ती प्रदेश तथा पदार्थों को प्रकाशित तथा संतप्त कर देता है, इसी

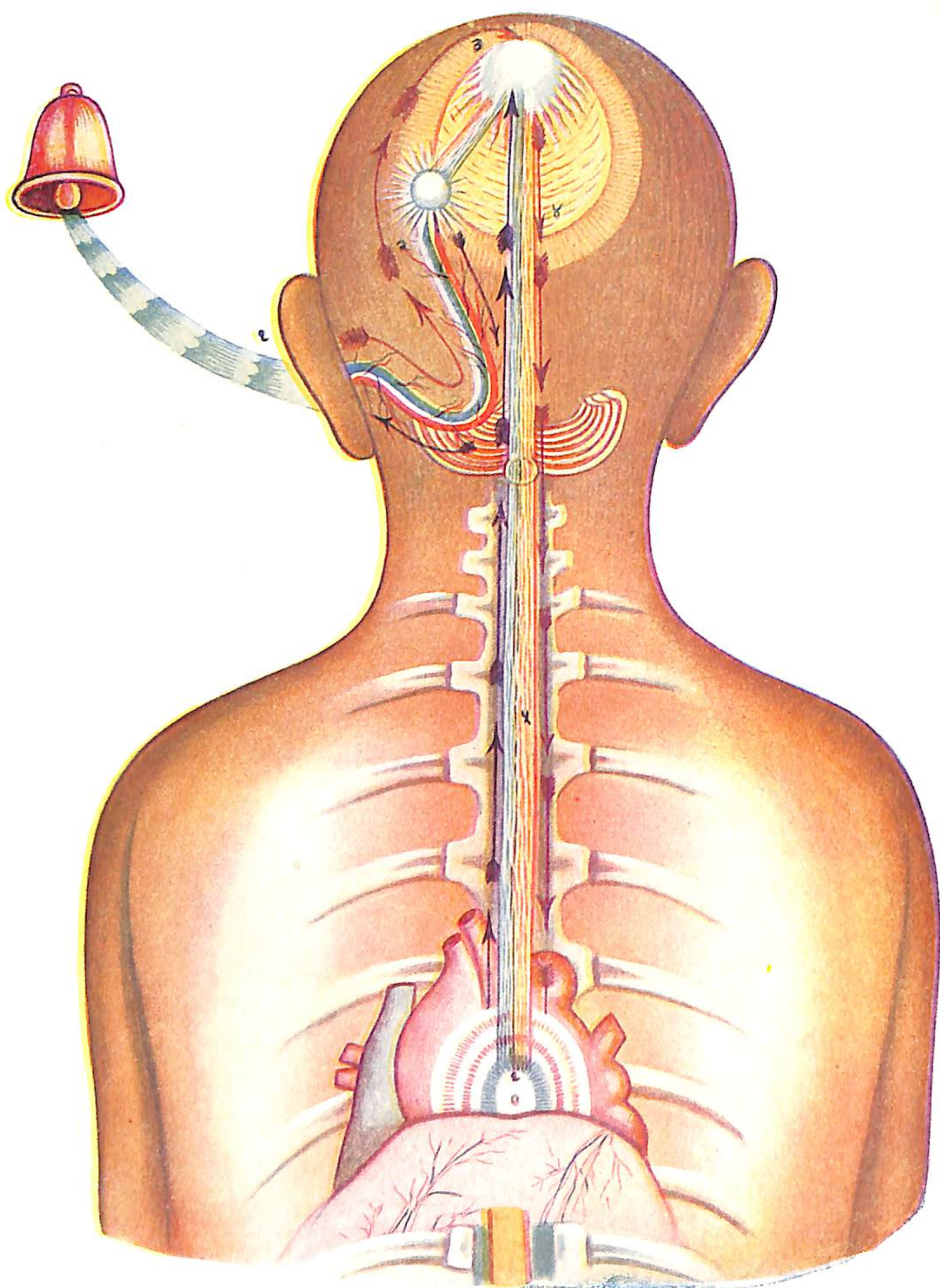
प्रकार 'आत्म तत्त्व' से प्राप्त 'ज्ञान' तथा 'गति' से व्याप्त या अनुरंजित हुआ जड़ 'चित्त' 'चेतनवत्' बन कर इस सब व्यापार को दर्शाता है। यही सब दृश्य इस 'चित्त की 'चेतनवत्ता' का साक्षात्कार है। यदि अपने चित्त में नहीं देख सकते तो अन्य के चित्त में अपनी 'दिव्यदृष्टि' के निक्षेप से देख सकते हैं। इस प्रकार यहाँ पर आत्मतत्त्व की ज्ञान और क्रिया चित्त की चेतनवत्ता का साक्षात्कार, तथा चित्त के केन्द्र में दीखने वाला सजीव सौम्यकरण, जो चित्तांश विशिष्ट आत्मा का स्वरूप है, उसका आभास मिल जायगा। समाधि की अवस्था में ऐसा भी देखा गया है कि जैसे एक गोता खोर मनुष्य विशाल समुद्र में उसकी अज्ञात अवस्था में फैंके गये एक मोती को ढूंढने में महान् प्रयत्न करता है, इसी प्रकार समाधि की दशा में चित्त रूपी समुद्र में परमाणु से भी सूक्ष्म जीवात्मा की अन्वेषणा में महान् प्रयत्न करना पड़ता है। तथा च असंख्य परमाणु को समुदायरूप महती राशि में एक विजातीय परमाणु जीवात्मा की अन्वेषणा अत्यन्त कठिन होती है। आगे भविष्य में जब इस प्रकार 'आत्मस्वरूप' दिव्य-नेत्रों द्वारा दर्शन का विषय बन सके तो आत्मा के समीप ही चित्त-मंडल में व्यापत सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'ब्रह्म' के दर्शन भी हो जायेंगे।

आत्म स्वरूप दर्शन की स्थिति के तथ्यों का साक्षात्कार—ये सब पदार्थ संगठित होकर अनेक प्रकार के व्यापार करते हैं।

चित्त किसके आश्रय से हृदय में स्थित है—आत्म-चेतना की फैलती जा रही गति के साथ-साथ अदृश्य रूप से 'आकर्षण' शक्ति भी फैलती है। यह अति सूक्ष्म तत्त्व है। जैसे 'चुम्बक' की शक्ति अदृश्य होती हुई भी दूसरे पदार्थ को अपनी ओर खींच लेने से प्रकट होती है, उसी प्रकार आकर्षण शक्ति से व्याप्त 'आत्म चेतना' से पूर्ण चित्त, जहाँ अपने साथी 'अहंमंडल' को आत्म-द्युति से अधिक भास्वर बना रहा है, वहाँ उसे आकृष्ट भी किए हुए है। और आगे 'चित्त मण्डल' से आई ज्ञान, क्रिया आकर्षण-शक्ति से पूर्ण 'अहंमण्डल' की शक्ति ने चित्त के गर्भ से निरन्तर आ रहे 'सूक्ष्मप्राण' के मंडलाकार को भी 'दीप्त' तथा 'आकृष्ट' कर रखा है। यह तो आत्मा का आन्तरिक आकर्षण है, किन्तु 'सूक्ष्मप्राण' के मण्डल से सटा हुआ तथा इन सब की सीमा में बांधने वाला 'सूक्ष्मप्रकृति' का मंडल है, जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप होने के कारण इन मंडलों में अनुस्यूत होकर इनको अपने गर्भ में धारण करके बाहर से बाँधे हुए है। सम्भव है सूक्ष्मता के कारण इसे इस समय न देख सकें। 'सूक्ष्म-प्रकृति मण्डल' के बाहर विद्यमान 'हृदयकाश' व्यापी ब्रह्म का मण्डल पूर्वोक्त सब मण्डलों में व्याप्त होकर इन सब को अपने गर्भ में धारण किए है, इस प्रकार यह चित्त, अहंकार तथा सूक्ष्मप्राण इन दो बन्धनों से जकड़ा हुआ 'हृदय' प्रदेश में स्थित है। जैसे अंडे का बाह्य छिलका वा नारियल का 'वक्कल' अपने आन्तरिक पदार्थों को बाहर से बाँधे रखता है। इस प्रकार चित्त की स्थिति के साथ 'सूक्ष्म प्राण' के मण्डल का साक्षात्कार हो जाता है। चित्त के केन्द्र में 'जीवात्मा' के संयोग से उत्पन्न ज्ञान और क्रिया का सूक्ष्म-सा प्रवाह 'अहं मण्डल' के बाहर आकर विशेष रूप से संगठित तथा भास्वर मण्डल के रूप में दीखने वाला यह 'सूक्ष्मप्राण' का स्वरूप है। यही 'जीवनी शक्ति' है। ये साक्षात्कार

आंशिक रूप से चित्रों द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं। **यदाकदा**—'मैं चित्त को देख रहा हूँ' जब ऐसा भान होता है, उस समय 'बुद्धि' तथा 'मनस्तत्त्व' मिल कर ऐसी अनुभूति कराते हैं किन्तु दर्शन का काम 'दिव्यनेत्र' ही कर रहा होता है।

चित्त के अन्य रूप—चित्त मण्डल में प्रविष्ट होने पर सम्मुख प्रकाशमयी पतली तारों का बना 'हेयर स्प्रिंग' अर्थात् 'बाल कमानी' का-सा चक्र घूमता रहता है। इससे सटा हुआ छायावत् रिक्त स्थान है। इसके भी भीतर 'धवल-वर्ण' का शुभ्र प्रकाश है। 'दिव्य दृष्टि' के प्रविष्ट होने पर यह फैलने लगता है। इस वृत्त के केन्द्र में हीरक के समान सुदीप्त एक 'कण' उद्भासित होता है। इस समय इस चित्त मण्डल के बाह्य किनारे पर 'सुनहरी' रंग की चमकीली विशाल तरंगें होती हैं, यही रजोगुण का वृत्त है। इन्हें पार करके नीचे हल्की-सी श्यामता लिये 'तमोगुण' अस्मिता का चक्र निकल आता है। इसे भी पार करके फिर स्फटिक के समान निर्मल-धवल शुभ्र ज्योतिः पूर्ण शान्त समुद्र-सा दीखने वाला 'चित्त' का ही विस्तृत स्वरूप है। इस समय यहां पर कोई तरंग, कोई भी क्षोभ नहीं होता। तब स्तब्ध-प्रशान्त-पारदर्शी चित्त की सात्त्विक अवस्था में उस अद्वितीय, अवर्णनीय, सूक्ष्मतम तत्त्व 'जीवात्मा' के दर्शन होंगे जो कि '**सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति**' मु० २-१-७ वत् है। यहाँ पर चित्त के केन्द्र में गहरा इसे देखें तो प्रतीत होगा—जैसा कि पूर्व भी इससे मिलता-जलता-सा साक्षात्कार कर चुके हैं। किन्तु इस सात्विक अवस्था में ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इस सौम्य ज्योतिर्मयी हीरक-सी कणिका के ऊपर, प्रख्याशील शुभ्र 'घवल' चित्त, चादर के समान लिपटा हुआ है, और कणिका के समान भान होने वाला यह 'जीवात्मा' इस समय भी 'चित्त' के अंश से लिपटा अभिन्न-सा दीखता है। इस शुभ्र 'आत्मकण' में कोई गति वा क्रिया, कोई क्षोभ वा परिणाम नहीं होते हैं। इस समय इस 'आत्म-तत्त्व' को बुद्धि रूपी 'करण' के द्वारा 'चित्त मण्डल' के गर्भ में दर्पणवत् प्रतिबिम्बित 'अस्मिता वृत्ति' के द्वारा 'अस्मि' रूप में अपनी सत्ता का भान होने लगता है। '**असंगोऽग्राह्योऽयं पुरुषः**' इत्यादि श्रुतिवचन इसी अवस्था का निर्देश कर रहा है। 'आत्म-तत्त्व' स्वयं अधिकारी निष्क्रिय होकर भी चित्त-अहंकारादि की विविध ज्योतियों से मण्डित 'हिरण्यमयकोश' के एक देश में स्थित है। इसकी स्वाभाविक ज्ञानमयी चेतना शक्ति प्रभावित निकटवर्ती चित्त, और चित्त के द्वारा अहंकार क्रियाशील एवं चेतना युक्त सा बनकर 'सूक्ष्म-प्राण' के रूप में ज्ञान तथा क्रिया को प्रकट करते हुए समस्त 'आनन्दमय कोश' को द्युतिमान बना कर आकृष्ट किये हुए हैं। यह 'सूक्ष्मप्राण' का मण्डल, अपनी क्रियाशीलता, प्रकाश तरलता आदि से 'आनन्दमय कोश' को प्रतिक्षण रंजित तथा परिसिक्त कर रहा है, और आगे इस 'कोश' से बाहर ज्ञान और क्रिया को 'जीवनी' शक्ति के रूप में परिणत करके रश्मियों के रूप में बहा-बहा कर 'विज्ञानमय कोश' की ओर भेज रहा है। वहाँ पहुँच कर यह रश्तियाँ मनोमय तथा विज्ञानमयकोशों के संघात 'सूक्ष्म शरीर' को उज्जीवित बनाती हुई अधिक चमका रही हैं। यही पारदर्शी, नस-नाड़ी-रहित, प्रकाशमयी छाया के समान, दिव्य-देह 'सूक्ष्म शरीर' है। इसमें 'आत्म-चेतना' का विस्तार दीखता है। इसके आगे वे दोनों शक्तियां-ज्ञान और क्रिया—संगठित रश्मियों के रूप से अधिक विस्तृत होकर 'प्राणमय-कोश' को अनुप्राणित करतीं तथा इन्हें क्रियाशील बनाती हुई 'अन्नमयकोश' स्थूल-दे हमें



चित्र संख्या २२
शब्द संस्कार की प्रक्रिया

फैलती जाती हैं। इस समय स्थूल शरीर भी इन्हीं रश्मियों से प्रकाशित हो जाता है। इन पाँचों कोशों को जीवित बना कर तीनों शरीरों को धारण करने वाली 'चेतन सत्ता' तो परमाणुवत् लघु है। यह सब दृश्य इसी प्रकार का है जैसे किसी सरोवर के केन्द्र से निकल रहा 'जलस्रोत' अपनी लहरें सर के कूल तक संचालित कर देता है। यहाँ पर भी चित्त-मण्डल के केन्द्र से निकल कर चली 'जीवन शक्ति' की सूक्ष्म लघु लहरियाँ उठ उठ कर क्रमशः प्रथम दूसरी को, दूसरी तीसरी को, एवं परस्पर एक दूसरी को ढकेलती हुई चित्त-मंडल के किनारे तक ही नहीं वरन् स्थूल शरीर तक निर्दिष्ट पूर्व क्रम से फैल जाती हैं। यहाँ पर जीवन का सञ्चार ऐसे ही है जैसे चलते जल की लहरियों में चन्द्रिका की ज्योति झिलमिल कर रही हो। आदित्य ने जैसे अपने समीपवर्ती नक्षत्र तथा लोकों को आकर्षण-बद्ध कर रखा है, वैसे ही 'आत्म-चेतना' ने पांचों कोशों तथा तीनों शरीरों को आकृष्ट कर रखा है।

'चित्त' के लिए शास्त्रों में 'कर्माशय' शब्द भी आता है, क्योंकि 'चित्त भूमि' में कर्म-संस्कार रहते हैं। संस्कारों के निर्माण, (*चित्र संख्या २२ में देखें) स्वरूप, निवास का प्रकारादि भी साक्षात्कार के विषय हैं।

संस्कारों का साक्षात्कार—जैसे भूमि में बने खेतों में सब प्रकार के अन्न, औषधि, फूल, फलादि के बीज डाल देने पर वे अंकुरित होकर फूल-फल देते, और आगे को अपनी सन्तति-वृद्धि के लिए अन्न बीज उत्पन्न करते हैं इसी प्रकार मानव-चित्तभूमि भी कर्म के बीजों के निवास तथा उगने का क्षेत्र सा है। कर्म के बीज वासनायें या संस्कार हैं, जो कि प्रसुप्त, तनु विच्छिन्न और उदार भाव के रूपों में से किसी-न-किसी रूप में

---

* चित्र संख्या २२ का विवरण—शब्द संस्कार निर्माण की प्रक्रियाः—

१. घन्टी का शब्द आकाशीय किरणों (ईथर रेज़) के द्वारा कर्ण-शष्कुली पर आघात कर रहा है, जिसकी सम्वेदना गतिवाहक नाड़ियाँ सूक्ष्म श्रवणेन्द्रिय के केन्द्र तक पहुंचा रही हैं।

२. नीलाभ श्वेत सितारे के समान यह सूक्ष्म श्रवणेन्द्रिय शब्द-सम्वेदन को ग्रहण करके मनोमण्डल तक पहुंचा रही है।

३. शिखर पर स्थित अति शुभ्र श्वेत चन्द्र के समान यह मनोमण्डल शब्द-सम्वेदना से प्रतिबिम्बित एवं क्रियाशील हो रहा है।

४. पीत अण्डाकार बुद्धि का मण्डल शब्द के निर्णयार्थ मनोमण्डल की क्रियाशीलता से तरङ्गित हो रहा है।

५. यह संस्कार वाहनी धारा है, जिसके द्वारा बुद्धि संस्कारों को हृदयस्थ अहंकार के मण्डल में मन के द्वारा प्रेषित कराती रहती है।

६. हृदयस्थ अहंकार बुद्धि से प्रेरित मन द्वारा प्रेषित किये हुए संस्कार को ग्रहण करके श्वेत वर्ण के चित्त मण्डल में (जिसमें जीवात्मा है) संस्कार स्थापित कर देता है। अहंकार स्मृति के द्वारा चित्त से व्युत्थान हुए संस्कारों की धारा बुद्धि-मण्डल की ओर भोग देने के लिए जा रही है।

सदा चित्त-भूमि में रहते हैं—बढ़ते हैं । समाधि अवस्था में ये संस्कार इस रूप में प्रत्यक्ष होंगे जैसे किसी झरोखे के मार्ग से आती-जाती रवि-रश्मियों में तैरते से छोटे-बड़े 'कण' दीखते हैं, अथवा काँच के गिलास में जल में घुले कुछ कण अन्दर घूम रहे दीखते हैं। चित्त-मण्डल में अनेक रंग-रूप के, आकार-प्रकार के, परस्पर भिन्न-आकृति के घूमते हुए अगणित कण हैं । यहाँ पर लेखनी से यह भेद करना कठिन है कि कौन-सा कण किस कर्म का संस्कार है यह समाधि की अवस्था में ही प्रत्यक्ष होता है ।

वास्तव में समष्टि चित्त ही संस्कारों का कोश है—समष्टि तथा व्यष्टि चित्तों में संस्कारों का आदान-प्रदान दो प्रकार से होता है । ध्यानावस्था में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है । इसकी प्रक्रिया को पहले विषय में कहे गए कथन के साथ मिला लें ।

१. जैसे नदियों, सरोवरों और समुद्रों से प्रत्येक क्षण जलीय वाष्प, सूक्ष्मतम कणों के रूप में उठ-उठ कर ऊपर नीले आकाश रूपी महा समुद्र की ओर निरन्तर जाते रहते हैं , इसी प्रकार प्रत्येक चित्त से वृतियों द्वारा उत्पन्न संस्कार, सूक्ष्मतम ज्योतिर्मय परमाणु-समुदाय के रूप में उठ-उठ कर प्रतिक्षण महाकाशस्थ 'समष्टि चित्त' की ओर जाते रहते हैं । ध्यानावस्था में समष्टि-चित्त की ओर आकाश में देखने पर दीखेगा कि जलीय वर्षा के समान ही 'समष्टि चित्त' से भी निरन्तर चमकीली वाष्पमयी वर्षा के रूप में यह संस्कार-समुदाय चित्त पर बरसता है, इसी प्रकार प्रत्येक चित्त पर बरस रहा है । संस्कारों का यह आदान-प्रदान का क्रम रश्मियों के इस आवागमन के द्वारा एक प्रकाशमय चक्र के समान चलता रहता है। *(चित्र संख्या २३ में देखें)

२. दूसरा प्रकार 'वायरलैस' या 'रेडियो' की प्रक्रिया से मिलता है । जैसे एक दूर देश से चला शब्द आकाश-मार्ग से आकर सीधा 'वायरलैस' के स्तम्भ पर, अथवा 'रेडियो' के केन्द्र पर आघात करता है ठीक उसी प्रकार 'समष्टि चित्त' से आने वाला संस्कार-समूह सीधा ही रश्मियों के रूप में हृदयाकाश में उतर कर चित्त-मण्डल से सम्बद्ध होता रहता है । यह सीधा ही हृदय में प्रवेश करता है। समाधि में समष्टि चित्त से आ रहे संस्कार-प्रवाह से व्यष्टि-चित्त में पड़े संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं । जैसेवायुका प्रबल झोंका अंगारों पर पड़ी राख को उड़ा कर चमका देता है वैसे ही चित्त-भूमि में प्रसुप्त-से पड़े संस्कार-समूह को निरन्तर चला आ रहा संस्कारों का यह रेला भी इन्हें जागृत व चमत्कृत करके फल-प्रदान के लिए प्रवृत्त कर देता है । विपाकोन्मुख संस्कारों की स्मृति, बुद्‌बुदों के रूप में प्रकट होती है । फिर इन संस्कारों की रश्मियाँ-सी या स्फुलिंग जैसे निकल कर मस्तिष्क-गत बुद्धि मंडल को,फिर बुद्धि-मंडल मानस मंडलको,और आगे

---

* चित्र संख्या २३ का विवरण—ध्यानावस्था में व्यष्टि से समष्टि का सम्बन्ध

१. आकाशस्थ पंच तन्मात्राओं से ब्रह्मरन्ध्रगत सूक्ष्म शरीर के आहार व शक्ति के लिए आ रही दिव्य रश्मियों युक्त धारा का दर्शन ।

२. हृदयगत व्यष्टि चित्त से समष्टि चित्त में संस्कारों के आदान-प्रत्यादान का दिव्य रश्मिओं युक्त धारा के रूप में दर्शन ।



चित्र संख्या २३

ध्यानावस्था में व्यष्टि से समष्टि का सम्बन्ध

मानस-मंडल इन्द्रियों को प्रेरित करके 'प्राणमय कोश' के माध्यम से स्थूल देह के द्वारा उदारभाव में फल देने को विवश करती है। जैसा कि नित्य हमारे दैनिक व्यवहार में होता है यह 'संस्कार प्रवाह' चित्त में पड़े संस्कारों के उद्बोधन के साथ ही अन्य भोग-प्रद संस्कारों को भी 'चित्तभूमि' में छोड़ जाता है। ये भोगप्रद संस्कार जोंकों के समान चित्त में चिपक कर रह जाते हैं। शेष संस्कार उसी प्रवाह के साथ चित्तपटल से फिसलते हुए चले जाते हैं और दूसरे आते भी रहते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि किसी खेत में बलात् बना ली गई पगडण्डी से अपरिचित यात्री भी गुजरते एवं आते-जाते रहते हैं, और यह आवागमन बना रहता है। दिन के समय जागृत-अवस्था में यह संस्कार-प्रवाह मनुष्य पर विशेष प्रभाव डालता है। क्यों कि हमारी समस्त इन्द्रियाँ मन, बुद्धि आदि विषयोन्मुख होते हैं। अतः आन्तरिक हल्की-सी फुरना (स्फुरण) को शीघ्र ग्रहण करके ये इस लिए कार्यान्वित करने लगते हैं कि जागृत-काल में क्रियाशील रजोगुण की प्रबलता होती है। रात्रिकाल में तमसाच्छादित चित्त तथा अन्य बुद्धि आदि 'करण' भी जड़वत्, मूढ़ तथा कुण्ठित होते हैं। इस लिए अहर्निश बहता हुआ यह संस्कार-प्रवाह रात्रि में सोते हुए अपना विशेष प्रभाव नहीं जमा पाता। दिवा-काल में तथा यदाकदा रात्रि में भी स्वपनों में प्रकट होकर ये भोगप्रद संस्कार अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं, अथवा डाल से टूटे पुष्प के समान सूख भी जाते हैं अथवा अपने सदृश नूतन संतति उत्पन्न करने के लिए बीज रूप में संस्कार छोड़ जाते हैं जो यथा अवसर फूलते-फलते रहते हैं।

प्रत्येक मस्तिष्क में एक छिपी हुई अद्भुत शक्ति टेलीविज़न जैसी है, जो संस्कारों के अदृश्य रूप को मूर्त्त रूप में प्रदर्शित करती है।

विपाक देने वाला संस्कार जो स्मृति रूप से उद्बुद्ध होता है, उसे अहम् भावना अपनाती है। तब वह संस्कार हृदय से उठ कर ब्रह्मरन्ध्र में आकर बुद्धि-तत्त्व के आदेश से मनस्तत्त्व द्वारा मूर्त्तरूप में परिणत किया जाता है। जैसे हम प्रायः अनुभूत विषय के संस्कारों की स्मृति को स्वप्नों में मूर्त्त रूप में परिणत हुआ एक फिलम (चल-चित्र) के समान देखा करते हैं। संस्कार मात्र को मूर्त्त रूप देकर दिखाने की टेलीविज़न नामक जैसी शक्ति हमारे मस्तिष्क में भी है। इस प्रकार संस्कारों के आवागमन की प्रक्रिया को हृदयगत चित्त में देख आये हैं।

गुणों से प्रभावित संस्कार—चित्त भूमि में पड़े भोगोन्मुख संस्कार चमकते रेत के कणों के समान दिव्य चक्षु से दीखा करते हैं। चित्त की निर्मल पारदर्शी अवस्था में चित्तगत संस्कार स्वच्छ, निर्मल, स्तब्ध सरोवर में तैरते रंगबिरंगे कीटाणु या मत्स्यों के अण्डों से निकले बच्चों के समान भी दीख जाया करते हैं। सात्त्विक संस्कार-प्रवाह से 'चित्त सर' में लघुता, ह्रस्वता युक्त बारीक सूक्ष्मतम लहरियाँ-सी उठती हैं, जिनमें स्निग्धता, प्रशान्तता, और निर्मल जीवन-प्रवाह मिला रहता है जिससे चित्त में आनन्द-युक्त प्रशान्त-वाहिता छाई रहती है। रजोगुणी प्रवाह के समय ये लघु -लहरियाँ तीव्रता लिए धन-ऐश्वर्य में प्रवृत्त कराने वाली, कभी ज्वारभाटे के समान बड़ी विशाल तथा जीवन-प्रवाह में दाह, दुःख अशान्ति उत्पादक होती हैं। तामस प्रवाह में—धूसर वर्ण की मोटी,

भारी-सी, मन्दगति युक्त तरंगें उठती हैं, इनसे बुद्धि कुण्ठित सी तथा जीवन-प्रवाह गदला सा हो जाता है।

संस्कार उपेक्षा—जैसे किसी पथ के किनारे बैठा कोई पुरुष अपनी उपेक्षा वृत्ति के कारण पान्थ-श्रेणी को आते जाते देख कर भी नहीं देखता वैसे ही ध्यानस्थ-अवस्था में या जाग्रत-अवस्था में इन संस्कारों के प्रति उपेक्षा भाव धारण करने का अभ्यास करलें तो ये संस्कार भी फिर हमारे ध्यान, समाधि, उपासना तथा दैनिक-जीवन-प्रवाह में सात्त्विकता को भंग नहीं कर सकेंगे।

संस्कार अवरोध—'संयम जयी' योगी अपने संकल्प बल से 'अवांच्छनीय' कुसंस्कारों को प्रकृति के उस अन्ध 'महाकूप' में भी ढकेल सकता है, जहाँ से इनका पुनरागमन यदि असम्भव नहीं तो अति दीर्घकाल तक सम्भव ही न हो सके, और ये वहाँ पड़े-पड़े ही दब जायें।

संस्कारों की दग्ध-बीज कल्प अवस्था—भुने चने के समान 'धर्म मेघ' समाधि द्वारा 'प्रतिप्रसव'—फिर अंकुरित होने में अशक्त बने संस्कार 'दग्धबीज कल्प' कहलाते हैं। ये संस्कार यद्यपि सृष्टि के अन्य पदार्थों के समान ही चित्त के साथ प्रलय-काल में अपने 'कारण गुणों' में विलीन तो हो जाते हैं किन्तु ये सर्वथा नष्ट नहीं हो पाते। प्रलय काल में रह कर अन्य पदार्थ तो सशक्त होकर वस्तु-निर्माण में समर्थ हो जाते हैं, किन्तु इन दग्ध वीज बने संस्कारों में से प्रलय-काल में प्रसव शक्ति जाती रहती है। अर्थात् कुछ जन्मों के संस्कार जिन जन्मों से आत्म-विज्ञान या ब्रह्मविज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न होकर मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करना प्रारम्भ कर दिया था उन समीपवर्ति जन्मों के संस्कार कुंठित से होकर दब जाते हैं या समष्टि चित्त में जाकर प्रवेश कर जाते हैं नष्ट नहीं होते। क्योंकि इस समीपवर्ति जन्मों में ज्ञान वैराग्य के संस्कारों का प्रवाह बहता रहता है भोग आत्मक संस्कारों को प्रवृत होकर भोग देने का अवसर ही नहीं मिलता है। ज्ञान और वैराग्य के संस्कार अपनी जाति को ही संस्कारों को समष्टि चित्त से आकर्षण करते रहते हैं अतः ज्ञान वैराग्यात्मक ही भोग होता है। इन्द्रिय जन्य भोग शान्त हो जाता है। इसकी आसक्ति जाती रहती है। ये प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार संस्कार अपनी प्रकृति में लौट जाते हैं यही इनका दग्ध भाव है हमारे सिद्धान्त में में कोई भी संस्कार नष्ट या विनाश भाव को प्राप्त नहीं होता है। अत एव मुक्तावस्था की अवधि के पश्चात् जव पुनः चित्त का निर्माण होता है तब मुक्तावस्था से पूर्व के संचित संस्कार चित्त में आ विराजते हैं और इस मुक्तात्मा को अपनी ओर आकर्षित करके अपना-अपना कार्य प्रारंभ कर देते हैं।

'आनन्द' को सम्मुख रख कर और ध्यानस्थ' होकर यह देखें कि यह क्या वस्तु है; अर्थात् 'आनन्द उत्पन्न कैसे होता है ? इसका स्वरूप क्या है ? इस प्रिय शब्द 'आनन्द' को सुनते ही मानव-हृदय में एक गुदगुदी-सी होने लगती है। लौकिक-भाषा में इसे 'सुख' भी कहते हैं। समाधि द्वारा 'आनन्द' की प्राप्ति प्रसिद्ध है और मानव-समाज में इसका बड़ा सम्मान तथा 'समाधिगत' 'आनन्द' के विषय में बड़ा कौतूहल है। आप्त

जन 'ब्रह्म' को 'आनन्द' का अपार और महा-समुद्र कहते आ रहे हैं जो कि 'ध्रुव-सत्य' है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि 'आत्मा' में आनन्द का सर्वथा अभाव है। 'ब्रह्म' यदि आनन्द का महासागर है तो 'जीवात्मा' में भी 'आनन्द' विद्यमान अवश्य है। उपनिषदों में तो 'आनन्द' की विशेष व्याख्या की गई है और वहां 'आनन्द-मीमांसा' करते हुए ब्रह्मानन्द को सर्वोपरि कहा तथा माना गया है, जो साक्षात्कार में भी वैसा ही उतरता है। यत्र-तत्र 'प्रज्ञान घन' 'आनन्दधन' आदि विशेषण भी 'ब्रह्म' के लिए यथार्थ ही दिये गए हैं।

आनन्द मीमांसा—साधक वृन्द ! इस अनुभूत विषय को कथन करने का तात्पर्य यही है कि आपको साक्षात्कार में सहायता मिले; और ज्ञात हो कि 'आनन्द' की अनुभूति कैसे होती है ?

ज्ञान और आनन्द में भेद—इन दोनों का विश्लेषण करें तो आत्मा तथा चित्त के संयोग से इस मानवपिण्ड में, तथा ब्रह्माण्ड में ब्रह्म तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टि-उत्पत्ति के लिए किए गये 'ईक्षण जन्य' गति से उत्पन्न ज्ञान और क्रिया दो तत्व हैं। क्रिया के द्वारा जो भान होता है वह 'ज्ञान' है; और उस ज्ञान की क्रिया के दर्शन से समाहित चित्त में एक मधुर-सा रस बहाने वाली लहरियाँ उठ-उठ कर जो भाव उत्पन्न करती हैं, वह 'आनन्द' है। जब तक मनुष्य में 'ज्ञान' 'आनन्द' किंवा किसी प्रकार की अभिलाषा-पूर्त्ति की लालसा बनी रहती है वह स्थितप्रज्ञ, स्वात्माराम, अथवा स्वरूपस्थ नहीं हो पाता, किन्तु जब यह लालसा, तृष्णा, विवेक ख्याति आत्म-दर्शन के बाद 'परितृप्ति' में परिणत हो जाती है, तब परम-शान्त जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह गुणों पर विजय है। अतः त्रिगुण समुदाय के सम्बन्ध से रहित गुणातीत, स्वरूपमात्र ज्योतिः 'पुरुष' मुक्त हो जाता है। इस प्रकार यहां पर ज्ञान तथा आनन्द का भेद तथा दोनों की समता को दर्शा दिया है।

आनन्द का स्वरूप क्या है ?—यह भी साक्षात्कार का विषय है। जब तक 'चित्त' किसी बाह्य या आभ्यन्तरिक विषय-जन्य संस्कार के साथ सम्बद्ध होकर 'वृत्त्याकार' नहीं होता तब तक 'निर्वृत्तिक'-सा होता है। उस समय चित्त मंडल में अपनी स्वाभाविक ही सूक्ष्मतम अव्यक्त-सी मन्द-मन्द गति होती है। इस मन्दगति का भान वा दर्शन भी 'स्मृति वृत्ति' के कारण 'अहंवृत्ति' के द्वारा हो रहा होता है। परम-सूक्ष्म तत्त्व 'महत्' सत्त्व से इस आकार में परिणत हुए चित्त में गति का दीखना वा दर्शन तो 'चित्त' का स्वरूप में परिणाम है, और यही 'परिणाम' जो 'अहंवृत्ति के द्वारा सम्पन्न होकर परिदृष्ट हो रहा है, यह जीवात्मा को अपनी 'अस्तित्व' सत्ता के बोध होने का 'स्वरूप' है। इस बोध का दूसरा परिणाम आनन्द है। अर्थात्, जैसे दर्पण में अपने मुख-मण्डल की सौन्दर्य-श्री को देख-देख कर 'मनुष्य' प्रसन्न होता है कि 'अहो ! मै कैसा सुन्दर हूँ,' उसी प्रकार अपनी चेतना का लगातार बोध होना, अथवा ज्ञान होना ही प्रकारान्तर से 'आनन्द' है। 'अहमस्मि' किंवा केवल 'अस्मि' के बोध के समय चित्त की अन्य सब वृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं, केवल 'स्मृतिवृत्ति' का ही अस्तित्व होता है, जिसके कारण 'अस्मि, अस्मि' की उत्पादक एक अखण्ड-धारा बंध जाती है। इस धारा की

लहरियों से उत्पन्न होने वाला तत्त्व ही 'ग्रानन्द' है, ग्रपरंच 'ग्रस्तित्व' का धारा-प्रवाह से बोध बने रहना ही 'ग्रानन्द' का स्वरूप है। इस प्रकार—चित्त दर्पण पर पड़े 'ग्रात्म-ज्योति' के प्रतिबिम्ब के दर्शन से 'ग्रस्मि' का बोध 'चित्त' में होता है। 'ग्रस्मि' का ग्रनुभव करने वाला 'जीवात्मा' है ग्रौर 'ग्रस्मि' का बोधक 'करण' ग्रहंवृत्ति है। पूर्व कथन का सार यह है कि चेतन जीवात्मा' की ज्योति से उद्भासित 'चित्त' में चेतना के प्रसार से यह 'चित्त' प्रतिक्षण संकोच-विकास स्वभाव को प्राप्त होता रहता है। इस संकोच-विकास के कारण ज्ञान ग्रौर क्रिया की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है; इसी संकोच-विकास रूप क्रिया के कारण 'ग्रस्मि-ग्रस्मि' रूप से जीवात्मा को प्रतिक्षण ग्रपनी 'सत्ता' का बोध बना रहता है। 'चित्त दर्पण' में उद्भासित 'ग्रात्म-ज्योति' की प्रतिक्रिया के 'निरन्तर-दर्शन' से चित्त में एक 'परम-सात्त्विक-भाव' की ग्रनुभूति की भी संज्ञा 'ग्रानन्द' है। चित्त मण्डल में होने वाले सब दृश्यों को ग्रनुभव तथा दर्शाने वाली 'ग्रहम्' की सूक्ष्मवृत्ति 'ग्रस्मिता' है ग्रौर इन सब का द्रष्टा ग्रनुभवकर्ता 'ध्रुवचेतन' 'जीवात्मा' है। इस प्रकार विशेष समाहित रूप से चित्त-दर्पण में प्रतिबिम्बित ग्रपने 'ज्योतिर्मय' रूप के दर्शन का नाम 'ग्रानन्द है। इससे ग्रगली शांति की ग्रवस्था है।

शान्ति—जब 'जीवात्मा' इस'ग्रस्ति' वृत्ति से भी उपराम हो जाता है, तब इस 'ग्रस्मिता' वृत्ति को भी त्यागता जाता है। फलतः इस 'सर्व निरोध' में एक ग्रपूर्व ग्रनिर्वचनीय' दशा का ग्रनुभव करता है। यहाँ पर न तो किसी प्रकाश की ग्रनुभूति होती है न किसी ज्ञान की, किंवा ग्रपनी सत्ता का बोध भी नहीं होता। यह 'स्वरूप स्थिति' की पूर्वावस्था कही जा सकती है, जिसके ग्रागे 'स्वरूप स्थिति' की ग्रवस्था प्रकट होती है।

ग्रानन्द के प्रकार—ग्रानन्द के भी कई प्रकार हो जाते हैं। जब हम ग्रन्तःप्रविष्ट होकर देखते हैं तब यह शुद्ध सात्त्विक प्रवाह चित्त में बना रहता है जिसे 'निरोध' कहते हैं। तब तक कथित ग्रपार शान्ति बनी रहती है। जब भी स्वाभाविक गुण परिणाम के कारण रजोगुण का प्रादुर्भाव होकर इस सात्त्विकता में लेश मात्र से भी रजोगुण ग्रा मिलता है तभी इस शान्ति-शिखर से 'जीवात्मा' खिसक ग्राता है ग्रौर 'ग्रस्मि' का भान होने लगता है। साथ ही ग्रानन्द भी यत्किंचित धूमिल होने लगता है। उस समय ज्योतिर्मय धवल चित्त-मंडल रजोगुण की ग्राभा से रंजित हो उठता है। सुतरां यह ग्रानन्दानुभूति ग्रहंकारादि के मंडलों से निःसृत होती हुई ग्रौर वहाँ-वहाँ के भावों से मलिन होती हुई 'विज्ञानमय' कोश बुद्धि मंडल से गुजरती मन के द्वारा 'प्राणमय कोश' में प्रविष्ट होती है। तब इस सत्त्व-प्रधान 'कारण शरीर' से सूक्ष्म शरीर में पहुँच कर यह सात्त्विक ग्रानन्द रजोगुण से प्रताड़ित होकर क्षोभ उत्पन्न कर देता है। इससे क्षुभित हुग्रा 'प्राणमयकोश' स्थूल-देह में ज्ञान-तन्तुग्रों को क्षुभित करता है, जिसके फल स्वरूप रोमाञ्च ग्रौर लोमहर्ष होने लगता है। इस रजोगुणी ग्रानन्दानुभूति की स्थूल क्रिया स्थूल-देह में ही प्रकट होती है, क्यों कि सूक्ष्म शरीर का ग्राधार यह स्थूल देह है; किंच जीव के स्थूल-भोग-प्राप्ति का ग्राधार वा साधन भी स्थूल देह ही है। ग्रतः समस्त कर्मफल प्राप्ति रूप भुगतान भूख-प्यास, शीतोष्ण, मल, मूत्रत्यागादि स्थूल क्रियाग्रों से उत्पन्न, हर्ष, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, व्यथा ग्रादि सूक्ष्म-क्रियाग्रों की ग्रनुभूति

२१०-४०

सूक्ष्म शरीर गत बुद्धि मण्डल में होती है। आनन्दमयकोश' से झरता हुआ यह आनन्द क्रमशः जब रजोगुण प्रधान 'प्राणमयकोश' में अवतरित होता है तब प्राणों के रजोगुणी भावों से रंजित होकर प्राणों में एक आकुलता उत्पन्न करता है;और प्राणों का यह क्षोभ 'कामोद्दीप्ति' स्पष्ट ही रजोगुण के प्रभाव का द्योतक है। पुनः 'कामोद्दीप्ति' से क्षुब्ध 'प्राण' मन, बुद्धि में मैथुनेच्छा को जागृत करता है । उपरान्त मैथुन क्रिया के सम्पन्न हो जाने पर शान्ति-सी आ जाती है; किंतु यह शान्ति की छाया-मात्र होती है, क्योंकि फिर प्राण की पिपासा, चाह, तृष्णा तृप्त न होकर विचार उधर ही दौड़ता है। जब भोगेन्द्रियों में विषय-भोग की शक्ति नहीं रह जाती तब भी एक तृष्णा-आकुलता-सी बनी रह कर 'प्राण' को शान्त नहीं बैठने देती। इस प्रकार विषय-भोगों से प्राप्त सुखेच्छा का बना रहना ही रजोगुणी-आनन्द का स्वरूप है, जो प्राणों की आकुलता के रूप में प्रकट होता है।

यह प्राणों की आकुलता बुद्धि की विवेक-शक्ति द्वारा शान्त की जा सकती है। इस प्राण-तृषा को हम 'खुजली' से उपमा दे सकते हैं-जितना खुजाओगे बढ़ेगी। किंवा कपूरादि प्रलेप के तुल्य विवेक तथा **'प्रतिपक्षभावनम्'** (**वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ-क्रोध मोह-पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनम्। योग.२।३४**) योग सूत्र ही इसका उपाय है। विचार-कोटि तक ही रहने वाला विषय-सुख तो 'रजोगुणी' आनन्द है; किन्तु स्थूल देहों के संयोग से प्राप्त होने वाला तमोगुणी सुख है--आनन्द नहीं। समस्त प्राणी-समुदाय इस 'अधःकोटि' के 'कामज सुख' के वशीभूत है। महाराज 'मनु' ने अधिक गहराई से 'काम वासना' के स्वरूप का विवेचन करके इसके आठ भेद 'मानव समाज' के सामने रखे हैं। यह मैथुन-जन्य 'रति सुख' शान्त होता प्रतीत होता है, किन्तु सर्वथा नष्ट नहीं होता। इस की भी जड़ें अन्य विषयों के समान अन्तःकरण की 'चित्त भूमि' में 'वासना' रूप बन कर धँसती और 'स्मृति' के रूप में छिप कर बैठ जाती हैं जो समय-समय पर फूलती-फलतो रहती हैं। इस प्रकार, मैथुन, रति-क्रिया, खान-पान, गन्ध-माल्य, स्पर्शादि से सुख मिलता है, और सुकर्म, ज्ञान-प्राप्ति, आत्म-परमात्म विज्ञान से आनन्द की प्राप्ति होती है।

तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्द बल्ली अष्टम अनुवाक में आनन्द की ये श्रेणियाँ हैं:—मानुषानन्द, गन्धर्वानन्द, देव-गन्धर्वानन्द, पित्रानन्द, आजानज-देवानन्द (दिव्य चेता योगियों को जन्म से ही प्राप्त होने वाला) कर्म-देवानन्द, देव-आनन्द, इन्द्रानन्द, ब्रहस्पति-आनन्द, प्रजापति-आनन्द,और सबसे अन्तिम सर्वोत्कृष्ट सर्वसार-ब्रह्मानन्द या मोक्षानन्द है। इस प्रकार ये सब ग्यारह प्रकार के आनन्द हैं।

तैत्तिरीय के ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक ९ में ब्रह्मानन्द के विषय में कथन करते हैं—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्द ब्राह्मणो विद्वान न बिभेति कुतश्चन'**।

परमानन्द का विशुद्ध स्वरूप 'स्वरूपस्थ' जीवात्मा तक चित्त-सत्त्व में अवतरित प्रकृति के सर्वोत्तम अंश भूत सत्त्व गुण से मिलकर सात्त्विक तो बना रहता है;

किन्तु इसमें वह सौन्दर्य, वह माधुर्य, वह सुषमा नहीं रहती । मानव-अन्तःकरण में 'वासना-सङ्ग' से यह धूमिल हो जाता है। देवों के अन्तःकरणों में यह स्वच्छ रूप में रहता है, क्योंकि ये सत्त्व बहुल होते हैं। मानव-चित्त कितना भी स्वच्छ हो जाय पर रज से तो मिश्रित रहता ही है। इस रजोगुण के कारण आनन्द भी रजोगुणी हो जाता है, क्योंकि रजोगुण के प्रभाव से उत्पन्न भोग, ऐश्वर्य की चाह इसमें आ मिलती है। स्पष्ट ही मलिन मानव अन्तःकरण में, एवं पशु-पक्षी, कीट-पतंगों के तमोगुण से अभिभूत अन्तः-करणों में, यह तामस कर्म-पूर्ति जन्य-वासना के रूप में रहता है, जो प्रजा उत्पत्ति कारक प्रजनन के काम में आता है। 'मैं ने यह ठीक नहीं किया' किंच 'मैं ने अमुक पाप कर दिया', इत्यादि प्रकार के संताप 'ब्रह्मदर्शी' को स्पर्श नहीं करते । जो इन दोनों प्रकार के निजी भावों को देख-परख और समझ सकता है, उसका आत्म-बल बढ़ जाता है और उपनिषद् के मर्म को पा जाता है।

इस प्रकार इस आनन्द के विषय को भी साक्षात् करे। पठन-पाठन या श्रवण मात्र से यह विषय अन्तःकरण का सात्त्विक भाव नहीं बन पाता। इन साक्षात्कारों में प्रायः समय तो लगता है। अतः श्रद्धापूर्वक तपः-स्वाध्याय निरत रहते हुए धैर्य पूर्वक लगे रहना चाहिए।

स्थूल शरीर से पृथक सूक्ष्म तथा कारण-शरीर का साक्षात्कार—जब योगी ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान के द्वारा प्रवेश करता है, तब एक साधारण-सा प्रकाश उदित होता है। इस समय शरीर के आकार की प्रकाशमय प्रतिच्छाया सन्मुख ध्यानस्थ बैठी प्रतीत होने लगती है । यही सूक्ष्म शरीर है। यह दिव्य तेजोमय होता है । इस ध्यानस्थ आसनासीन सूक्ष्म-शरीर में पारद्वत् चमक होती है। इस समय स्थूल शरीर का भान बिल्कुल नहीं रहता। तदनन्तर एक और दिव्य तेजोमय ध्यान आसीन प्रति छायावत् कारण शरीर की मूर्ति इसके आगे दीखने लगती है। इस शुभ्र शरीर में हिम के समान श्वेत एक छोटे-से अण्डाकार मण्डल में, जिसके अन्दर नवनीत के समान धवल-नीलाभ, शुभ्र एवं मेघ के समान तीन मण्डल विद्यमान होते हैं, यही 'आनन्दमय' कोश या कारण शरीर है । इसमें न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान तीनों मंडल चित्त, अहंकार और सूक्ष्म प्राण के हैं, जिन्हें योगी अपने आसन पर बैठकर देखता है जिसके आर-पार प्रकाश जा सके, जो देखने में मनोहर, आकर्षक, सौम्य और दिव्य-प्रकाशयुक्त होती है। इस में पारद या 'मर्करी लाइट' के समान नेत्रों को भाने वाली ज्योति से पूर्ण बतख के अण्डे के समान एक वृहद चित्त का पिंड चित्त को दीखने लगता है । उसके मध्य में एक कणिका—हीरे की 'कणिका' के समान चमकती है । जैसे हीरे पर पड़ी रवि-रश्मियाँ हीरे को विशेष रूप से चमका देती है, तद्वत् ही यह अण्डाकार केन्द्र में चमकती है। यह कणिका निश्चल, निस्तरंग, निष्क्रिय रश्मियों से रहित होती है। शेष अण्डे का समस्त अन्तराल भाग अत्यन्त सूक्ष्म गति से व्याप्त होता है; किन्तु यह मन्द गति उस 'कणिका पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालती। हृदयाकाश में दीख रहे अण्डाकार चित्त के मध्य में हीरे की कणिकावत् चित्तविशिष्ट 'आत्मतत्त्व' है । इस 'आत्मतत्त्व' ने कारण-शरीर, सूक्ष्म-शरीर एवं स्थूल-शरीर को अपनी दिव्य ज्योतिर्मयी शक्ति से क्रियाशील बनाया

हुआ है। यह 'आत्मतत्त्व' ध्रुव निश्चल एवं निष्क्रय है, जिसको कारण-शरीर ने अपने गर्भ में धारण किया हुआ है। यह कारण-शरीर भी संकोच-विकास-शील है। कभी-कभी यह अपने स्थूल-शरीर की आकृति वाला अथवा अत्यन्त लघु-सा, जैसे नेत्र की पुतली में अपना प्रतिविम्ब दीखता है या इससे कुछ बड़ा देदीप्यमान प्रतीत होता है। जब यह संस्कार उठने लगता है या स्फुरण होने लगता है कि मेरा सूक्ष्म-शरीर, जिसमें ब्रह्मरन्ध्र वर्त्तमान है, वह कहाँ है, तब बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म रश्मियां ऊपर से झरती हुई धारा के रूप में कारण-शरीर या चित्त पर पड़ती हुई प्रतीत होती हैं। कपाल में मन, बुद्धि आदि के मंडल रत्ती या मोती के समान छोटे एवं साधारण-सी आभायुक्त प्रतीत होते हैं। इसको सूक्ष्म शरीर समझना चाहिये। इस प्रकार भी योगी को सूक्ष्म या कारण शरीर का साक्षात्कार हुआ करता है, जो दिव्य-रूप में होता है। ये दोनों शरीर आत्मा के साथ धर्माधर्म के संस्कारों को लेकर ही दूसरे जन्म को धारण करते हैं।

सूक्ष्म शरीर के दर्शन का दूसरा प्रकार—योगी को अपने सूक्ष्म शरीर का इस प्रकार से भी यदा-कदा दर्शन हुआ करता है:—ध्यान में स्थित हो जाने पर सर्व संकल्प-विकल्पों का अभाव होने के पश्चात् जब ध्यान द्वारा योगी समाधि में प्रवेश करता है, उस समय मध्यम-सा प्रकाश उदित होता है और वह फैलने लगता है। उस में साधक को भान होने लगता है कि 'में' ध्यानस्थ होकर इस प्रकाश में बैठा हूं और कुछ देर पश्चात् चन्द्रिका के समान धवल-प्रकाश—टार्च की धारावत् बंधा—दक्षिण पार्श्व से आता है। उस प्रकाश में 'मैं' नाभि के ऊपर हृदय में ही कुछ दूरी पर तीन चार इंच की लम्बाई-चौड़ाई में ध्यानस्थ हूँ। इसके चतुर्दिक शुभ्र आभायुक्त सूक्ष्म-प्रकाश का एक मण्डल है। पुनः यह भी भान होने लगता है कि स्थूल-देह धूमिल वर्ण का है और इसमें बैठे हुए अपने सूक्ष्म-शुभ्र-देह को भी देख रहा हूं। इसके कुछ ही क्षण पश्चात् उस लघु-सी काया या शरीर में एक रुपये के सदृश आकृति वाला एक तीसरा दिव्य तेजोमय शरीर-ध्यानावस्था में अवस्थित-प्रकट होता है। ध्यान की स्थिर तीव्र दृष्टि से देखने पर समीपस्थ दोनों देह तेजोयुक्त प्रतीत होते हैं। और इस तेजयुक्त पारदर्शक देह के हृदय-प्रदेश में दीप्तिमाने शुभ्र छोटा-सा एक तेजोमय पिंड वर्तमान होता है। एक क्षण पश्चात् ही ऐसा अनुभव होने लगता है कि, 'मैं इस लघु देह में स्थित हूं। इस लघुदेह में बैठा इस लघु काया के हृदय प्रदेश में विराजमान तेजःपुञ्ज से भास्वर हो उठा हूं'। फिर लघु-सी काया लुप्त या अदृश्य होने लगती है; परन्तु शेष दोनों देह पूर्वाबस्था में ही स्थित होती हैं। इस समय योगी को ऐसा लगता है मानो इसी तेजःपुञ्ज की ज्योति में 'मैं स्थित हूं'। इस तेजःपुञ्ज के अतिरिक्त अन्य कोई भी आकृति प्रतीत नहीं होती। इस तेजःपुञ्ज से मानो आस-पास का समस्त प्रदेश प्रकाशित होने लगता है। जहां तक ध्यान की दिव्यदृष्टि जाती है सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश प्रतीत होने लगता है। इस स्थिति में योगी को देश, काल, दिशा आदि का कुछ भी भान नहीं रहता। इस ध्यान की सूक्ष्म अवस्था में उपरोक्त दृश्य या विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ भी भान नहीं हुआ करता। योगी उपरिलिखित स्थिति में स्थूल-देह से अपने सूक्ष्म-

शरीर में और फिर कारण-शरीर में दिव्य तेजोमय प्रशान्त आत्मा को चित्त के अन्दर चित्त सहित देखता है। इस आत्म-दर्शन के आगे निर्विकल्प या स्वरूप स्थिति की अवस्था होती है, जहाँ केवल दिव्य-प्रकाश और आनन्द के सिवा कुछ भी नहीं होता। क्योंकि उस समय ज्ञान एवं ज्ञान के कारणों या साधनों का और स्मृति-वृत्ति का अभाव हो जाता है। उस समय आत्मा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है। इसके पश्चात् व्युत्थान होने पर उस अन्तिम अवर्णनीय स्थिति अर्थात् स्वरूप-स्थिति की कुछ भी स्मृति नहीं रहती है, क्यों कि सब करणों का अभाव हो चुका होता है।

वयष्टि-बन्धन—चारों कोशों का अतिक्रमण करता हुआ योगी कुछ ही काल के पश्चात् अपने-आपको एक इंच मोटे और दो इंच लम्बे अण्डाकार जाज्वल्यमान पिण्ड में देखने तथा अनुभव करने लगता है। और उसे ज्ञान होने लगता है कि 'मेरे सम्मुख आकाश में जहाँ तक दृष्टि जाती है वहाँ तक इस ज्योतिर्मय पिण्ड से निर्झरित प्रकाश निकल कर फैल रहा है और मुझे इस सीमा में बाँधे हुए है। मैं स्वतन्त्रता से स्वेच्छा-चारी होकर दूर तक क्यों नहीं जा सकता'। इस सीमा में बाँधने वाली व्यष्टि अहंकार की जंजीर या परिधि है। इसी पिंड से ज्योति के परम-सूक्ष्म स्फुल्लिंग निकलते रहते हैं। इन कणों के संकोच-विकास रूप निःसरण काल में एक विचित्र-सी अनुभूति होती है। इस संकोच-विकासमयी क्रिया का भान स्व-स्थित पिण्ड में भी होता है। इस' क्रिया के दर्शन-काल में इस ज्योति की द्युत चन्द्रिका से प्रतिबिम्बित दर्पण अथवा पारद (मर्करी) दण्ड की शुभ्र द्युति के समान उज्ज्वल और सौम्य होती है। इस अनुपमेय सौम्य ज्योति की संसार में कोई भी उपमा नहीं है। यह सत्य ही है कि इन आन्तरिक अनुद्भूत, दिव्य, शुभ्र ज्योतियों की तुलना संसार में कोई हो ही नहीं सकती। ज्योतिष्पिण्ड के केन्द्र में स्थित सुप्रदीप्त हीरक कणिकासम दिव्यतत्त्व जो आकार में सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता हुआ भी दिव्य-तनु-स्थिर निष्क्रिय प्रतीत होता है, किन्तु जिस ज्योति-मण्डल में यह स्थित है वहाँ इसके चतुर्दिक ऐसी सूक्ष्म, सुन्दर निस्तरङ्ग मन्द-गति निरन्तर हो रही होती है, जैसी कि दोपहर के समय मरु-मरीचिका प्रदेश में दीखा करती हैं। इस गतिमय प्रदेश में इस दिव्य कण को लपेटे, मकड़ी के जाल से भी सूक्ष्म सुहावना छायावत् बना वृत्त-सा भी मन्दगति से हिलोर लेता है। यह दिव्य दर्शन बड़ा मनोहर, शान्त और आनन्द-प्रद होता है। इस नगण्य गति के दर्शन से यह भाव जागृत होता है कि 'यह ज्योतिष्मान् पिंड तो 'चित्त-सत्त्व' है और इस 'चित्त' मण्डल में उत्पन्न गति या क्रिया का कारण ध्रुव, निष्क्रिय अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म चेतनात्मा के साथ चित्त सत्त्व का संयोग है; एवं गतिमय चित्त-मंडल की आभा से आभासित हो रही पतली-सी छायावत् अस्मिता जो 'अहमस्मि' या 'अस्मि' के रूप में अपने अस्तित्त्व की बोधक है। यही अस्मिता का एक दर्शन है।

कोशों में तथा देहों में आने-जाने के पथ का अन्वेषण—जब योगी ध्यानस्थ होकर मूलाधार में प्रवेश करता है अथवा भ्रूमध्य से मस्तिष्क में प्रवेश करता है तो एक दिव्य-प्रकाश उत्पन्न होकर उसके द्वारा 'अन्नमय' कोश में या स्थूल-शरीर में नस-नाड़ी अथवा सप्त धातुओं का या कंठ-हृदय-नाभि इत्यादि सब प्रत्यङ्गों का साक्षात्कार करने

लगता है। इस स्थूल-शरीर का सब प्रकार से साक्षात्कार करके 'प्राणमयकोश' में प्रवेश किया जाता है। इस स्थिति में 'अन्नमयकोश' का भान जाता रहता है और अपने शरीर को मध्यमसा प्रकाशमय हल्का-फुल्का समझने लगता है, जैसे यह मेरा 'प्राणमयकोश' अन्नमय कोश से पृथक है और उसको अपने गर्भ में धारण करके सञ्चालित कर रहा है, इस प्रकार की अनुभूति होने लगती है—'प्राणमयकोश' के अंगों को अपान, समानादि के भेद से भी अनुभव करने लगता है। यही पथ 'अन्नमयकोश' से 'प्राणमयकोश' में जाने का है।

इसके पश्चात् 'प्राणमयकोश' से निकल कर 'मनोमय' और 'विज्ञानमयकोश' में प्रवेश करता है। इनका मुख्य केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र है जो 'अन्नमय' तथा 'प्राणमय' कोशों को अपनी दिव्य रश्मियों से आच्छादित किए रखता है। यह सूक्ष्म-शरीर प्रकाशमय आवरण के समान इस स्थूल देह को आच्छादित किए हल्का-सा चन्द्र किरणों जैसी वाष्प के समान होता है। यह १७ पदार्थों से निर्मित मकड़ी के जाले से भी सूक्ष्म ज्योतिर्मयी दिव्य-रश्मियों से युक्त 'आनन्दमयकोश' या कारण-शरीर को आच्छादित किए रखता है, इसके सर्व व्यापार और कार्यों का साक्षात्कार करके फिर 'आनन्दमय' कोश या 'कारण शरीर' में योगी का प्रवेश होता है। इस 'आनन्दमयकोश' या 'कारण शरीर' का मुख्य केन्द्र है 'हृदय-प्रदेश', इसमें दिव्य ज्योतियों का पुंज अण्डाकार के रूप में वर्त्तमान रहता है। इसमें से एक प्रकाश की धारा निकल कर 'ब्रह्मरन्ध्र' तक पहुँचती है। इस प्रकाश की धारा के द्वारा 'सूक्ष्म-शरीर' और 'कारण शरीर' का साक्षात् रूप से सम्बन्ध सदा बना रहता है। इसी के द्वारा हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक संस्कारों का गमनागमन सदा होता रहता है। इन्हीं रश्मियों के द्वारा योगी ध्यान की तीव्र दृष्टि से देखता हुआ 'ब्रह्मरन्ध्र' से हृदय-प्रदेश में पहुँच जाता है। यह एक पथ ऊपर से नीचे उतरने का है।

दूसरा सुषुम्ना के मार्ग से भी आना-जाना होता है।

तीसरा मेरुदन्ड के कसेरुकाओं को भी गिनता हुआ नीचे उतर आता है।

चौथा जब पंच कोशों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है, तब योगी ध्यान की तीव्र दृष्टि से सीधा ही जिस कोश से भी जाना चाहे या जिस कोश में भी जाना चाहे जा सकता है। व्युत्थान के पश्चात् जब वापिस आना चाहता है, उसका क्रम निम्न प्रकार से होता है।

उपरोक्त पथों से हृदय में पहुँच कर समाधि द्वारा स्वरूप में अवस्थित होता है। इस के पश्चात् जितने काल का संकल्प कर के बैठा था उतने ही मास, दिन, घण्टे वा मिनट में व्युत्थान होने लगता है। सर्वप्रथम स्मृति उत्पन्न हो कर संस्कारों को उथल पुथल करने लगती है और संस्कार अहंकार के साथ टकरा कर इसे क्रिया शील कर देते हैं। तब अहम् अस्मि का बोध होने लगता है और सूक्ष्म प्राण भी बाहर की ओर चेतना का सञ्चार फेंकने लगता है। इसके पश्चात् स्थूल प्राण भी गति शील होकर रक्त-परि-

भ्रमण का विशेष रूप से संचार करने लगता है। इस से पूर्व योगी की यह अवस्था होती है कि बोलना चाहता है किन्तु जबाडी दान्त जकड़े से होते हैं, हाथ पैर सुन्न से अकड़े हुए होते हैं। बोलने और आसन खोलने में कई मिनट या घण्टा दो घण्टा भी लग जाते हैं। पास में कोई बात करता हो तो शब्द का ज्ञान नहीं होता। नेत्र सखती से बन्द हुए होते हैं। शरीर में हिलने की सामर्थ्य बिलकुल नहीं होती है। जडवत् बना होता है। यदि कोई साधक पास हो और उस अवसर पर सूखे हाथ से मालिश करना शुरु करदे तो फिर शीघ्र ही चेतना, प्राण, और रक्त आदि का संचार होने लगता है। और आसन से उठने योग्य हो जाता है। सर्वप्रथम जव कारण शरीर में व्युत्थान होता है तो अहंकार उन संस्कारों को बुद्धि के मण्डल में या विज्ञानमयकोष से ढक देता है। तब मन इस से प्रतिबिम्बित होकर क्रियाशील हो जाता है। तब उस व्युत्थान के संकल्प का भान होता है कि मैंने इतने घण्टे की समाधि लगाई थी। इस के पश्चात् मन सूक्ष्म इन्द्रियों को गतिशील कर देता है। वे फिर स्थूल इन्द्रियों को गतिशील बना देती हैं। उधर सूक्ष्मप्राण ने स्थूल प्राण को विशेष रूप से क्रियशील किया होता है। उस समय स्थूल शरीर का व्यापार पूर्ववत् प्रारम्भ हो जाता है। यह क्रम है समाधि के पश्चात् व्युत्थान का।

ऊपर जो चार पथों का वर्णन किया था उन के द्वारा भी वापिस व्युत्थान में आने का क्रम है।

इसी 'कारण-शरीर' के सन्मुखी भाग से एक प्रकाश की धारा निकल कर 'समष्टि-चित्त' मण्डल को जाती है। इसी के द्वारा संस्कारों का उस दिव्य लोक में गमनागमन होता रहता है, जिसको समष्टिचित्त कहते हैं। (इसको चित्र सं० २३ पृ.२१६ में देखें) इस 'आनन्दमय' कोश से जीवन शक्ति की रश्मियों की धारा निकलकर सूक्ष्म शरीर में और वहाँ से 'अन्नमयकोश' में चली गई है। इस 'आनन्दमय' कोश में संस्कारों की बँधी हुई ग्रन्थियाँ इस मानव को भोग में प्रवृत्त कराती हैं और ये ही अनादिकाल से बन्धन में बांधे हुए हैं। यहाँ से सर्वत्र जीवन का संचार निःसरित होकर सब कोशों का पालन-पोषण—तर्पण करता है। यह हृदय में प्रकाश का एक महान् पुंज है, जो कि जीवात्मा के लिये एक पिंजरे के समान है। इसकी मोह और ममता में बंधा हुआ यह जीव सदा जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। इससे निकलने का भी बड़ा प्रयत्न करता है पर आसानी से निकल नहीं पाता। जब ज्ञान और परम बैराग्य से इस स्वर्णिम पिंजरे के बन्धनों का उच्छेदन करता है तभी इससे मुक्त होता है। ये कोश और शरीर ही इस जीव के बन्धन के हेतु हैं। जब स्थूल-शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होता है तब इसका गमन पाप-पुण्य के प्रभाव से गुदा या लिंगद्वार से अथवा मुख या नेत्रों या कपाल से होता है। इसका आगमन माता-पिता के संयोग से रज-वीर्य में प्रवेश करके गर्भ में रह कर एवं पनप कर योनि-द्वार से होता है। जब मोक्ष में गमन करता है तब देवयानादि मार्ग से पुण्य-लोकों में गमन करता हुआ 'ब्रह्मलोक' को चला जाता है।

विवेक-ख्याति का साक्षात्कार—जब 'आनन्दमय' कोश गत 'चित्तसत्त्व' सात्त्विकता की प्रबलता से अति निर्मल जलाशय वा कूपजल के समान स्थिर, स्फटिकवत् पारदर्शी हो जाता है, उस समय 'निर्विचार' समाधि की एकाग्रता प्रवृद्ध होकर। रजस्

को इतना दबा देती है कि 'ग्रहंकार' एकाग्र वृत्ति को भी दर्शाने में ग्रसमर्थ हो जाता है, तब सत्त्व की सौम्य ग्राभा में 'चित्त' ग्रौर 'ग्रात्मा' में विभेदक दर्शन रूप 'विवेकज्ञान' उद्भासित होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म एकदेशी चेतन तत्त्व ग्रणु रूप 'ग्रात्मा' को 'ग्रहंवृत्ति' की सहायता से यह ग्रनुभव होता है कि 'मैं चेतन-स्वरूप हूँ' । यह चित्त है जिसे मैं ग्रपना स्वरूप समझ रहा था। मेरी ही सत्ता से शक्ति सम्पन्न होकर यह 'चित्त' 'ग्रस्मिता' की सहकारिता से सूक्ष्म एवं स्थूल-देहों का व्यापार कर रहा है, किन्तु यह भी विशुद्ध 'ग्रात्मदर्शन' नहीं है क्योंकि चित्त में 'ग्रहंवृत्ति' द्वारा प्रदर्शित 'प्रतिबिम्ब' भी 'प्रतिबिम्ब' मात्र है । जैसे सरोवर में बिम्बित सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य नहीं है, ऐसे ही चित्तगत ग्रात्मदर्शन प्रतिबिम्बित 'चेतनात्मा' का प्रतिबिम्ब है। ग्रात्मा नहीं। 'विवेक ख्याति' भी चित्त की एक ग्रवस्था विशेष ही है। इसमें रजोगुण का किञ्चित् ग्रंश मिला रहता है जिसके कारण 'ग्रहंवृत्ति' का उदय होता है। क्रमशः 'सविकल्प', 'सविचार', 'निर्वितर्क', 'ग्रानन्दानुगत', ग्रस्मितानुगत' समाधियों के ग्रन्त में तथा 'निर्विचार' की परिपक्व दशा में 'विवेक ख्याति' प्रकट होती है। 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के द्वारा जैसे **'तदेव रजो-लेशमला-पेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्व-पुरुषान्यता-ख्यातिमात्रं, धर्ममेघोपगं भवति तत् परं प्रसंख्यान-मित्याचक्षते ध्यायिनः'** व्यास, भाष्य (योग० १-२) का ग्रर्थ स्पष्ट है—जब 'चित्त सत्त्व' रज के लेश मात्र मल से भी रहित हो जाता है तब 'स्वरूप प्रतिष्ठ' निस्तरंग-निश्चल हुग्रा चित्त, पुरुष ग्रौर चित्त के 'भेदक-वृत्ति वाला' होकर 'धर्ममेघ समाधि' की योग्यता प्राप्त कर लेता है। यही 'परं प्रसंख्यान' विवेक ख्याति की दृढ़ ग्रवस्था है। सर्वत्र सदा व्यवहार काल में भी 'चित्त' को ग्रपने से पृथक् देखते हुए कार्य करने की ग्रवस्था है । जब यह 'चित्त' सत्त्व रजस्-तमस् युक्त वृत्तियों के ग्रभाव से सर्वथा रहित हो जाता है तब इसमें समीपस्थ वस्तु से यथावत् 'उपरंजित' होकर पदार्थ के स्वरूप को 'यथावत्' दर्शाने की योग्यता प्रादुर्भूत हो जाती है। जैसे निर्मल दर्पण समीपस्थ पदार्थ से प्रतिबिम्बित हो उठता है इसी प्रकार सर्ववृत्ति-निरोध से निर्मल बना 'चित्तसत्त्व' ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्य विषयों से उपरक्त होकर इनको स्पष्टतया पृथक्-पृथक् दर्शा देता है । तब ऐसा ही बना 'चित्तसत्त्व' प्रकृति-पुरुष-विवेक' कराने में समर्थ होता है।

'ग्रानदमयकोश का ग्रधिकांश विषय—'सविचार' 'ग्रानन्दानुगत' तथा 'ग्रस्मितानुगत' समाधियों द्वारा ही ज्ञातव्य है। जैसे—'ग्रानन्दानुगत' समाधि में 'ग्रहं-ग्रस्मि' वृत्ति के पुनः-पुनः उदय होते रहने से जो प्रसन्नता होती है उसी के कारण इसे 'ग्रानन्दानुगत' कहा है। यहाँ पर 'ग्रहंकार' का साक्षात्कार होता है। 'ग्रहंकार' प्रकृति का परिणामात्मकार्य है। इस में सत्त्व का बाहुल्य है, ग्रौर 'सत्त्व' में ही सुख तथा ग्रानन्द है। ग्रतः 'ग्रानन्दानुगत' में 'ग्रहंवृत्ति' के द्वारा उत्पन्न फल ही ग्रानन्द की ग्रनुभूति है। 'ग्रस्मितानुगत' में ग्रस्मिता का साक्षात्कार 'ग्रहंकार' के सदृश नहीं होता है, क्योंकि 'पुरुष' से प्रतिबिम्बित, किंवा प्रकाशित 'चित्त-सत्त्व' की संज्ञा 'ग्रस्मिता' है, इसलिए इस चित्तसत्त्व में 'ग्रहंकार' रहित 'ग्रस्मि-ग्रस्मि' मात्र का बोध होता है । यहाँ पर 'रजस्' इतनी मात्रा में ही होता है जिससे 'ग्रस्मि' का बोध 'ग्रस्मितानुगत' में हो रहा होता है। 'तमस्' इस 'ग्रस्मि-बोध' की क्रिया को रोकने मात्र के लिए है। इसके ग्रागे इस 'ग्रस्मि-बोधक-वृत्ति' के भी शान्त हो जाने पर परम सात्त्विक स्थिति में, जैसा

कि उपर कह आए हैं, 'निर्विचार' की दृढ़ता से उत्पन्न 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' की सहायता से 'सत्त्वप्रधान' किन्तु त्रिगुणात्मक चित्त में, गुणातीत चेतन आत्मा का भेदक 'विवेक-ज्ञान' प्रकट होता है। जिससे 'अस्मिता-क्लेश' निवृत्त हो जाता है। इस 'प्रसंख्यान-अग्नि' से अपने समस्त परिवार सहित 'अविद्या' दग्ध बीजवत् हो जाती है और चित्तगत वही 'तमस्', जिसमें अविद्या विद्यमान थी, इस परम-सात्विक 'विवेकख्याति' की स्थिरता में सहायक बन जाता है। तब 'अस्मि' के भी शान्त हो जाने पर परम प्रशान्त, 'परवैराग्य' के उदय होने से उत्पन्न इस 'वृत्ति' के भी निरोधक संस्कारों की दृढ़ता 'धर्ममेघ' समाधि से उत्पन्न 'निरुद्धावस्था' में 'स्वरूप स्थिति' होती है।

विपर्यय विकल्प वृत्तियां समाधियों में भी रहती हैं—हृदयस्थ 'आनन्दमय-कोश' में जब 'विवेकख्याति' प्रकट होती है, तो इसका तात्पर्य यह है कि साधक ने प्रकृति के परिणाम—'महत्तत्त्व' और 'अस्मिता' को 'आत्मतत्त्व' से पृथक् देख लिया है किंवा इन दोनों को प्रत्यक्ष करके जड़-तत्त्व होने का निश्चय कर लिया है। अतः अब साधक को 'आनन्दमय कोश' में होने वाले सर्व व्यापारों को देख कर, इनको यथार्थ रूप से समझने में किसी प्रकार का विपर्यय वा 'विकल्प' जैसा भ्रान्त-ज्ञान नहीं होना चाहिये और समस्त व्यापार पूर्वापर रूप से समझ में आ जाना चाहिए। समाधि काल में यह भी स्पष्ट भान होना चाहिये कि धर्म, लक्षण, अवस्था तथा परिणामों में से इस समय 'चित्तमण्डल' में कौन-सा परिणाम वर्तमान हैं "मैं इस समय कहाँ पर स्थित हूं, 'चित्त' में वा 'अस्मिता' में अथवा इससे परे कहीं पर मैं एकाग्रता में हूँ वा 'निरोध' में," इन सब परिमाणों के स्वरूप का ज्ञान भी होना चाहिये। साथ ही साधक को यह भी साक्षात्कार कर लेना चाहिये कि 'कारण-शरीर' में विद्यमान 'सूक्ष्म प्रकृति' अपने कार्य रूप चित्त एवं अस्मिता में और चित्त-अहंकारादि तत्त्वों में किस रूप में व्यापक है। चित्तादि में यह प्रकृति सर्वथा बदल गई है अथवा चित्तादि के साथ कुछ कुछ साम्य भी है। क्योंकि आत्म-विवेक की अपेक्षा यह विज्ञान कुछ स्थूल है। इसके आगे यदि साधक अपने मानव पिण्ड में कारण शरीर सूक्ष्म तथा स्थूल-देह में, किंवा पांचों कोशों में व्यापक 'प्रकृति' तथा परम तत्त्व ईश के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों का साक्षात्कार कर ले (क्योंकि उस अवस्था में यह हमारे निकटतम हैं); तब हृदयस्थ 'सूक्ष्म-प्रकृति' और 'ईश्वर' का साक्षात्कार अपने पिण्ड में कर लेने के पश्चात् सुगमता से समष्टि में प्रविष्ट होकर 'प्रकृति तथा 'महान् ब्रह्म' का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकेगा। जब तक साधक चित्त' और आत्मा में विभेद नहीं कर सकता और 'आनन्दानुगत' किंवा 'अस्मितानुगत' समाधियों की स्थिति में हुए साक्षात्कार के आधार पर 'चित्त 'विशिष्ट आत्म-तत्त्व' को 'आत्मा' और 'आनन्दानुगत' में ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की मान्यता कर बैठे तो स्पष्ट ही यह 'विकल्प' मिथ्या-ज्ञान है।

आत्म-दर्शन वा भ्रान्ति-दर्शन—साधारण अनभिज्ञ-साधक ही नहीं वरन् दीर्घ कालिक अभ्यासी भी देह में कहीं किसी ज्योति के प्रकट होने पर उसे आत्मा की 'ज्योति' किंवा 'आत्म-दर्शन' समझ बैठते हैं, और 'विवेक-ज्ञान' से वञ्चित रह जाते हैं। अतः अपने विज्ञान को 'प्रज्ञाऽऽलोक' की कसौटी द्वारा परख कर 'विपर्यय, विकल्प', संशयादि के सम्मिश्रण से विलग करके शुद्ध कर लेना चाहिये।

भ्रान्तियों की निवृत्ति का उपाय—हमारी अनेक शंकाओं तथा भ्रान्तियों की निवृत्ति केवल 'दिव्य नेत्र' अथवा 'प्रज्ञाऽऽलोक' द्वारा पदार्थ साक्षात्कार करके ही हो सकती है। क्योंकि रज, तम मलाकीर्ण यह बुद्धि तो 'सत्त्व' के उस आलोक से वञ्चित हैं जिसके द्वारा व्यवहित, विप्रकृष्ट, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय विज्ञान प्राप्त किया जाता है। जैसे सृष्टि-सृजन, प्रलय, अन्तःकरण चतुष्टयादि भौतिक पदार्थ तथा जीव, ब्रह्म के विषय में उठने वाले तर्क तथा शंकाओं का समाधान तो समाधि-गत साक्षात्कार द्वारा ही होता है; भले ही हम तर्कों के समाधानों को सुन कर कुछ काल के लिये आप्त वचनों पर श्रद्धा करके मौन धारण कर लेवें। संसार में सर्व प्रथम विज्ञान का साक्षात्कार ईश्वरानुग्रह से परम-शुद्ध ऋषि-अन्तःकरणों में आविर्भूत हुआ। पश्चात् यही ज्ञान 'आगम' जो बिना प्रयत्न के ऋषि अनुग्रहमात्र से मिला था, 'श्रौत' 'आप्त' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। मानव-समाज ने इसी को आधार बना कर आगे अन्य विज्ञानों का आविष्कार किया।

निर्भ्रान्त अवस्था—'निर्विचार समाधि' की प्रवीणता से अध्यात्म प्रसाद—'आत्म ज्योति' मिलती है; जिसका नाम 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' है। इस प्रज्ञा की विशेषता दर्शाते हुए व्यास कहते हैं—**'अन्वर्था सा, सत्यमेव विभर्ति न च तत्र विपर्यास-गन्धोऽप्यस्तीति'**। व्यास भाष्य (योग १-४८) इसी के आगे कहते हैं कि श्रुति-प्रोक्त सामान्य-ज्ञान 'आगम' किंवा शब्द प्रमाण जन्य सामान्यज्ञान और अनुमान जनित ज्ञान से इस में विशेषता यह है कि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के ज्ञान, अतीन्द्रिय पदार्थों की जैसे पंचतन्मात्राएं, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, महत्तादि एवं सूक्ष्म, तथा व्यवहित, विप्रकृष्टादि पदार्थों की समान्य रूप-रेखा मात्र बता देते हैं किन्तु समाधिगत 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' साक्षात् रूप से पूर्वापर-सम्बन्ध पूर्वक प्रत्यक्ष करा देती है। यही 'परम-प्रत्यक्ष' निर्भ्रान्त ज्ञान माना गया है। इस प्रकार से :—

स्वरूपस्थिति तक का क्रम—'निर्विचार' से 'ऋतम्मभरा' उद्भूत होती है। इससे 'विवेक ख्याति' प्रकट होती है। 'विवेक ख्याति' की सात्त्विक वृत्ति से भी जब स्वरूप स्थिति में बाधा प्रतीत होती है तब **'प्रसंख्यानेऽप्य कुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः'**(योग०४२८) अर्थात् निरन्तर बने रहने वाले विवेक ज्ञान से भी विरक्त बने योगी पर 'परं वैराग्य' की प्रशान्त भागवत ज्योति की वर्षा होने लगती है। यह 'परं वैराग्य' की स्थिति ही 'धर्ममेघ' की स्थिति है। इससे विवेक ख्याति का भी निरोध होने लगता है। इस निरुद्धावस्था में सभी वृत्तियों के निरोधक 'पर वैराग्य' के संस्कार ही चित्त में रह जाते हैं। इसी अवस्था को **'संस्कार शेषोऽन्यः'** (योग१-१८)❀ योग सूत्र में कहा गया है। क्योंकि जब शेष सभी संस्कार दग्ध बीज हो जाने से तिरोहित हो जाते हैं, **'तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्'**(योग०१।३) तब चेतन आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह सब स्थिति विशेष रूप से परम पुरुषार्थ, प्रभुप्रसाद से ही मिलती है। इसी कारण 'आत्मदर्शी' ब्रह्मवादियों ने ज्ञान-विज्ञान की इयत्ता की मुहर कहीं पर नहीं लगाई। सर्व-

---

❀ १ विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।
(योग. १-१८)

संस्कार-शून्य 'धर्ममेघ समाधि' की अवस्था ही सर्वथा 'निर्भ्रान्ति' अवस्था है। यही 'स्थित-प्रज्ञ' अवस्था है। इसी अवस्था में भागवत प्रसाद रूप 'धर्म' का साक्षात्कार होता है।

भोग—यह शब्द बहुत प्रसिद्ध है, किन्तु लोकभाषा में प्रसिद्ध 'भोग' शब्द के अर्थ से दार्शनिक अर्थ भिन्न है। **'चिदवसानो भोगः'** (सां०१-१०४) इष्ट तथा अनिष्ट विषय के पदार्थ रूप अनुभव को ही भोग कहते हैं। जिस भोग की चित्ति--अर्थात् पुरुष में अवसान—समाप्ति होती है, यह सूत्र का तात्पर्य है।

'सत्व पुरुषो रत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थत्वात्'....' (योग० ३-३५)। इस योग सूत्र का भी भोग के विषय में सांख्य जैसा ही तात्पर्य है। यद्यपि विषय के अनुभव स्वरूप वाला ही भोग है, तो भी इस भोग की समाप्ति बुद्धि में नहीं होती है, क्योंकि बुद्धि जड़ तथा भोग करने में 'भोक्तृ-शक्ति' की शक्ति से रहित है। पुरुष तो कर्त्ता न होने पर भी चेतन होने से भोग करने की शक्ति से युक्त है। यहां यह विशेष स्मरण करने के योग्य है कि सम्बन्धित विषय से उपरक्त बुद्धि-वृत्ति के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित चित्तविशिष्ट पुरुष ही भोग का आधार है शुद्ध पुरुष नहीं। यदि कहो कि यह किस प्रकार से माना जावे तो उसके लिये प्रमाण उपस्थित करते हैं, **'अकर्तुंरपि फलोये-भोगोऽन्नाद्यवत्'** (सां० १-१०५)। जिस प्रकार प्रजा द्वारा उत्पन्न किये गए अन्न का उपभोग उत्पन्न न करने वाला प्रजा-स्वामी राजा करता है उसी प्रकार बुद्धि कर्तृक क्रिया के उपभोग का आरोप चेतन पुरुष में किया जाता है। जैसे सेना तथा सेना-नायक जय तथा पराजय करते हैं, किन्तु उन दोनों का आरोप राजा में करके राजा की 'जय' तथा 'पराजय'—ऐसा व्यवहार जगत् में प्रसिद्ध है: वैसे ही यहां भी समझने का प्रयत्न करना चाहिये। यहां पर 'भोग' नाम है गुणों के परिणामों, अर्थात् चित्त, अहंकारादि का। वस्तुतः 'चित्त सत्त्व' का नाम ही 'भोग' है; क्योंकि इसके बिना तो संसार का कोई भी पदार्थ भोग-प्रद नहीं बनता (योग ३-३५)।

अपवर्ग—भोग के सब करणों का अभाव तथा आत्मा की स्वरूप में स्थिति ही अपवर्ग या मोक्ष है।

स्वरूपस्थिति से लौटते समय—परम सात्त्विक-निश्चल-निस्तरंग चित्त में बैठ कर स्वरूपस्थ होते समय संकल्प-विकल्पों का सर्वथा अभाव होने के कारण साधक का ध्यान चित्त की दशा की ओर प्रायः नहीं जाता। किन्तु यदा-कदा ऐसा हो जाता है कि 'स्वरूपस्थ' जैसी शान्त अवस्था से व्युत्थान होने पर सर्व प्रथम 'चित्तसत्त्व' की प्रख्याशीलता के स्वच्छ फैली हुई चन्द्रिका के समान ज्योति के रूप में दर्शन होते हैं जिसका कोई आकार-प्रकार नहीं होता' क्योंकि अभी संस्कार शून्य भूमि में स्थिति होती है। अभी 'अस्मिता' के मण्डल या क्षेत्र से परे होता है, जहाँ पर संस्कार शून्यता-सी है और 'आत्म-सान्निध्य' है। चित्त के इस गम्भीर निश्चल प्रशान्त तल से ऊपर उठते ही ज्योति का आभासमात्र होता है, और यह 'स्वरूप शून्यमिव, अर्थ निर्भासमात्र' होता है। इस स्तर पर आकार चतुर्दिक फैला चन्द्रिका का स्वच्छ मनोज्ञ क्षेत्र दीखता है— यही 'अस्मिता' का क्षेत्र है। यहाँ आकार अभ्यासी को कुछ संज्ञा या होश आता है और 'अस्मि' आभास होता है। यदि सात्त्विकता का प्रबाह प्रबल है तो इतना भान होकर

फिर चित्त के उसी निश्चल-तल में जा बैठता है और अज्ञात दशा में हो जाता है। अन्यथा कुछ क्षणों में 'अहमस्मि' ऐसा भान होने लगता है और पूर्व-'प्रकाश वृत्त' के साथ सटा हुआ शुभ्र नीलिमा युक्त प्रकाश का अन्य घेरा भासता है। यह चित्त का बाह्य मण्डल है। यहाँ पर 'अस्मिता' वृत्ति के कारण चित्त का संकोच-विकास रूप परिणाम प्रतीत होता है। यदि साधक अधिक सावधान है तो इस संकोच-विकास के साथ 'अहंवृत्ति' की तरंगें फैल कर ऐसी दशा उत्पन्न करती हैं जैसे कोई झूले में झूल रहा हो। और 'अहमस्मि' रूप अनुभूति की तरंगों में उद्वेलित— झूलता जीवात्मा पालने में झूलने जैसी अवस्था का अनुभव करता है, यही आनन्दमय स्तर है। यहाँ पर कभी विशेष सात्त्विक शान्त अवस्था में ऐसा भी प्रतीत होता है जैसे किसी स्रोत से चमचमाता शुभ्र स्वच्छ जल निकल कर छोटी-छोटी मन्द लघु लहरियों के रूप में फैलता—बहता जा रहा है, जो दर्शक के हृदय में हिलोरें उत्पन्न कर देता है। इसी स्थान के चतुर्दिक फिर एक प्रकार के मेघ से छाये दीखते हैं, जो कि वाष्प से कुछ मोटे, निर्जल, धवल बादलों के समान हल्के, किन्तु रवि-रश्मियों से चमकते और छायादार बने बड़े सुन्दर भासते हैं। 'सूक्ष्म प्राण' के मण्डल का यह स्वरूप इस रूप में भी उद्भासित हो उठता है। यहाँ इन में छाया रूप से 'अहंकार' मिश्रित होता है।

हिरण्यमयकोश का दृश्य—यदा-कदा यह उपरोक्त सम्पूर्ण दृश्य सम्मुख आ जाता है। कदाचित् 'अहंमण्डल' तक ही' कभी केवल 'अहं-मण्डल' से अगला केवल 'सूक्ष्मप्राण' का मण्डल ही; कभी केवल 'चित्तमण्डल' ही भासित होकर पूर्ण व्युत्थान को प्राप्त हो जाता है। जैसे 'विज्ञानमय' 'मनोमय' 'प्राणमय' और 'अन्नमय' कोशों के स्तरों से निकल कर 'आनन्दमयकोश' के भी आन्तरिक दिव्यस्तरों में 'चित्त' की जो स्थिति होती है वह निरावरण-सी होने के कारण 'महान्-विस्तृत' प्रतीत होती है; और ध्यान में बैठते समय यह 'चित्त' एक 'पुष्करिणी' वा गंभीर 'कूप'वत् प्रतीत होता है। ये 'स्वयंवेद्य' अवस्थायें हैं। इस समय हृदयाकाश 'आकाश वत्' महान् प्रतीत होता है, क्यों कि अन्य सब स्थूल आवरणों का अभाव होता है।

अस्मि-अस्मि की अनुभूति—..दय में प्रविष्ट वा आने-जाने का दृढ़ अभ्यास हो जाने पर 'साधक' वहाँ के 'सूक्ष्मप्राण आदि के मण्डलों में ऐसे ही प्रवेश करता चला जाता है जैसे 'गृह स्वामी' अपने घर के अनेकों कमरों के कमानीदार—स्प्रिंग लगे कपाटों को खोलता हुआ भीतर जा बैठता है, और वे कपाट स्वतः बन्द भी होते जाते हैं। अथवा कोई तैराक किसी सरोवर की सीढ़ियों से उस में निर्भीकता से उतरता चला जाता है अन्त में 'अस्मिता' रूपी तल में जाकर 'अस्मि-अस्मि' का अनुभव करता और जल की शीतलता का आनन्द लेता हुआ स्वेच्छा से वहाँ बैठा रहता है, एवं स्वेच्छा से ही सीड़ियों द्वारा अथवा सीधा वहाँ से उठकर तैरता हुआ सरोवर से बाहर आ जाता है। 'हृदय' में स्थित होकर देखने पर स्पष्ट देखा जा सकता है कि हृदय से निकल रहीं 'ज्ञान' और 'क्रिया' की चमकीली 'वाष्पवत्' (**प्रसिद्धमूर्ध्व ज्वलनं हरिर्भुजः' के अनुसार**) जीवनी-शक्तिमयी रश्मियों को जो स्वभावतः ऊपर को उठती हैं, '**ब्रह्मरन्ध्र' के द्वार से 'टार्चवत्'** बंध कर नीचे को आती हुई रश्मियाँ आकृष्ट कर लेती हैं—और निरन्तर आकृष्ट करती

रहती हैं। आगे यह जीवन-प्रसार सूक्ष्म-शरीर के द्वारा स्थूल-देह में जा फैलता है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखने की बात है कि कभी-कभी सूक्ष्म-प्राण के 'मण्डल' में झलक जाने वाली लाली रुधिर के प्रतिक्षेप के कारण हो जाती है; अन्यथा यह 'सूक्ष्म-प्राण' उसी रंग का ही होता है जैसा पहले इसके रंग-रूप के विषय में कह आये हैं।

आध्यात्मिक संसार की कठिनतम खोज—'ईश्वर प्रणिधान' पूर्वक श्रद्धा एवं तपश्चरण से जब भगवत अनुग्रह होता है, तब आचार्य की सहायता से 'हृदय ग्रन्थि' का भेदन हो जाता है और साधक को वह 'दृष्टि' मिल जाती है जिसके द्वारा योगी एक परमाणु को भी अपने समक्ष यथेष्ट समय तक स्थिर बनाये रख कर यथेच्छ दर्शन कर सके, अथवा एक संकेत विशेष से वहाँ की स्थिति को अवगत कर सके। तब योगी को पौनःपुन्येन 'चित्त मण्डल' का अवगाहन करने से परमाणु से भी सूक्ष्म—सूक्ष्मातिसूक्ष्म समुज्ज्वल ज्योतिर्मय उस 'चेतन तत्त्व' का आभास वा दर्शन होता है जो सब प्रकार से अनुपम है। लघुता की पराकाष्ठा है, ज्योतिर्मयी होती हुई भी यह 'सत्ता' निरवयव' अपरिणामिनी, ज्ञानमयी, चेतन, एकरस, स्वतःप्रकाशमान है। यह आध्यात्मिक संसार की 'आप ही' अपनी उपमा है। प्रकाश के महासागर 'चित्तसत्त्व' में, जहाँ प्रकाश ही प्रकाश भरा पड़ा है, तद्रूप बनी इस चेतना को ऐसे ही खोजना पड़ता है जैसे महासागर के अगम अन्तस्तल में अभीष्ट मुक्ता को ढूंढ़ना। यह खोज अध्यात्म संसार की कठिनतम खोजों में मुख्य है, जो '**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत**' के समान है। यह कठिनतम विज्ञान साधना है। अतः अति धीरता और वीरता से श्रद्धा पूर्वक भागवत् प्रसाद की प्रतीक्षा करते हुए वैराग्य वृत्ति से साधक को यहाँ पर तत्परता पूर्वक संलग्न रहने पर सफलता अवश्य मिलती है। कठिनाई तो यही है कि यह—'द्रष्टा पुरुष' केवल 'शक्तिमान्' है, और '**शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः**❀(योग २-२०) के अनुसार यह 'द्रष्टा' सब विशेषणों से अछूता है—पृथक् है। किन्तु फिर भी 'पुरुषः **बुद्धेःप्रतिसंवेदी**'(**योग०व्यास भाष्यम २-२०**) चेतनवत् बने 'चित्तदर्पण' में पड़े प्रतिबिम्बों का एवं विषयों से अनुरंजित करणों और संस्कारों का 'द्रष्टा' है। शुद्ध 'आत्मा' विषयों से अनुरंजित नहीं हो सकता, अनुरञ्जित तो 'चित्त' तथा 'बुद्धि' होती है और 'जीवात्मा' अनुरञ्जित 'चित्त' का द्रष्टा होता है। दर्शन वा ज्ञान-धर्म तो बुद्धि का है,किन्तु इस समय 'विवेक दर्शन' से पूर्व अविवेक के कारण आत्मा में यह दर्शन, श्रवण आदि 'धर्म' प्रतीत होता है। आत्मा बुद्धिदर्शी व चित्तदर्शी होने से चित्त वा बुद्धि रूप नहीं बन जाता। अतः 'आत्मा' बुद्धि आदि से विलक्षण है। यह 'द्रष्टा पुरुष' ज्ञात-अज्ञात विषय वाले परिणामी चित्त तथा बुद्धि से विपरीत धर्म वाला अपरिणामी है। क्योंकि 'जीवात्मा' को तो 'चित्त' का सदा ही ज्ञान बना रहता है कि इस समय 'चित्त' में क्या हो रहा है। दोनों में भेद होने से ही, इस 'चित्त' का परिद्रष्टा 'पुरुष' बनता है। व्यास का कथन है—'**स आत्मा, बुद्धेर्न स रूपो नात्यन्त विरूप इति**' (**योग०व्यास भाष्यम २-२०**) अर्थात्—आत्मा न तो 'बुद्धि-तत्त्व' से मिलता है और न अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाला या विरुद्ध रूप है, क्योंकि यह 'आत्मा' सब विकारों से रहित होकर भी बुद्धि-ज्ञान वृत्ति का प्रकाशक है—अर्थात् चित्त के द्वारा

❀ द्रष्टादृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

प्रेरित 'बुद्धि तत्त्व' विषयों से अनुरञ्जित हो जाने की शक्ति से सम्पन्न हो रहा है, और इसी शक्ति की सहायता से यह बुद्धि विषयों से अनुरञ्जित हो कर 'जीवात्मा' को विषय-ज्ञान कराती है , अतः इसी भाव को 'प्रत्ययानुपश्यः' पद से कहा गया है।

अभय धाम—ज्यों-ज्यों निर्विचार' में प्रगति होती जाती है त्यों-त्यों अन्तःकरण में निर्मलता छाती जाती है और आत्म-सामीप्य होता जाता है। इस स्थिति में आत्म-सदन 'हृदय' में अब दिन-रात शुभ, शीतल, सुखद, शान्तिप्रद, चन्द्रिका-सी व्याप्त रहती है। यहाँ मूर्तिमान् 'जीवन' के दर्शन होते हैं, क्योंकि यहीं पर तो वास्तविक 'अन्तःमानव' 'जीवात्मा' का वास है। यह ज्योतिर्मयी अवस्था भूत, भावी की निर्दशिका भी होती है। ज्योतिःपूर्ण इस हृदय-गमन में स्वच्छन्द-विहारी 'भूत भावी' के प्रदर्शक भाव के प्रतिबिम्ब को देख कर 'प्रतिभा' का आभास मिलता रहता है मानो कोई 'टेलीविज़न' तथा टेलीफून लगा हो और उससे सब समाचार मिल रहे हों। क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि सात्त्विक स्थिति में 'विश्वाकाश से''हृदयाकाश' का सम्बन्ध जुड़ा रहता है। योगी को जगत्-जननी भगवती प्रकृति के मण्डल का स्पष्टतः भान भी होता है जो कि हृदय में 'सूक्ष्मप्राण' के मण्डल के बाहर शुभ्रतम सुवर्णमयी आभा से पूर्ण है मानो जगदम्बा अपने कार्य-रूप 'चित्त' के हिंडोले' में लिटाये प्रिय 'अमृत पुत्र' को झुला रही है, और अमृत पुत्र जीवात्मा निर्भयता से 'चित्त के हिंडोले' में पड़ा विश्राम कर रहा है—यह स्वरूप स्थिति की अव्यक्त द्वन्द्वातीत—तुरीयावस्था से पूर्व की अवस्था है। यहीं पर 'अमृत पुत्र' को अपने 'पितृदेव' के दर्शन भी होते हैं, जो कि हृदय के अन्तरतम और बाहर भी सर्वत्र व्यापक है—यही 'व्यष्टि विज्ञान' की 'सीमा' या 'पराकाष्ठा' है।

'भूतजयी' योगी अपने 'प्रज्ञाऽऽलोक' के बल से जब चाहे इन रूपों का दर्शन कर सकता है। योगदर्शन का तृतीय पाद साक्षी दे रहा है। साथ ही भगवत स्वरूप **'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'**※में योगी स्थित होता। 'प्रकृति' जो अब तक अपने कार्य रूप में 'जीव' के बन्धन का कारण बनी हुई थी, अब भगवान् के 'अमृत पुत्र' उपासक योगी को अपने 'अङ्क' निर्भयता तथा परम शान्तिमय 'अभयधाम' में लेकर बैठती है। यहाँ पर योगी 'जननी प्रकृति' एवं प्रकृति-पति 'पिता' के भव्य दर्शन में निमग्न होता है। **'तद्धाम परमं मम'(गीता १५-६-६)** के कथनानुसार यही उपरिलिखित ही 'अभयधाम' है।

अमूर्त्त दर्शन—हे पुण्य कर्मन्! पुण्य मूर्ते! तपोधन ! योगिन !! थोड़ा सा-ही और आगे बढ़ो—तो इस 'अहम्' की सीमा का पार करते ही समष्ठि में प्रविष्ट हो जाओगे और देखोगे कि—चतुर्दिक् से स्निग्ध आनन्दमयी दिव्य-ज्योति अपरिमित शक्ति, शीतल, स्नेह, मधुर, कृपा, और वात्सल्यमयी धवल-धारायों ने तुम्हें आच्छादित कर लिया है। जननी का यही विशाल, वरद हस्त है, जिसने आ घेरा है और अभय, शान्ति, आनन्द, प्रदान कर रहा है। ये ही वे दिव्य भागवत् शक्तियाँ हैं जो कि उपासक की भावना के अनुसार--'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी'। भक्ति-भाव

※ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था: विद्यतेऽयनाय।
यजुः अ०३१। मं. १८।

प्रधान उपासकों को यह प्रकृति उमा, दुर्गा, योगमाया, महालक्ष्मी, महा-सरस्वती आदि शान्ति रूप में दर्शन देती है। उपासक की भावना के अनुसार संकल्प बल से पञ्च-तन्मात्रा निर्मित दिव्य देह विश्रुत श्रद्धेय रूपों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि देव रूपों में उपस्थिति हो जाते हैं किन्तु भावना की तन्मयता की दृढ़ता होनी चाहिये। तत्त्व ज्ञानी योगियों को भी ये दिव्य शक्तियाँ—शक्ति, विज्ञान, ज्योतिर्मयी दिव्य धाराओं के रूप में प्रकट होती हैं। इस प्रकार से उपरिलिखित 'अभय धाम' से शास्त्रोक्त 'धर्ममेघ' समाधि की परम पुनीत अवस्था में ही चल रहे सत्त्व-गुण से भास्वर बना समस्त हृदय मन्दिर, जो अब तक मानव की सुकोमल, मृदुल, शुभ भावनाओं का एक अर्द्ध विकसित कलिकावत् अवगुंठित रूप था, अब ज्योतियों का रङ्गमञ्च बना होता है। इस समय तो यह समुज्ज्वल, शुभ्र, यशोदायक, सात्त्विक उच्चाकांक्षाओं, श्रद्धा भक्ति, वैराग्य, आत्म-समर्पण की विशाल भावनाओं का क्रीड़ा स्थल बना होता है। भगवान की विश्व-चेतना के महान् विशाल निर्भर से झर्झरित रश्मि-जाल असंख्य दिव्य ज्योतिर्मय कणों के रूप में 'परा प्रकृति' के माध्यम से 'हृदयाकाश' में प्रति क्षण बरस रहे हैं। उनमें से कतिपय बिन्दुओं का साक्षात् सम्बन्ध दिव्य-आभा युक्त '.वज्ञान' किंवा 'प्रशान्त आनन्द' के रूप में 'चित्त मण्डल' से होता है। चातक के समान पिपासु यह 'जीवात्मा', स्वाति जल के इन अमृत कणों की चाह में गगन भेदी दृष्टि से देखा करता है; क्योंकि इस अमर रस की माधुरी इन्हीं दिव्य कणों में है—आनन्द रस का आस्वाद इन्हीं में है; किन्तु इस परमानन्द रसामृत का पान यदा-कदा 'आनन्दानुगत' समाधि की उत्तम भूमिका में पहुँचने पर ही मिलता है। शेष समस्त सांसारिक ज्ञान और आनन्द तो इस 'जीव' के लिये 'सुरा के समान कटु, विषय-पिपासा का उद्दीपक, इन्द्रियों की दिव्यता का नाशक तथा हलाहल के समान 'मारक' है। इस अवस्था में तो समस्त वासना-समूह पर प्रकारान्तर से 'तुषारापात' सा होता है। वनस्पतियाँ-अन्नादि जैसे ओले पड़ने से नष्टहो जाते हैं ऐसे ही यह आनन्दमयी दिव्य-ज्ञान की वर्षा वासनाओं को दग्ध करती चली जाती है। आगे इसी अवस्था में एक अन्य 'महान् तत्त्व' का उद्भव होता है, जिसका नाम 'धर्म' है। इस 'धर्म मेघ' समाधि में 'चित्त सत्त्व' प्रायः संस्कार शून्य रहता है और सत्त्व के विमल प्रकाश से आपूर्ण हो जाता है। तब हृदयाकाश की स्वच्छता में तैरती ये दिव्य-ज्योति-रश्मियाँ प्रशान्त 'चित्त सत्त्व' के साथ खेलने लगती हैं—'चित्त' में गुद-गदी उत्पन्न करती हैं। विमल 'चित्त सत्त्व' इन दिव्य रश्मियों के सात्त्विक सुकोमल संस्पर्श से मुखरित हो उठता है। जैसे माता-पिता अपने शिशु के मूक संस्पर्शों से मुखरित हो उठते हैं वैसे ही 'चित्त सत्त्व' में अति हल्की सूक्ष्म लहरियाँ लहराने लगती हैं। दिव्य-दर्शी योगी चित्त के इन हिलोरों को प्रत्यक्ष कर लेते हैं। इन लहरियों के दर्शन से उत्पन्न विमल भावना का मूर्त्त रूप ही तो दैवी प्रेरणा 'धर्म' किंवा 'आध्यात्म-प्रसाद' है। इसमें मानव-बुद्धि के संकल्पात्मक रजस्, तमस् का सम्मिश्रण नहीं होता—**श्रुतानुमान प्रज्ञा-भ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्**' के निर्देशनुसार यह दिव्य ज्ञान सीधा 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' किंवा '**प्रतिभाद्वा सर्वम्**' कथित 'अन्तःस्फुरणा' के द्वारा 'उद्भूत' होता है और विशुद्ध रूप में ही ग्रहण किया जाता है तथा प्रज्ञाऽऽलोक के द्वारा प्रत्यक्ष किया गया होता है।

वेद-त्रयी का विज्ञान इसी 'धर्ममेघ' समाधि की उच्चतम अवस्था में, उन ऋषि-पुंगवों के 'चित्त सत्त्वों' में भगवत् अनुकम्पा से जीवोद्धार के लिये प्रकट हुआ था। वे 'चित्त सत्त्व' उस अवस्था में 'भगवत् ज्योति' से रञ्जित थे। उस दिव्य ज्योति से आपूर्ण थे—व्याप्त थे। वही वेदज्ञान 'धर्म' के नाम से संसार में प्रख्यात हुआ है। इस प्रकार संसार का पथिक यह 'जीव' क्रमशः अपने लम्बे पथ को पार करता हुआ संसार-सागर के दूसरे कूल पर आ पहुंचता है। इसे अब पथ की चिन्ता नहीं, क्योंकि लक्ष्य सामने दीख रहा है, जहां आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक एवं परिणाम, ताप, संस्कार इन छः दुःखों का अन्त हो जाता है और नये दुःखों के आने की सम्भावना नहीं होती। भय-शोक-मोह की दुःखद स्मृति लुप्त होकर अपूर्व परम निश्चिन्त अवस्था 'जीवमुक्ति' प्राप्त होती है। इस जीवन मुक्ति को सांख्य भी स्वीकार करता है। 'जीवन्मुक्तश्च' सांख्य०३।७८। यहाँ पर वृत्तियों के सब विक्षेप और भूतों के द्वन्द्व समाप्त हो जाने के कारण 'चित्त' सदा अपने स्वभाव से 'निरुद्ध भूमि' की स्थिति में रहता है। क्योंकि 'प्रख्या रूपता' ही चित्त का 'गुण' वा 'धर्म' है। इस प्रकार सहज रूप से 'चित्त' तो निरुद्ध-भूमि की अवस्था में और 'जीवात्मा' स्वरूप में स्थित रहने लगता है। प्रथम तो स्वरूप में स्थिति-प्रयत्न साध्य थी और सब 'स्वरूप अवस्थिति' स्वाभाविक-सी हो जाती है। यही दोनों में भेद है—जो स्मरण रखने योग्य हैं। जीवन्मुक्त स्वरूपस्थ योगी गुणातीत होकर भी वर्तमान देह को तब तक धारण किये रहते हैं जब तक कर्म का विपाक होकर शान्त नहीं हो जाता। 'चक्र भ्रमणवत् धृत शरीराः' साँख्य०अ०३,सू०८२। संस्कार-साक्षात्कर्त्ता, भूतजयी, जीवन्मुक्त योगी तो आवश्यकता पड़ने अथवा आवश्यकता समझने पर **'निर्माणचित्तानि अस्मिता-मात्र.त्'** (योग ४-४) सूत्र के अनुसार वर्तमान देह-विपाक को अनेक चित्त निर्माण द्वारा समाप्त करके देह त्याग देते हैं । क्योंकि इस अवस्था तक 'अविद्या' तो अभिनिवेशादि अपनी समस्त संतति सहित 'दग्धबीज' हो चुकती है। अतः इन योगियों के लिए देह त्याग वैसा ही सरल बन जाता है जैसे जीर्ण-वस्त्र को उतार कर फेंक देना; किंवा अभ्यस्त ध्यानस्थ दशा में एक कोश को त्यागकर दूसरे कोश में प्रविष्ट हो जाना। वर्तमान देह इन्हें बन्धन का कारण प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्वरूपस्थ रहने के कारण 'चित्त' किसी नूतन कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। केवल क्षुत्-पिपासा निवृत्ति मात्र के भोग कर्म ही रह जाते हैं जो शरीर के साथ ही निवृत्त हो जाते हैं। शरीर-धारण की इस अवस्था में भी ऐसा योगी यदि कोई कर्म करता है तो वह भगवत्-प्रेरणा से प्रेरित होकर कर देता है, जैसे डाकिया डाक बाँट देता है। यह व्युत्थान की दशा अस्थाई होती है—अस्वाभाविक, क्षणिक तथा क्रिया-मात्र ही; अतः कर्म विपाक रहित होती है; क्यों कि इन कर्मों में जीवन्मुक्त योगी को 'आसक्ति' नहीं है। इसलिए इन कर्मों से वासनायें भी नहीं वनतीं तथा योगी कर्म-विपाक से रहित होता है। गीता कथित 'स्थित प्रज्ञ' की यही अवस्था है (अध्याय २ श्लोक ५४-६१)। यह मानव जीवन की सफलता अथवा मानव जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति है।

जीवन्मुक्ति की सफलता में—भी प्रथम सफलता पूर्वोक्त स्थितियाँ हैं, अर्थात् १. 'विवेकख्याति' की प्राप्ति; २. 'धर्ममेघ' स्थिति के उदय से सर्व-प्रकार की तृप्ति; ३. क्लेश कर्मों की निवृत्ति; ४. 'धर्ममेघ' द्वारा परम-वैराग्य की प्राप्ति तथा स्वरूप-

स्थिति हो जाना; ५. सर्वद्रष्टा भगवान में 'जीवात्मा' की स्थिति हो जाना—जीवनमुक्ति की सफलता है। धन्य हैं वे मनुष्य जो अपने लक्ष्य को पूर्ण कर चुके हैं, किन्तु वे भी प्रशंसनीय हैं जो दुःखद प्रकृति के मनोहारी विकारों के यथार्थ रूपों को साक्षात् करते हुए विषयों की ऊंची-नीची खाई तथा चोटियों को लांघते हुए, जप, तप, संयम, व्रत, नियम, यज्ञ, योगादि उच्च अनुष्ठानों में निष्ठा रखते हुए इन्हें करते चले जा रहे हैं। ये भी अपने दृढ़ निश्चय से विज्ञान तथा वैराग्य प्राप्ति द्वारा आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार करके अवश्य अपने जीवन को भी कृत-कृत्य करेंगे। किन्तु जिन्होंने सांसारिक विषाक्त जीवन की असारता को नहीं देखा, नहीं समझा, चिन्ता तो उनकी है। संसार की शेष समस्त योनियाँ—'भोग योनियाँ' बन्दीगृह मात्र हैं। केवल 'मानव' ही पर यह अनुग्रह है कि वह अपनी स्थितिपर विचार करे। अनुकूल तथा प्रतिकूल, मुक्ति तथा बन्धन के भेद को अनुभव करके, प्रतिकूल दुःखों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करे। इस लिये, **'इहचेदवेदीदथसत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः भूतेषु भूतेषु विचिंत्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवति** ।' *ऐसा ही पूर्वज सन्त, महात्मा, योगी, ऋषि, मुनि सभी सत्पुरुष कहते तथा सावधान करते चले आ रहे हैं।

मृत्यु का साक्षात्कार—अब केवल यही एक ही तत्त्व का साक्षात् करना शेष है यद्यपि प्राणीमात्र मृत्यु का नाम सुनते ही संत्रस्त हो उठता है; किन्तु मृत्यु से इतना भय खाने की आवश्यकता नहीं है। मरते समय जो शारीरिक या मानसिक कष्ट हुआ करता है वह विशेष रूप से उग्र पापों का फल होता है। इसीलिये ऐसे पापी जनों को मरते समय कष्ट से प्राण छोड़ते देख कर यह 'मानव' वस्तुतः उस कष्ट से ही भय खाता है। मृत्यु के समय यदि कष्ट या दुःख न हो तो कोई भी उससे न डरे, फिर पुण्यकर्मा मुमुक्षु जनों को, जिन्होंने अपने पाप ही नहीं वरन् पाप-संस्कारों को भी ज्ञानाग्नि से दग्ध कर दिया है और आत्म-साक्षात् पूर्वक अभिनिवेश क्लेश के स्वरूप को समझ लिया है, उन्हें मृत्यु से भयभीत होने की आवश्यकता ही नहीं। सांसारिक-जन तो मोहग्रस्त होने के कारण दुःखी होते हैं। सर्व प्रथम तो उन्हें अपने शरीर से मोह होता है। ये खाने-पीने आदि विषय-भोगों की लालसा के कारण, अपने परिजनों में सुख-वृद्धि होने के कारण, उपार्जित धन्य-धान्य में अति राग होने के कारण, तथा आवागमन में विश्वास की शिथिलता के कारण और सबसे अधिक आत्म-बोध न होने के कारण इस संसार को त्यागते समय हाहाकार मचाते हैं आत्मदर्शीज्ञानी ने सब तथ्य का साक्षात्कार कर लिया फिर उसे अब काहे का डर ? मृत्यु के समय शरीर में क्या प्रक्रिया होती है इसे ध्यानस्थ होकर साक्षात् कर सकते हैं। ध्यानस्थ होते समय जब संकल्प-विकल्प का अभाव हो जाता है उस समय हमारी चेतना अपने केन्द्र की ओर केन्द्रित होने के लिए चलती है। इसका सर्व प्रथम स्थूल-शरीर पर प्रभाव पड़ने लगता है; जैसा कि प्रारम्भिक अभ्यासियों को अभ्यास की पूर्वावस्था में भी ध्यान के समय जब प्राण की गति मन्द पड़ने लगती है तब प्रथम पैर और टांगों में चींटियाँ-सी चलने लगती हैं और ये अङ्ग भारी पड़ कर सोने से लगते हैं। अनभ्यस्त नये अभ्यासी प्रथम तो इस नयी बात से भय खाते हैं, किन्तु

---

* केनोपनिषद् खण्ड० २। मंत्र ५।

थोड़े काल में प्राणों में ज्यों-ज्यों समता आती जाती है, अङ्ग-प्रत्यङ्गों का भारीपन तथा देह की जड़ता नष्ट होती जाती है। इसी प्रकार शरीर छोड़ते समय योगी को यह कठिनाई नहीं आती क्योंकि उसे प्राणों की समता का अभ्यास हो चुका है। यह क्रिया तो हम ध्यानस्थ होते समय अपने संकल्प-बल से लाते हैं किन्तु मृत्यु के समय जन-साधारण की देहों में यह विवशता से आ रही होती है। अतः वे घबराते हैं। वे इस प्रक्रिया का क्रम नहीं जानते। जैसे एक स्रोत सूखने लगता है तब उसके अन्तःमूल से ही जल-स्राव बन्द होने लगता है। यही दशा मृत्यु के समय होती है, अर्थात्, हमारी चेतना के केन्द्र हृदयगत चित्त की जीवन-शक्ति रूप 'सूक्ष्म प्राण' की गति मन्द होने लगती है। इसका प्रभाव यह होता है कि क्रिया के प्रसार के अभाव से ज्ञान-रूप चेतना का प्रसार भी अगले सब कोशों में स्वभावतः मन्द पड़ जाता है। क्योंकि साधारणतः मृत्यु एकदम नहीं हुआ करती। हृदय की स्तब्धता में तो तुरन्त मृत्यु हो जाती है, साधारणतया यह प्रक्रिया धीरे-धीरे होती है। इस से तन्द्रा के समान मूर्च्छा-सी स्थुल-शरीर में छाने लगती है। इस समय मनुष्य कभी 'संज्ञा' में आ जाता है, वार्तालाप कर लेता है और कभी फिर निस्संज्ञ-सा हो जाता है। इस मूर्छा का कारण देखते आ रहे हो कि हृदयगत 'सूक्ष्म प्राण' की निरन्तर होने वाली क्रिया, जो जीवनी-शक्ति को निरन्तर ही प्रसारित करती थी, अब कुछ व्यवधान के साथ रुक-रुक कर होने लगती है। जीवन-प्रसारण क्रिया में 'ज्ञान वा चेतना' और 'गति' मिश्रित रहती हैं जो पहले क्रम-पूर्वक स्थूल-देह में अन्य कोशों के माध्यम से जाकर— फैल कर कार्य करती थीं वे अब रुक-रुक कर होने लगी हैं। जैसे एक पिचकारी ढीली पड़ जाने पर पानी को निश्चित दूरी तक नहीं फेंक सकती इसी प्रकार अब 'चेतना' का प्रसार भी मन्दसा होने लगता है, हृदय से निकल कर कभी किसी कोश तक कभी किसी कोश तक जाकर और अन्त में शिथिल पड़ कर हृदय तक ही सीमित रह जाता है। परिणाम-स्वरूप प्राणमयकोश में होने वाली लहरें भी आते-आते मन्दतम पड़ती जाती हैं, जिसका प्रभाव सर्वप्रथम स्थूल-देह पर प्रकट होता है। क्योंकि देहव्यापी प्राण और उप-प्राण दोनों जीवनी-शक्ति की प्राप्ति के लिये अपने केन्द्र 'हृदय' की ओर दौड़ते हैं; किन्तु वहाँ अपने केन्द्र में जीवन का अभाव पाकर अपने ही केन्द्र में विलीन होने लगते हैं। इस समय समस्त देह 'क्रिया तथा संज्ञा' विहीन होती जाती है तब हाथ-पैर ठन्डे तथा भारी होने लगते हैं। पैरों तथा टांगों में ऐंठन होने लगती है। अन्त में यह निष्क्रियता समस्त देह में फैल जाती है तदनन्तर मस्तिष्कगत विज्ञानमय तथा मनोमयकोश भी क्रिया-शून्य होकर अपने व्यापार को बन्द कर देते हैं। तब मन, बुद्धि समस्त सूक्ष्म इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्रिक मण्डल सहित हृदय में आकर कारण-शरीर के चतुर्दिक मण्डलाकार में स्थित हो जाते हैं। पञ्चतन्मात्रिक मण्डल के अन्तर्गत सब इन्द्रिय-शक्तियां स्थित हो जाती हैं। उसके अन्दर कारण शरीर अर्थात् सूक्ष्म प्रकृति का मण्डल, सूक्ष्म-प्राण का मण्डल फिर अहंकार का, और 'अहंकार' में 'चित्त' के केन्द्र में 'जीवात्मा' होता है। वह 'जीवात्मा' अपने आकर्षण-बल से इस समस्त ज्योतिष्पुञ्ज को साथ लेकर इस देह से बाहर निकलता है। यह सभी मिल कर एक प्रकाशित शंखाकृति धारण करके आकाश-मण्डल में गमन कर जाते हैं।

प्राणी मात्र के सूक्ष्म और कारण शरीरों का आकार प्रकार बैज्ञानिक

दृष्टि से दिये गये चित्र के समान ही होता है ,किन्तु जिस शरीर में यह जीव प्रवेश करता है, उस समय यह सूक्ष्म और कारण-शरीर उसी आकार प्रकार का बन जाता है। जब मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है, उस समय मनुष्य के आकार प्रकार का होता है । और जब पशु पक्षी कीट पतङ्ग आदि के शरीर में प्रवेश करता है उस समय उनके शरीर के अनुरूप हो जाता है। संकोच विकास स्वभाव वाला होने से अथवा मध्यम परिणामी होने से परन्तु जीवात्मा में किसी भी प्रकार का परिणाम नहीं होता है। जीवित काल में, जैसा कि तुम देख चुके हो, कारण-शरीर के सभी पदार्थ हृदयकाश के 'बीजकोश' में तथा पञ्चतन्मात्रिक मण्डल सहित मनोमय तथा विज्ञानमयकोश, ब्रह्मरन्ध्र में व्याप्त-से होकर रहते हैं। ❀सामने के चित्र संख्या २४ से यह सब दृश्य स्पष्ट हो जाता है।

विदेह मुक्ति--मोक्ष—इस समस्त साधना का अन्तिम फल 'मोक्ष' माना गया है। प्रत्येक आर्ष ग्रन्थ की यही मान्यता है कि इस त्रिविध-दुःख समुदाय की अत्यन्त निवृत्ति 'मोक्ष' है किन्तु इस मोक्ष के विषय में मान्यता-भेद है। उन भेदों को सार रूप से नीचे देते हैं :—

१. योग और सांख्य का मत है कि मोक्ष में 'जीवात्मा' का प्रकृति के कार्यरूप स्थूल-सूक्ष्म-कारण इन तीनों शरीरों से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, और वह स्वरूप में स्थित हो जाता है। **'ततः कृतार्थानां परिणामक्रम-समाप्तिर्गुणानाम्'** (योग० ४-३२)। अर्थात् यह 'अन्तःकरण' अपने कारण रूप त्रिगुण समुदाय में विलीन हो जाता है। तदुपरान्त पुरुष की कार्यसिद्धि करके ये गुण भी पुरुषार्थ शून्य होकर (योग ४-३४)*

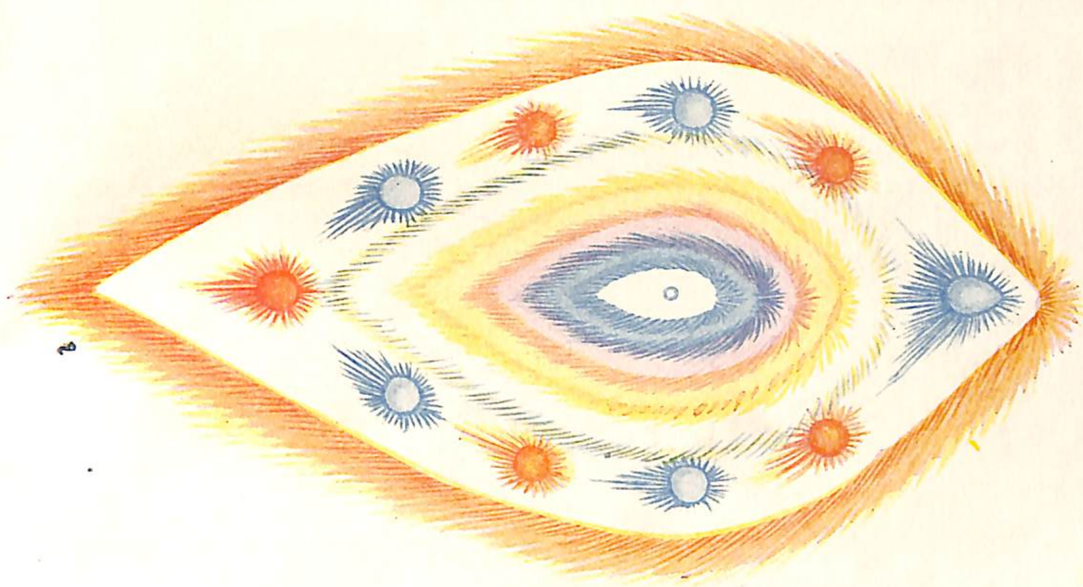
❀ चित्र संख्या २४ का विवरण—सूक्ष्म-शरीर व कारण शरीर का संयुक्त होकर परलोक गमनः—

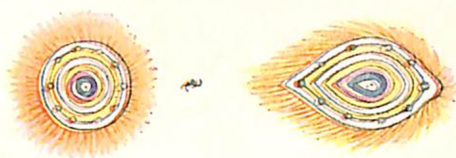
१. इस शंखाकार मण्डल के मध्य में श्वेतवर्ण के चित्त के मण्डल में अतिशुभ्र हीरक वर्णिका के आकार वाला जीवात्मा है। चित्त मण्डल के बाहर नीलाभवर्ण का अहंकार का मण्डल है। अहंकार के ऊपर गुलाबी वर्ण का सूक्ष्म प्राण का मण्डल है। सूक्ष्म प्राण के ऊपर पीतवर्ण का बुद्धि का मण्डल है। बुद्धि-मण्डल के ऊपर यह श्वेत वर्ण का मानस मण्डल है। मानस मण्डल के ऊपर नीलाभश्वेत वर्ण की ज्ञानेन्द्रियों, नारंगी वर्ण की कर्मेन्द्रियों के दश तारे से हैं। इन सब मण्डलों को अपने शंखाकार गर्भ में लिए हुए तेजोमय रश्मियों युक्त यह पंचतन्मात्रओं का कोश है ।

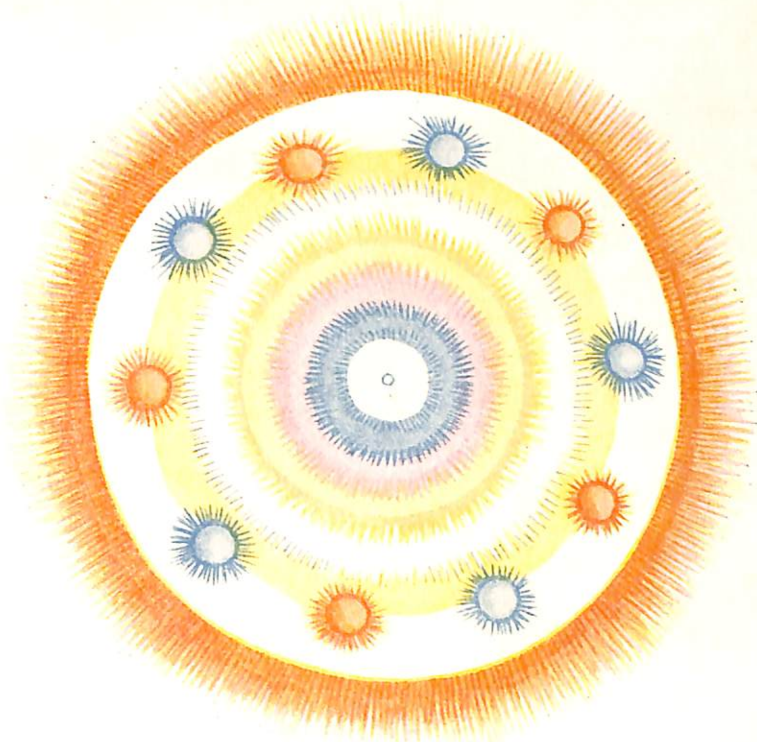
२. सूक्ष्म और कारण-शरीरों का संकोच-विकासीय स्वभाव होने से संकुचित अवस्था का भी यह एक दर्शन है। यदा-कदा यह अणु के समान भी हो जाता है, जिसे चित्रित नहीं किया जा सकता।

३. अंक १ के चित्र के समान ही इस तेजोमय रश्मियों युक्त सूर्याकार मण्डल में कारण व सूक्ष्म-शरीर के समस्त पदार्थ मण्डलाकार स्थिति में दिखाए गए हैं।

* पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। योग० ४। ३४।







चित्र संख्या २४

सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर का परलोक गमन

'स्वरूपस्थ पुरुष' के लिए अन्तःकरण की उत्पत्ति बंद कर देते हैं। 'पुरुष स्वरूपस्थ' होकर 'कैवल्य' प्राप्त करता है और 'अन्तःकरण' अपने कारण में विलीन हो जाता है।

२. श्री बादरायण (व्यास) महर्षि मोक्ष में सूक्ष्म शरीर का भाव और अभाव दोनों ही मानते हैं। जब आत्मा संकल्प करता है तब सूक्ष्म शरीर के मन, बुद्धि इन्द्रियाँ, 'भोग दान' के लिए उपस्थित हो जाते हैं और जब संकल्प नहीं करता तब इनका अभाव होता है।

३. श्री जैमिनि आचार्य सूक्ष्म शरीर के भाव का विद्यमान होना मानते हैं। इसके द्वारा दिव्य-विषयों का उपभोग किया जाता है।

४. श्री गौतम और कणाद महर्षि सूक्ष्म शरीर का अभाव मानते हैं अर्थात् मोक्ष में किसी प्रकार का भोग नहीं होता है।

५. श्री स्वामी शंकराचार्य कहते हैं कि समाधि सम्पन्न योगी सुषुम्ना-नाड़ी की रश्मियों के द्वारा 'ब्रह्मरन्ध्र' के द्वार से निकल कर 'अर्चि' आदि पर्व वाले 'देवयान' मार्ग से सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म लोक में पहुंच कर **'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति,'। (छां०अ०-८-६-६) ब्रह्म लोकमभि सम्पद्यते, न च पुनरावर्तते'** ब्रह्म ही हो जाता है।

६. वैष्णव सम्प्रदाय के प्रायः सभी आचार्य चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं--(१) सामीप्य-सेवक भाव से ईश्वर के समीप में रहना; (२) सारूप्य— ईश्वर के समान रूप वाला बन जाना; (३) सालोक्य— ईश्वर के लोक में सात्विक, राजस् और तामस् भेद से निवास करना; (४) सायुज्य— ईश्वर के स्वरूप में लीन हो जाना। ये मुक्तियाँ श्री बल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य आदि वैष्णवाचार्य मानते हैं।

७. श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज का सिद्धान्त—ये मोक्ष में सूक्ष्म संकल्पिक शरीर मानते हैं जिसके द्वारा दिव्य विषयों तथा ब्रह्मानन्द का उपभोग जीवात्मा करता है।

८. मोक्ष के विषय में कुछ आचार्यों की ऐसी भी मान्यतायें हैं:—

(क) जो उपासक इन्द्रियों को ही आत्मा मान कर उपासना या चिन्तन करते हैं, उनका भी मोक्ष हो जाता है। इनका व्यष्टि-इन्द्रियों के कारण रूप समष्टि इन्द्रियों में मोक्ष होता है। ये दस मन्वन्तर तक समष्टि इन्द्रियों में रह कर सुख भोग कर लौट आते हैं।

ख—जो पंच भूतों को आत्मा मान कर उपासना करने वाले हैं, उनका मोक्ष सूक्ष्म भूतों की कारणावस्था में होता है। ये सौ मन्वन्तरों तक सूक्ष्म भूतों का उपभोग कर पुनः संसार में लौट कर जन्म लेते हैं।

ग—अहंकार को आत्मा मान कर उपासना करने वाले उपासकों का मोक्ष समष्टि अहंकार में होता है। ये एक हजार मन्वन्तरों तक समष्टि अहंकार के सुख का उपभोग करके पुनः संसार में आकर जन्म लेते हैं।

घ—बुद्धि को आत्मा मान कर उपासना करने वाले महानुभावों का समष्टि-बिुद्धि में मोक्ष होता है। ये समष्टि-बुद्धि में १० हजार मन्वन्तरों तक बौद्धिक आनन्द का

उपभोग करके पुनर्जन्म लेते हैं। जो योगी प्रकृति को ही आत्मा वा ब्रह्म मानकर उपासना करते हैं, उन योगियों का मोक्ष कारण रूप प्रकृति की अव्यक्त अवस्था में होता है । वे सौ सहस्र मन्वन्तरों तक उस आनन्द का उपभोग कर पुनः जन्म के लिये संसार में आ जाते हैं।

ङ— जो योगी अपनी आत्मा को 'ब्रह्म' मान कर उपासना करते हैं उनके मोक्ष-काल की अवधि निश्चित नहीं है ।

च—जो योगी निराकार, निरवयव, सर्वव्यापी परिपूर्ण ब्रह्म की यथार्थ रूप से उपासना करते हैं; उनका पुनरागमन नहीं होता।

६ ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा प्रकृति एवं पुरुष के साक्षात्कार होने के अनन्तर जब परम-वैराग्यवान् योगी असम्प्रज्ञात-समाधि की अन्तिम अवस्था में स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों अथवा पञ्चकोशों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर देता है, तब वह अपने कैवल्य स्वरूप में अथवा ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है । यही कैवल्य या मोक्ष हमें अभीष्ट है। समस्त शरीरों का उपादान कारण प्रकृति ही है। यदि मोक्ष में सूक्ष्म शरीर का भाव मान लें तो प्रकृति के कार्य का सम्बन्ध तो मोक्षपर्यंन्त बना ही रहेगा, फिर तो बन्ध और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं रहता। फिर उपभोग के लिये 'करण' की अपेक्षा होती है। यदि दिव्य विषयों का उपभोग मान लें तो मुक्तात्माओं में 'करण' का भाव बना ही रहेगा जब कि मोक्ष में हम 'करण' का सर्वथा अभाव मानते हैं। मोक्ष को महा-पुरुषों ने सबसे उत्कृष्ट माना है। यथा'**उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः**'(सां०१-५) मोक्ष-कैवल्य में तो कैवल्य इस सार्थक नाम के अनुसार अपने स्वरूप मात्र में अवस्थित हो जाता है। उस समय आध्यात्मिक,आधिभौतिक, आधिदैविक, परिणाम, ताप, संस्कार इन सभी दुःखों का सर्वथा सर्वदा अभाव हो जाता है। इस विषय में शास्त्र और श्रुति स्वर्ण अक्षरों में स्पष्ट रूप से कह रहे हैं '**तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्गः**' (न्याय १-२२) '**अथ त्रिविध-दुःखात्यन्त,निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः**'' (सां०१-१) अर्थात् कैवल्य अवस्था में स्वरूप मात्र में स्थिति होती है, अन्य किसी प्रकार से सम्बध नहीं रहता है। यथा'**अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रियेस्पृशतः**' (छा० ८-१२-१) **एषास्य परमा गतिःएषास्य परमासम्पत्**' (वृ० ६-१०:२३) इन प्रामाणिक श्रुतियों में सर्व प्रकार के करणों का अभाव तथा सर्व प्रकार के प्रियाप्रिय दिव्य।दिव्य विषय सम्बन्धों का अभाव— निषेध प्रतिपादन किया है। स्वरूप स्थिति से कैवल्य स्वरूप में स्थिति अथवा ब्रह्म में स्थिति हो जाती है । यह आशय है अत एव दिव्य विषयों का उपभोग नहीं हो सकता। वहाँ आत्मा स्वरूपस्थ सत्-चित् आनन्द रूप में होता है। अत एव मुक्तात्मा को मोक्ष में अन्य किसी सापेक्ष आनन्द की आवश्यकता नहीं होती है ।

कुछ आचार्य जीवात्मा का स्वरूप सत्चित् ही मानते हैं। जीवात्मा का स्वरूप आनन्दरूप मानने में आपत्ति उठाते हैं कि यह जीव आनन्द की अभीप्सा करता है इस लिये इस का स्वरूप आनन्द नहीं है ?

विचारना यह है कि जीव सत् चित् अर्थात् तीनों कालों में एक रस रहने वाला है। फिर भी जीवन को सदा स्थाई रखने की इच्छा(प्रयत्न) करता ही रहता है और साथ ही

चित्त अर्थात् ज्ञानरूप होते हुए भी जीवन भर ज्ञानोपार्जन की इच्छा (प्रयत्न) करता रहता है। सत् और चित्त स्वरूप होते हुए भी इन की उपलब्धि की जिस प्रकार अभीप्सा करता रहता है, उसी प्रकार नित्य आनन्द रूप होते हुए भी यदि आनन्द की इच्छा करता है तो ठीक ही है। जीवात्मा जैसे सत् चित् रूप है वैसे ही आनन्द रूप भी है। विषयों के साथ सम्बन्ध होने से विषयों के आनन्द का अनुभव होता है। ब्रह्म के साथ सम्बन्ध करने से ब्रह्मानन्द अनुभव होता है। अत एव जीवात्मा नित्य स्वाभाविक ही सत् चित् आनन्द रूप है।

जीवात्मा को सत् चित्त आनन्द की अनुभूति होती है :—

सत्—विक्षेप-रहित समाहित स्थिति में अस्मि-अस्मि का धाराप्रवाह रूप से बोध होता रहता है। यह अस्मितानुगत समाधि जीवात्मा के सत् रूप स्वाभाविक सत्ता की बोधक है।

चित्त—चित्त में चेतन जीवात्मा के संयोग से उत्पन्न हुई ज्ञान एवं क्रिया (सूक्ष्म-प्राण) रूप दो शक्तियों का प्रवाह प्रतिक्षण अबाध रूप से अहर्निश होता ही रहता है। जो शरीर-त्रय और पंच कोशों के जीवन का मुख्य हेतु है। इस व्यापार का प्रत्यक्ष समाधि काल में होता है। यह व्यापार जड़ रूप चित्त की सत्ता से नहीं हो रहा है, अपितु जीवात्मा की स्वाभाविक चेतन रूप सत्ता से हो रहा है। यही जीवात्मा के चेतन स्वरूप स्वाभाविक सत्ता का बोधक है।

आनन्द—आनन्दानुगत समाधि में जब इन्द्रियों का बाह्य या स्मृतिजन्य किसी भी विषय से सम्बन्ध नहीं होता है तब निर्विषयक आनन्द की धारा का प्रवाह निरन्तर कई मिनट घण्टों या दिनों तक अभ्यासानुसार अबाध गति रूप से चलता है और अनिर्वचनीय शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है, यह जीवात्मा के आनन्दरूप स्वाभाविक सत्ता की बोधक है।

मोक्ष में यह सर्व व्यापक, सर्वाधार, निराकार, निरवयव परिपूर्ण ब्रह्म में अवस्थित होता है। इस मोक्ष की अवधि एक परान्तकाल (८६४००००००० × ३६०००) अर्थात् ३११०४०००००००००० (इकत्तीस नील दस खरब चालीस अरब) वर्ष होती है।

चतुर्युगी की गणना इस प्रकार है—४३ लाख २० हजार वर्षों की एक चतुर्युगी होती है, और ऐसी ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है। एक मन्वन्तर में ३०६७२०००० वर्ष होते हैं।

इति श्रीमदखण्ड ब्रह्मचारि योगिप्रवर श्री व्यासदेव महात्मप्रणीते
आत्म-विज्ञाने सु भाषा विभूषिते आनन्दमयकोशोनाम
पञ्चमोऽध्यायः सम्पूर्णः।

——

उपसंहार

'आत्म-विज्ञान' पूर्ण हो चुका, जिस सिद्धान्त का प्रस्तुत विज्ञान में प्रतिपादन किया गया है वह नितान्त नूतन नहीं है। 'आत्म-विज्ञान' का विषय इतना साधारण नहीं है जितना कि रोचक, सरल एवं भावात्मक शैली में जनता-जनार्दन के समक्ष प्रस्तुत करने का यह अपूर्व प्रयास किया गया है। भौतिक-विज्ञान में हम चाहें जितनी भी उन्नति कर लें किन्तु यदि आत्म-विज्ञान में पिछड़े रहेंगे तो आज का विश्वव्यापी हा हा कार क्रन्दन बढ़ता ही जायगा। वर्तमान में सच्ची सुख शान्ति की खोज का अवलम्बन खोखला है। सच्ची शान्ति तो मानव मात्र के हृदय में ही प्रच्छन्न—छिपी हुई है, जो कि राज-योग के द्वारा 'आत्म-विज्ञान' से प्राप्त हो सकती है। **'अयं तु परमो-धर्मो यद् योगेनात्म दर्शनम्'** (याज्ञ०)। प्रस्तुत विज्ञान के पृष्ठों में जिस अनुभूत विज्ञान का वर्णन किया गया है उसको विहङ्गम दृष्टि से समासेन यों कह सकते हैं :—

१. **अन्नमयकोश में**—स्थूल शरीर के अन्तर्गत ही अन्नमय तथा प्राणमयकोश हैं। स्थूल अङ्ग-प्रत्यङ्गों का विज्ञान हो जाने से राजयोग के साधक को उसकी वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। साधना की पृष्ठ-भूमि वैराग्य है। जिस शरीर से इतना अनुराग है उसके वास्तविक स्वरूप को जान कर ही उससे वैराग्य हो सकता है। अन्नमयकोश में रज और वीर्य के संयोग से उत्पद्यमान स्थूल-देह अन्न से ही पोषण पाता है। इस लिये इसे अन्नमयकोश कहा है। इसमें अन्तर्निहित समस्त इडा, पिंगला सुषुम्ना आदि नाड़ी तन्त्र का, समस्त स्थूल इन्द्रियों का ज्ञान और गति वाहक सूत्रों का, सप्त धातुओं एवं बिज्ञान के केन्द्र मस्तिष्क का, और आत्म-दर्शन के केन्द्र हृदय का सविस्तार वर्णन किया है, अन्नमयकोश में विद्यमान दस चक्रों एवं दिव्य ज्योतिर्मय कुण्डलिनी-शक्ति की उपासना और ज्ञान का वर्णन भी विस्तार पूर्वक किया गया है।

२. **प्राणमयकोश में**—प्राण की उत्पत्ति, लक्षण, रङ्ग-रूप, स्थान, कार्यरूप से भेद और व्यापारों का वर्णन भी विस्तार पूर्वक किया गया है। अन्नमयकोश व प्राणमयकोश स्थूल क्रियाओं के करने में परस्पर सम्बद्ध हैं।

३. **मनोमयकोश में**—अन्तःकरण चतुष्टय नामक संदर्भ है। इसमें यह दर्शाया गया है कि सृष्टि क्रम में हमारे स्थूल देह में रहने वाले मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त की उत्पत्ति कैसे हुई। इन चारों की सब वृत्तियों और व्यापारों का वर्णन भी यथेष्ट विस्तार से कर आए हैं।

मनोमयकोश में ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों एवं इनके सञ्चालक मन के स्वरूप का उत्पत्ति, लक्षण, परस्पर व्यापारों, विषयों और स्थान-विशेष का स्वानुभूत निरूपण किया गया है।

४. **विज्ञानमयकोश में**—ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन और इनकी नियंत्रिका (स्वामिनी) बुद्धि का स्वरूप, उत्पत्ति, लक्षण, स्थान का, निर्णयात्मक व्यापारों का, स्थूल, सूक्ष्मभूतों का, तन्मात्राओं का सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा विज्ञान एवं ऋतम्भरा में

प्रकृति-पुरुष विवेक **और** साक्षात्कार का प्रयोगात्मक ढंग से स्पष्टीकरण किया है। मनोमयकोश और विज्ञानमयकोश सूक्ष्म-शरीर के दो भाग सूक्ष्म-शरीर के अन्तर्गत ही हैं।

५. **आनन्दमयकोश में**—हृदय देशावाच्छिन्न ब्रह्म और प्रकृति के मण्डलों का सूक्ष्मप्राण, अहंकार, चित्त, जीवात्मा के मण्डलों का स्वरूप लक्षण, परस्पर भेद, स्थान और पारस्परिक सूक्ष्म व्यापारों का अनुभूत चित्रण किया है। इनके साक्षात्कार से पर-वैराग्य और मोक्ष प्राप्ति कां भी विस्तार से वर्णन किया है इस **'आत्मविज्ञान'** में—स्वानुभवों का प्रयोगात्मक समावेश है जिनको मैंने हिमालय के प्रदेश गंगोत्री के प्राङ्गण में की गई गहन साधना के द्वारा प्रत्यक्ष किया है। इस साधना और पुस्तक लिखने के प्रयत्न को मैं तभी सार्थक समझूंगा जबकि इस परम गुह्य आत्मबिज्ञान के रहस्यों का साक्षात्कार करने की जिज्ञासा पाठकों और साधकों के हृदय में जाग उठे।

भगवान् द्वारा प्रदत्त यह दुर्लभ मानव जीवन विषय भोगों के अर्जनार्थ ही नहीं मिला है अपितु अष्टाङ्ग योग प्रतिपादित राजयोग द्वारा आत्मविज्ञान वा आत्मदर्शन के सदुपयोगार्थ ही प्रदान किया गया है। यथा**'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विज सत्तमः योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति'** अर्थात् हे साधक सर्व प्रकार के यज्ञादि कर्म को त्याग कर योग्याभ्यास में रत होकर पूर्ण शान्ति के द्वारा परम ब्रह्म को प्राप्त करो। अन्यच्च **'योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्, प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति'** अर्थात् योग की अग्नि शीघ्र ही सम्पूर्ण पाप को ध्वस्त कर देती है। सम्यक् विज्ञान हो जाने पर मोक्ष को प्राप्त करता है।

परमपिता परमात्मन् ! अज्ञामान्धकार से उद्धारक !! स्वामिन् !!! अपनी ज्योतियों की ज्योति ज्ञानज्योति से आत्मविज्ञान का सत्पथ आलोकित करके अपनों को अमृतमय मोक्ष प्रदान कीजिए।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—इति श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्याणां श्री परमानन्दा—
बधूत-स्वामिनां तथा ब्रह्मलीन-योग-पुरुषाणां
श्री ब्रह्मानन्द स्वामिनां शिष्येण
योगिप्रवरेण श्री मद् व्यासदेवेनाखण्ड ब्रह्मचारिणा
प्रणीतः सुप्रमाणः साक्षात्कृत
आत्म विज्ञानो नामायं ग्रन्थः
सम्पूर्तिमगमत्

——

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२१	व्राह्मी	ब्राह्मी
	२७	जिज्ञासा	जिज्ञासा
७	१६	पर्वंत	पर्वत
८	१	अपूर्वँ	अपूर्वं
	१२	पीछ	पीछे
	३६	तव	तब
९	१३	निर्दंश	निर्देश
१०	२	या	व
१३	२६	संक्षिप्त	संक्षिप्त ❀
	२७	मात्रऔर	मात्र और
	३६	पूरे विवरण...देखो X	पूरे विवरण...'बहिरङ्ग योग' देखो
१४	१२	हों	हो
	१४	हैं	है
	२५	संयोग	संयोग
१५	१	कारण	करण
१६	२	धारणास	धारणासु
	२९	मह--	महा--
१९	२	की	बुद्धि की
२८	५	पर	पैर
३	४	सवत्र	सर्वत्र
३१	२९	टी	छोटी
३२	१७,३१,२८	परिवतन,चित्र,इच	परिवर्तन, * चित्र, इंच
३६	३०	झाडी	झाड़ी
३८	२२	अन्यान्व	अन्यान्य
५०	१८	पिंगल	पिंगला
५१	२८	मे	में
५५	२६	फैके	फैंके
५८	३	ससार	संसार
५८,६४	१७,८	पिन्ड	पिण्ड
५८,६४	२३,७	मन्डल	मण्डल
५९	१	मे	में
६०	१४,२२,३०	पर, दवाकर,को	पैर, दबाकर, की
६२	३६	व्रह्मा	ब्रह्मा

६४	१८	५	❀ ५
	३६	चित्र सं०५ ❀ तांत्रिक ग्रन्थों में कथित सुषम्ना नाड़ी में चक्रों का दर्शन ।	
६६	११	जव	जब
	२५	कहटे	कहते
६८	८	किंच	किंच
	२६	होता	नहीं होता
६९	२२,३६	जसी, पदार्थो	जैसी, पदार्थों
७१	३६	जब	जब इस प्रदेश
७६	२४	र	पर
७७	११	श्रत	श्रुत
८४	२६	अ्रश	अ्रंश
८५	२७	दो ों	दोनों
९४	३४	पदार्थो	पदार्थों
१०५	१९	सदागति	सदागतिशील
१०७	६,१९,२०	ाज्ञान,मिद्यमान्धर्मीं	ज्ञान, विद्यमान्, धर्मी
१०९	२४	कार्मं	कर्मं
११८	६	वन्डल, Venticuler	बण्डल, Venticular
	२७	पालिंश	पालिश
११९	२९	रूह	रूप
१२०	२	करो	करने
१२०	३४	सरक्षरण	संरक्षरण
१२२	२२	रूह	रूप
१२८	६	कर कर	कर
१२९	३२	तेः	
१३०	९,२१	हादि, दुस्करतम	हानि, दुषकरतम
१३१	३	व्थापार	व्यापार
१३८	४	हाता	होता
१४२	१७	में वर्णन	वर्णन
१४३	३६	हैं	है
१४६	३	मलत्या	मलत्याग
१६३	३०	धिषय	विषय
१६४	२३	हीय ह	ही यह
१६९	२९	भंत	भूंत
१७०	८	वुद्धि	बुद्धि
१७२	१५,३४,३५	केगर्भ,पदार्थो,निर्माण;	के गर्भ, पदार्थों,निर्माण
१७३	२०	बाली	वाली
	२८	भ	भी

१७५	१	एक	का एक
	२	त्र्यणुकों	त्र्यणुक
	३	बनया	बनता
	५	मेंहैं	हैं
	१६	परिणामों	परिणामों
१७६	२८	त्रसरेण	त्रसरेणु
१७७	१२	सँखियाँ	संखिया
१७८	३	हो	हो
१८१	७	भेदौं	भेदों
	१०	वर्णन	वर्णन
	१६	कर्म	कर्म
१८१, १८३	१७-३०	धर्म	धर्म
१८३	१६	सत्त्ब	सत्त्व
	२६	पदार्थो	पदार्थों
१८४	८	बाद	बाद
१९१	५	परज्ञांन	परिज्ञान
	१०	जीड्	जोड
१९४	३६	सत्त्ब	सत्त्व
१९५	३५	का	को
१९७	३	. शरीर, व्रह्म	, शरीर, ब्रह्म
१९८	३	स्यबध	स्तबध
१९९	६	बिद्या	विद्या
२००	२६	अंश	अंश
	३२	तये	तयँ
२०१	२४	बुाद्ध	बुद्धि
२०३	१०	इन्द्रियो	इन्द्रियों
	३४	मण्डलौं	मण्डलों
२०४	११-१६-२७	अच्छा, केबली, जाता	इच्छा, केवली, हो जाता
२०५-२०६	२०-१४-२४	पृष्ठि, व्रह्म, जव	पुष्टि, ब्रह्म, जब
२०७	२३	मया	महा
२११	१२	इसलि	इसलिये
२१४	१६	जलता	जुलता
२१८	१७	वीज	बीज
२२५	११	जसी	जैसी
२२७	२६	आनदमय	आनन्दमय
२३१	२५	दय	हृदय
२३४	३-२१	देब, अबस्था	देव, अवस्था
२६५	२७	निबृत्त	निवृत्त

गंगोत्तरी के महान् सन्त, ब्रह्मज्ञानी
योगाचार्य्य श्री स्वामी यौगेश्वरानन्द जी महाराज
(भूतपूर्व बालब्रह्मचारी श्री व्यासदेव जी) के रचित

अन्य ग्रन्थ

बहिरंग योग (हिन्दी)

पतंजलि योग शास्त्र के यम्, नियम्, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार अंगों की विशद और अपूर्व व्याख्या। आसनों आदि के ३२५ चित्र आर्ट पेपर पर। ३०० से ऊपर बड़े आकार के पृष्ठ, सुन्दर कपड़े की जिल्द

मूल्य १०) रुपये

ब्रह्म-विज्ञान (हिन्दी)

यह पूज्यपाद स्वामी जी महाराज की नवीन कृति है और ब्रह्म दर्शन की प्रक्रिया और जीवन को कृत्य-कृत्य करने का साधन है। सम्पूर्ण सृष्टि का विज्ञान भी इसीमें वर्णन किया है। १८ बहुरंगे चित्र आर्ट पेपर पर हैं, सुन्दर कपड़े की ज़िल्द पृष्ठ ५०० से ऊपर।

मूल्य १४) रुपए

डाक व्यय पृथक

तीनों (बहिरङ्ग योग, आत्मविज्ञान, व ब्रह्मविज्ञान) पुस्तकें एक साथ मँगवाने पर डाक व्यय नहीं होगा।

योग निकेतन ट्रस्ट

पो० ओ० स्वर्गाश्रम
ऋषिकेश (जि० देहरादून)—भारत